

बी.कॉम.(प्रोग्राम)

सेमेस्टर-III/IV

हिंदी

आधुनिक भारतीय भाषा
हिंदी गद्य : उद्भव और विकास (हिंदी-ख)

अध्ययन-सामग्री : इकाई (1-4)



मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

हिंदी-विभाग

संपादक : डॉ. सुधीर कुमार शर्मा

स्नातक पाठ्यक्रम

आधुनिक भारतीय भाषा हिंदी गद्य : उद्भव और विकास (हिंदी-ख) अध्ययन-सामग्री: इकाई (1-4)

अनुक्रम

इकाई-1	1. हिंदी गद्य : उद्भव और विकास 2. हिंदी गद्य के विभिन्न रूपों का परिचय 3. आत्मकथा, यात्रा साहित्य, रेखाचित्र, व्यंग्य, संस्मरण	(स्व.) डॉ. श्रीनिवास शर्मा डॉ. विजयबाला तिवारी डॉ. मंजुला मोहन डॉ. बृज किशोर वशिष्ठ
इकाई-2	1. नमक का दारोगा (प्रेमचंद) 2. गुंडा (जयशंकर प्रसाद) 3. पक्षी और दीमक (मुक्तिबोध)	डॉ. विजयबाला तिवारी डॉ. भवानी दास डॉ. राजहंस कुमार
इकाई-3	1. निबंध : ईमानदारी (बालकृष्ण भट्ट) 2. वैष्णवता और भारतवर्ष (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) 3. 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'? (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)	डॉ. राजकुमारी शर्मा डॉ. रणजीत यादव डॉ. हिमांशी श्रीवास्तव
इकाई-4	1. अंधेर नगरी (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) 2. 'बिबिया' (महादेवी वर्मा)	डॉ. सत्येन्द्र तनेजा डॉ. हरीश अरोड़ा

सम्पादक

डॉ. सुधीर कुमार शर्मा



मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, केवेलरी लेन, दिल्ली-110007

1. हिन्दी गद्य का उद्भव और विकास

खड़ी बोली गद्य का उद्भव और विकास

(स्व.) डॉ. श्रीनिवास शर्मा
मुक्त शिक्षा विद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय

रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल को 'गद्यकाल' की संज्ञा दी है। अंग्रेजों के भारत आगमन और शिक्षा के प्रसार के साथ खड़ी बोली गद्य का विकास हुआ। खड़ी बोली-साहित्य की सूचना तेरहवीं शताब्दी में मिलती है यद्यपि इससे पहले भी इसके पूर्व रूप के कुछ लक्षण मिलते हैं। मध्यकाल में ब्रजभाषा गद्य के दर्शन होते हैं, किन्तु खड़ी बोली के गद्य के भी कुछ पुराने उदाहरण विद्वानों ने खोज निकाले हैं। नाथ-सिद्धों और निरंजनी संप्रदाय के साधुओं से प्राप्त कई रचनाओं में खड़ी बोली गद्य के प्रारंभिक रूप को आँकने का प्रयास हुआ है। इस दृष्टि से कुछ विद्वान् गोरखनाथ के 'सिष्ट प्रमाण' जैसे ग्रन्थों में गद्य के प्रारम्भिक रूप को स्वीकार करते हैं। 'महादेव गोरखगुप्ति', 'अभै मात्रा जोग' आदि ग्रन्थों में खड़ी बोली के शब्दों और शैली को देखा जा सकता है। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा गद्य की रचनाएँ ही मिलती हैं। तदनन्तर संवत् 1768 में लिखा हुआ रामप्रसाद निरंजनी का, 'भाषा योग-वशिष्ट' ग्रंथ मिलता है जिसकी भाषा 'साफ-सुथरी खड़ी बोली' है। इसकी भाषा को देखकर शुक्ल जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि मुंशी सदासुखलाल और लल्लूलाल से 62 वर्ष पहले ही खड़ी बोली का गद्य अत्यधिक पुष्ट और परिमार्जित था। इसके पश्चात् सन् 1766 ई० में दौलतराम जैन ने रविषेणाचार्य कृत 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद प्रस्तुत किया। इसकी भाषा का नमूना इस प्रकार है: 'कैसे हैं श्रीराम, लक्ष्मी पर आलिंगित हैं, हृदय जिनका और प्रफुल्लित है। मुख रूपी कमल जिनका महापुण्याधिकारी है, महाबुद्धिमान् है ऐसे जो श्री रामचन्द्र उनका चरित्र श्री गदाधरदेव ही किंचित् मात्र कहने को समर्थ है।'

इस विवरण से स्पष्ट है कि खड़ी बोली का गद्य प्राचीन काल से ही स्वाभाविक रूप से ही जनता के बीच विकसित होता रहा है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि मुसलमानों के अथवा अंग्रेजों के आने से उसका विकास हुआ। यह बात ठीक है कि मुसलमानों और अंग्रेजों के आने से जो परिस्थितियाँ बनीं उसमें खड़ी बोली को निरंतर महत्त्व मिलता गया। किन्तु खड़ी बोली का गद्य-स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ है। फिर भी खड़ी बोली के गद्य के विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज, ईसाई मिशनरियों, प्रेस और समाचार-पत्रों का भी कम योगदान नहीं है।

फोर्ट विलियम कॉलेज

1800 ई० में अंग्रेजों ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की और संस्कृत, अरबी, फारसी की शिक्षा के साथ-साथ हिन्दुस्तानी आदि में पुस्तकें लिखाने का कार्य प्रारंभ किया। गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानी के अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। उन्होंने हिन्दुस्तानी के अंतर्गत उर्दू को विशेष महत्त्व दिया किन्तु बाद में विलियम क्राइस ने उर्दू के स्थान पर हिन्दी को प्रमुखता दी और इस पर हिन्दी को महत्त्व मिला। फलतः

भाषा (हिन्दी) में पुस्तकें तैयार करने की योजनाएँ बनीं। इसके अंतर्गत लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। लल्लूलाल (सन् 1756-1825) ने लगभग 11 कृतियाँ लिखी हैं-पर हिन्दी गद्य की दृष्टि से 'प्रेमसागर' का ही विशेष महत्त्व है। इसकी भाषा का एक नमूना प्रस्तुत है: "महाराज! जिस काल-बाला बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छविहीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अंधेरी फीकी लगने लगी, उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी कैचली छोड़ सटप गई, भौंह की बंकाई निरख धनुष धकधकाने लगा, आँखों की बड़ाई चंचलई देख मृग, मीन, खंजन सिखाय रहे।" सदल मिश्र (1746-1828 ई.) ने 'चंद्रावती' और 'रामचरित्र' भी लिखे हैं पर उनकी कीर्ति का आधार 'नासिकेतोपाख्यान' ही है। इसकी भाषा संस्कृत-गर्भित है और उस पर ब्रज और भोजपुरी का रंग चढ़ा हुआ है।

फोर्ट विलियम कॉलेज के बाहर भी खड़ी बोली में गद्य-रचना होती रही, इस प्रकार आश्रय में रहे बिना जो लोग इस प्रकार खड़ी बोली के गद्य की श्रीवृद्धि में लगे थे, उनमें मुंशी सदासुखलाल (1746-1824) तथा इंशाअल्ला खाँ उल्लेखनीय हैं। सदासुख लाल ने 'सुखसागर' की रचना की। उनकी भाषा कथावाचकों की भाषा में मिलती-जुलती है जैसे, 'जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए।' उनकी तुलना में इंशाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखकर प्रौढ़ भाषा का उदाहरण प्रस्तुत किया।

ईसाई प्रचारक और खड़ी बोली गद्य

फोर्ट विलियम राजकाज के लिए हिन्दी गद्य का विकास करा रहा था तो ईसाई मिशनरी धर्म-प्रचार के लिए गद्य निर्माण में योग दे रहे थे। 1766 में पहला ईसाई प्रचार केन्द्र कलकत्ते के पास श्रीरामपुर में स्थापित हुआ। उसके बाद उनका ताँता लग गया। 1811 में बाइबिल का हिन्दी अनुवाद छपा। ईसाइयों ने शुद्ध हिन्दी को प्रश्रय दिया। बाइबिल के चौथे संस्करण की भूमिका में स्पष्ट लिखा गया है कि 'हम हिन्दुस्तानी की उस बोली को हिन्दुई या हिन्दी समझते हैं जो मुख्यतः संस्कृत से बनी है और मुसलमानों के आने से पहले सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में बोली जाती थी।' इससे स्पष्ट है कि किस प्रकार अंग्रेजों को यह स्पष्ट हो गया कि भारत की जनभाषा उर्दू नहीं हिन्दी ही है। इनकी भाषा का उदाहरण द्रष्टव्य है:-

"जब यह नाव बन चुकी तो ईश्वर ने उसे आज्ञा की कि तुम अपने कुटुम्ब को अर्थात् आठ जने तुम्हारी स्त्री, तुम्हारे तीनौ पुत्र और उनकी स्त्रियों और एक-एक जोड़ा सब जीवों का इसमें रख कै बचाओ। जब ये सब इनमें बैठ चुके, तब बड़े-बड़े सोन पृथ्वी से आगे और आकाश से मेह, मूसलाधार चालीस दिन और रात लगातार बरसता रहा, जब तक सबसे बड़े पहाड़ जल में न डूबे और सब जीव जन्तु न मरे। तिस पीछे ईश्वर प्रसन्न हुए, मेह थमा और जल अपने ठिकाने सिर लगा और नूह ने अपने कुटुम्ब समेत उसमें से निकल पृथ्वी पर आ ईश्वर के निमित्त बलिदान दिया।"

आर्य समाज

ईसाइयों के धर्म-प्रचार के समान्तर हिन्दू जनता के बीच आर्य समाज ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। स्वामी दयानंद ने 1874 में अपना धर्मग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखा और उनकी प्रेरणा से आर्य समाज ने हिन्दी के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

किन्तु इसके बावजूद भी इन सबकी भूमिका सीमित ही रही है। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में इन “आन्दोलनों का इतिवृत्त पढ़कर यह निष्कर्ष निकलता है कि अभी तक हिन्दी गद्य के स्वरूप-निर्माण एवं विकास के दो स्वरूप थे। एक तो फोर्ट विलियम कॉलेज तथा दूसरा धार्मिक संस्थाएँ। अंग्रेजों की हिन्दी सम्बन्धी नीति भिन्न थी अतः फोर्ट विलियम कॉलेज से संबंधित पंडितों द्वारा हिन्दी गद्य को अपेक्षित शक्ति न मिल सकी। धार्मिक संस्थाओं को जनता के निकट अपना प्रचार अभीप्सित था। अतः वहाँ भी हिन्दी गद्य में न स्थिरता आई और न प्रौढ़ता। ईसाई प्रचारकों की शैली ग्रामीण तत्त्व लिये हुए थी और आर्य समाज के ग्रन्थ संस्कृतनिष्ठ थे। उधर स्वतन्त्र गद्य परम्परा जो रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुख आदि द्वारा प्रचलित हुई थी, अपना स्वरूप-विकास अनुकूल वातावरण के अभाव में न कर सकी।”

भारत में अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया था। वे अपनी भाषा और संस्कृति का प्रचार चाहते थे। मुसलमान जनता उर्दू एवं फारसी की पक्षपाती थी। अतः हिन्दी गद्य को केवल जनबल का सहारा था। भाषा के विकास में इस दृष्टि से उस समय तीन माध्यम प्रगतिशील रहे: (क) शिक्षा संस्थाएँ, (ख) समाचार-पत्र, (ग) कचहरियाँ।

खड़ी बोली गद्य के प्रसार में शिक्षा संस्थाओं, कचहरियों और पत्र-पत्रिकाओं का भी योगदान रहा है। शिक्षा संस्थाओं के लिए अनेक पाठ्य पुस्तकें लिखी गईं। इसके अतिरिक्त 1803 ई. में सरकार की ओर से यह घोषणा हुई कि सब इश्तहारनामे नागरी भाषा और लिपि में लगाये जायें तो इससे भी कचहरियों से फारसी और उर्दू का प्रभाव खत्म हुआ और अदालती काम देश की प्रचलित भाषा में होने लगा। प्रेसों की स्थापना के साथ कई पत्र प्रकाशित होने शुरू हुए। 1826 ई० में जुगलकिशोर सुकुल के सम्पादन में हिन्दी का पहला पत्र ‘उद्दत्त मार्तंड’ प्रकाशित हुआ। इसके बाद ‘बंगदूत’ (1829) ‘जगत् दीपक भास्कर’ (1846), ‘बनारस अखबार’ (1850) ‘सुधाकर’ (1850) प्रकाशित हुए। 1854 ई० में हिन्दी का पहला दैनिक ‘समाचार सुधा वर्णन’ कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। इन सब पत्रों के माध्यम से हिन्दी गद्य के स्वरूप को लेकर विवाद उठ खड़े हुए। एक वर्ग संस्कृत-प्रधान भाषा के पक्ष में था, दूसरा उर्दू-बहुल भाषा के। एक के नेता राजा लक्ष्मणसिंह थे और दूसरे के राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द। इस विवाद से आगे चलकर खड़ी बोली गद्य को एक विशिष्ट दिशा और दृष्टि ही मिली। वस्तुतः हिन्दी गद्य को उभरने के लिए बहुत बड़ा संघर्ष करना पड़ा। एक तो शासक वर्ग ने उसे उचित प्रोत्साहन नहीं दिया; दूसरे उसे उर्दू के कारण बहुत सा विरोध सहना पड़ा। इसका एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि हिन्दी उर्दू से एक पृथक् भाषा के रूप में जानी जाने लगी। सरकारी नीति और विरोधियों की चिन्ता न करते हुए हिन्दी स्वाभाविक रूप से विकसित होने लगी। इस प्रकार खड़ी बोली के गद्य के विकास में तत्कालीन आवश्यकताएँ और अपेक्षाओं का बहुत बड़ा हाथ है। फिर भी भारतेन्दु से पूर्व उसे इच्छित व्यवस्थित स्वरूप नहीं मिल पाया था। भारतेन्दु-युग के साथ ही हिन्दी गद्य एक नई भूमि पर पाँव रखती है।

2. हिन्दी गद्य के विभिन्न रूपों का परिचय

डॉ. विजयबाला तिवारी
डॉ. मंजुला मोहन
पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

गद्य की प्रतिष्ठा का युग (1874-1900)

भारतेन्दु से पूर्व का काल गद्य के स्थिर हो जाने का युग था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850-1885) के नेतृत्व में हिन्दी गद्य में नया निखार आया और उसकी कई विधाएँ विकसित हुईं। इससे पूर्व साहित्य के नाम पर हिन्दी में केवल काव्य की सम्पदा मात्र थी। भारतेन्दु-युग में गद्य की विविध विधाओं-कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि-में रचना होने लगी, साथ ही इतिहास, भूगोल, धर्म, पुराण, जीवनी, यात्रा, गणित, राजनीति जैसे बहुमुखी विषयों को लेकर भी लेखन होने लगा। भारतेन्दु ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्वयं तीन पत्रिकाएँ- 'कवि-वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' निकाली थीं और उसे 'गद्यपद्यम्य काव्य, प्राचीन वृत, राज्य संबंधी विषय, नाटक, विद्या और कला पर लेख, लोकोक्ति, इतिहास, परिहास, गद्य और समालोचना, सभी से संभूषित किया था। भारतेन्दु काव्य के क्षेत्र में भले ही परम्परावादी रहे हों पर गद्य के क्षेत्र में वे नितान्त आधुनिक थे। इसके अतिरिक्त उनका व्यक्तित्व इतना समर्थ था कि अनेक लेखक उनके चारों ओर एकत्र हो गए थे। इनमें लाला श्रीनिवासदास (1851-1887), बालकृष्ण भट्ट (1844-1914), प्रतापनारायण मिश्र (1856-1914), राधाकृष्णदास (1865-1907) कार्तिक प्रसाद खत्री (1851-1904), बदरीनारायण चौधरी प्रेमधन (1855-1923), राधाकृष्ण गोस्वामी (1851-1925), बालमुकुन्द गुप्त (1862-1907), किशोरीलाल गोस्वामी (1865-1932), देवकी नन्दन खत्री (1861-1932), अम्बिकादत्त व्यास (1858-1900) आदि उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने गद्य की अनेक विधाओं को समृद्ध किया। किन्तु युग की आवश्यकताओं के कारण संभवतः इस काल के लेखकों ने अपनी बात को कहने के लिए चुना।

आधुनिक काल: हिन्दी गद्य का परिचयात्मक इतिहास

उपन्यास

भारतेन्दु युग-हिन्दी में भारतेन्दु से पूर्व जो कथात्मक पुस्तकें लिखी गयीं, वे आधुनिक उपन्यास और कहानी से मिलती-जुलती होने पर भी उनसे भिन्न थीं। वास्तव में उपन्यास और कहानी पश्चिमी साहित्य की देन हैं। भारतेन्दु-युग में जो उपन्यास लिखे गये, उनमें उपन्यास विद्या का उचित निर्वाह न होने के कारण उन्हें सच्चा उपन्यास नहीं कहा जा सकता है। सच तो यह है कि हिन्दी में वास्तविक उपन्यास की रचना सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही की। यों, ऐतिहासिक दृष्टि से लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा-गुरु' (1882 ई.) ही हिन्दी

का पहला उपन्यास माना जाता है। यह पश्चिमी उपन्यास की शैली पर आधारित है और यथार्थ जीवन का चित्र भी प्रस्तुत करता है, परन्तु कला की दृष्टि से बहुत अपरिपक्व है। इसमें उपदेश की प्रवृत्ति प्रधान है।

‘परीक्षा-गुरु’ के पूर्व भी ‘देवरानी-जेठानी’ (1872 ई.) ‘रीति-रत्नाकर’, ‘वामा शिक्षक’, ‘भाग्यवती’ आदि कुछ उपन्यास जैसी कथा-पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं परन्तु वे भी मुख्यतः शिक्षात्मक तथा अपरिपक्व हैं। भारतेन्दु ने भी 1866 ई. में कहानी ‘कुछ आप बीती कुछ जग बीती’ लिखने का यत्न किया था और ‘चन्द्र प्रभा और पूर्ण प्रकाश’ शीर्षक मराठी व संशोधन भी किया था। उनकी प्रेरणा से राधा चरण गोस्वामी, गदाधर सिंह, राधाकृष्णदास, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने बंगला के बहुत से उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया और मौलिक उपन्यास भी लिखे। इन लेखकों के अतिरिक्त बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा आदि और भी कई लेखकों ने बंगला उपन्यासों का अनुवाद किया। अंग्रेजी से भी कुछ उपन्यासों का अनुवाद हुआ।

भारतेन्दु काल के मौलिक कथा-ग्रन्थों और उपन्यासों में महत्त्वपूर्ण हैं-ठाकुर जगमोहन सिंह का ‘श्याम स्वप्न’ (काव्यात्मक गद्य-कथा), पं. बालकृष्ण भट्ट रचित ‘नूतन ब्रह्मचारी’ तथा ‘सौ अजान और एक सुजान’ किशोरी लाल गोस्वामी का ‘स्वर्गीय कुसुम’, राधाचरण गोस्वामी का ‘विधवा-विपत्ति’, राधाकृष्ण दास का ‘निस्सहाय हिन्दू’, अयोध्यासिंह उपाध्याय का ‘प्रेमकांता’ और रत्नचंद प्लीडर प्रणीत ‘नूतन चरित्र’। ये सभी उपन्यास प्रायः सोदेश्य तथा शिक्षाप्रद हैं, पर कला की दृष्टि से दुर्बल हैं। इनमें परिवार और समाज का साधारणतः अच्छा अंकन हुआ है। उच्च चरित्र, वीरता तथा प्रेम की कथा प्रस्तुत करने वाले कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये, परन्तु उनमें इतिहास के तथ्यों का ठीक निर्वाह नहीं हुआ है।

द्विवेदी युग-द्विवेदी युग में भी मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के उपन्यासों का प्रकाशन हुआ। इस समय अधिकतर तिलस्म, ऐयारी, जासूसी और रोमांस के कथानक प्रस्तुत किए गए। उपन्यास घटना-प्रधान बना रहा। अंग्रेजी में भी साहसिक, जासूसी तथा प्रेमचर्या-प्रधान उपन्यासों का अनुवाद हुआ। इस युग के तीन उपन्यासकार बहुत प्रसिद्ध हैं-देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी। **खत्री जी** ने ‘चन्द्रकांता’, ‘चन्द्रकांता संतति’ तथा ‘भूतनाथ’ नामक तिलस्म और ऐयारी के रोचक उपन्यास कई भागों में प्रकाशित किए। इन उपन्यासों के पहले भी भारतेन्दु काल में उन्होंने ‘नरेन्द्रमोहनी’, ‘वीरेन्द्र वीर’ आदि उपन्यास लिखे थे। हरेकृष्ण जोहरी आदि कई लेखकों ने उनके अनुकरण पर तिलस्मी उपन्यास लिखे। बहुत लोगों ने उनके मनोरंजक उपन्यास पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी।

किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। गोस्वामी जी के सामाजिक उपन्यास वस्तुतः नाम के ही सामाजिक हैं। उनमें समाज की बहुत ही स्थूल और ऊपरी झलक है, यथार्थ चित्रण नहीं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के तथ्यों का उचित निर्वाह नहीं हुआ। देशकाल का भी ध्यान उन्होंने कहीं-कहीं नहीं रखा। कुछ उपन्यासों में समाज की कुरीतियों पर प्रहार करने का यत्न किया गया और यत्र-तत्र राष्ट्र-प्रेम की भावना भी है। परन्तु गोस्वामी जी के अधिकांश उपन्यास उत्तेजक शृंगार से युक्त हल्के मनोरंजन के साधन हैं। गोस्वामी जी ने लगभग पैंसठ उपन्यास लिखे हैं। उनमें कुछ उपन्यासों के नाम हैं ‘कुसुमकुमारी’, ‘हृदयहारिणी’, ‘लबंगलता’, ‘रजिया बेगम’, ‘तारा’, ‘कनक कुसुम’, ‘मल्लिका देवी’, ‘राजकुमारी’, ‘लखनऊ की कब्र’, ‘चपला’, ‘प्रेममयी’। जैसा कि नामों में प्रकट है ये उपन्यास नारी-प्रधान और शृंगारिक हैं। वास्तव में उनमें समाज और इतिहास के संदर्भ में कामुकता तथा विलासिता का अंकन हुआ है। उन्होंने ‘उपन्यास’ नामक पत्रिका भी निकाली थी जिसमें उनके पैंसठ छोटे-बड़े उपन्यास प्रकाशित

हुए थे। आचार्य शुक्ल ने गोस्वामी जी के सम्बन्ध में लिखा है कि 'इस द्वितीय उत्थानकाल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं, परन्तु वस्तुतः उपन्यासकार की सच्ची प्रतिभा इनमें भी नहीं है।'

गोपालराम गहमरी 'जासूस' नामक पत्रिका प्रकाशित करते थे, जिसमें उनके साठ के लगभग उपन्यास छपे। अंग्रेजी के जासूसी उपन्यासों के अनुकरण पर उन्होंने 'जासूस की भूल', 'घर का भेदी', 'अद्भुत खून', 'भोजपुर की ठगी', आदि रहस्यपूर्ण, साहसिक और डकैती तथा ठगी की कथाएँ निर्मित कीं। वैसे उन्होंने जासूसी उपन्यासों के क्षेत्र में भी आदर्श के निर्वाह और लोकोपकार की भावना के समावेश का यत्न किया और आदर्श जासूसों की सृष्टि की। गहमरी जी ने बंगला में गृहस्थ जीवन सम्बन्धी कुछ उपन्यासों का अनुवाद भी किया था।

दूसरी ओर द्विवेदी युग में कुछ ऐसे उपन्यासकार भी हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं में नैतिकता का ध्यान रखते हुए स्वच्छ-स्वस्थ सामग्री प्रस्तुत की। इस तरह के उपन्यासकारों में उल्लेखनीय हैं—हरिऔध, लज्जाराम मेहता और ब्रजनन्दन सहाय। हरिऔध जी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' लिखकर इनमें मुहावरेदार ठेठ भाषा का नमूना भी पेश किया। मेहता जी ने सुधारवादी दृष्टिकोण से 'आदर्श हिन्दू', 'आदर्शदम्पति' और 'हिन्दू गृहस्थ' आदि उपन्यास लिखे। ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' में काव्य का आनन्द मिलता है। स्पष्ट है कि गोस्वामी जी, गहमरी जी और खत्री जी के उपन्यासों में जहाँ स्थूल सौन्दर्य और उत्तेजक शृंगारिकता प्रस्तुत है वहाँ इन उपन्यासकारों के ग्रन्थ उपदेशात्मक भावना की छटा दिखाने वाले या काव्यात्मक हैं। मानव चरित्र और मानव जीवन के सच्चे चित्रण और उपन्यास-काल की पूर्णता की ओर इस समय तक किसी का भी यथोचित ध्यान नहीं गया था। इस काल में किशोरीलाल गोस्वामी के अतिरिक्त कुछ और लेखकों ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। इनमें उल्लेखनीय हैं—गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर पत्नी' और 'मिश्रबन्धुओं के विक्रमादित्य', 'चन्द्रगुप्त मौर्य' तथा 'पुष्य मित्र'।

द्विवेदी युग में भी अधिकतर साधारण जनता के मनोरंजन और मनोविनोद के लिए घटना प्रधान उपन्यास ही लिखे गये। उनमें कथा का रस तो है, किन्तु चरित्र-चित्रण का सौन्दर्य, समाज का सही अंकन और उपन्यास का परिपक्व शिल्प नहीं। इस समय के उपन्यासकारों को न तो मानव-जीवन का और न मानव-स्वभाव का सूक्ष्म एवं व्यापक ज्ञान था और न उपन्यास की कला से ही उनका अच्छा परिचय था। इस काल में अधिकतर प्रेमप्रधान, साहसिक तथा विस्मयकारक (तिलस्मी-जासूसी) उपन्यास ही लिखे गये। ऐतिहासिक, शिक्षात्मक और काव्यात्मक उपन्यास भी लिखे गये, परन्तु कम। पात्र अधिकतर सौंदर्य के प्रति आकर्षित होने वाले विलासी प्रेमी-प्रेमिका और राजकुमार-राजकुमारी हैं या फिर ऐय्यार तथा जासूस। इस काल के उपन्यास भारतेन्दु काल के उपन्यासों की अपेक्षा रोचक और मनोरंजक अधिक हैं। शिक्षा देने की प्रवृत्ति भी कम है। प्रतापनारायण मिश्र, गोपालराम गहमरी, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, हरिऔध, कार्तिकप्रसाद खत्री, रूपनारायण पाण्डेय, रामकृष्ण वर्मा आदि साहित्यकारों ने बंगला, अंग्रेजी और उर्दू आदि भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद किया। आचार्य शुक्ल का कथन है कि हिन्दी के मौलिक उपन्यास-सृजन पर इन अनुवाद कार्यों का अच्छा प्रभाव पड़ा और इसके कारण हिन्दी उपन्यास का आदर्श काफी ऊँचा हुआ।

प्रेमचन्द युग—द्विवेदी युग के अन्त तक (1917 ई. तक) हिन्दी के मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के उपन्यास काफी संख्या में लिखे जा चुके थे। मौलिक उपन्यास अनेक प्रकार के और अनेक विषयों पर थे। उपन्यास क्रमशः जीवन और समाज के निकट आ रहा था, परन्तु अब भी उसमें बहुत-सी, त्रुटियाँ थीं।

प्रेमचन्द के समय से विशेष कर उनके 'सेवासदन' के प्रकाशन काल (सन 1918 ई.) से हिन्दी-कथा साहित्य में एक नये युग का आरम्भ होता है। प्रेमचन्द ने ही उपन्यास में मानव मन का स्वाभाविक एवं सजीव अंकन आरम्भ किया। उन्होंने ही पहली बार हिन्दी उपन्यास में घटना और चरित्र का संतुलन स्थापित कर मनोविज्ञान का उचित समावेश किया। उन्होंने ही समाज की समस्याओं को सर्वप्रथम कथा-साहित्य में स्थापित किया। उन्होंने जीवन और जगत के विविध क्षेत्रों का, समाज के विभिन्न वर्गों का ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों की बहुत-सी दशाओं तथा परिस्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण कर व्यापक अनुभव प्राप्त किया था। मनोविज्ञान के वे पंडित थे। मानव-स्वभाव के विविध पक्षों से भली-भाँति परिचित थे। उपन्यास-कला का भी उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था। पश्चिम के ताल्सताय, दोस्तोवस्की, तुर्गनेव, गोर्की, अनातोले फ्रांस आदि महान् उपन्यासकारों की रचनाओं का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था।

प्रेमचन्द प्रारम्भ में उर्दू के लेखक थे और कहानियाँ लिखते थे। उर्दू में उनके कुछ उपन्यास भी प्रकाशित हुए थे। बाद में उन्होंने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया। उनके महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं-सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, गबन, कर्मभूमि, गोदान और मंगलसूत्र (अपूर्ण)। प्रेमचन्द उपन्यास को मनोरंजन की वस्तु नहीं मानते थे। वे अपने उपन्यासों द्वारा भारतीय जनता के जागरण और सुधार तथा निर्माण की भावना का प्रसार करना चाहते थे। प्रेमचन्द मानवतावादी सहृदय व्यक्ति थे। वे गरीबी में पले थे, गरीबों के दुःख-दर्द को समझते थे। समाज के निम्न वर्ग से उन्हें सहानुभूति थी। जीवन के अन्तिम समय में, जैसा कि उनके अन्तिम उपन्यासों ('गोदान' और 'मंगलसूत्र') से प्रकट है, उनका झुकाव साम्यवाद की ओर हो गया था और वे सच्चे अर्थ में यथार्थवादी और प्रगतिशील हो गये थे। अपनी पुस्तकों में प्रेमचन्द ने किसानों की आर्थिक दशा, जमींदारों और पुलिस के अत्याचारों, ग्रामीण जीवन की कमजोरियों, समाज की कुरीतियों, शहरी समाज की कमियों, विधवाओं और वेश्याओं की समस्याओं, नारी की आभूषणप्रियता, मध्यवर्ग की झूठी शान और दिखावे की प्रवृत्ति, सम्मिलित हिन्दू-परिवार में नारी की दयनीय स्थिति आदि प्रश्नों और पक्षों पर प्रकाश डाला। उन्होंने अपने कई उपन्यासों में गाँव और शहर की कहानी, ग्रामीण और नागरिक जीवन की झाँकी साथ-साथ प्रस्तुत की है। उनके उपन्यासों में कथानक सुगठित है चरित्र-चित्रण प्रायः मनोविज्ञान के अनुकूल सजीव और स्वाभाविक है। संवाद पात्रों और परिस्थितियों के अनुसार हैं और भाषा सरल एवं व्यावहारिक है।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला की मुख्य विशेषताएँ हैं-व्यापक सहानुभूति-विशेषकर शोषित किसान, मजदूर और नारी का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण, यथार्थवाद अर्थात् उपन्यास में जीवन का यथार्थ चित्रण, मानव-जीवन और मानव-स्वभाव की अच्छी जानकारी होने से सजीव पात्रों और सजीव वातावरण का निर्माण; चरित्र-चित्रण में नाटकीय कथोपकथनात्मक तथा घटनापरक पद्धतियों का उपयोग, समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि पात्रों की सृष्टि, अपने व्यक्तित्व को पात्रों से पृथक रखकर उन्हें प्रायः अपनी सहज-स्वच्छन्द गति से चलने देना, अनेकानेक सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का चित्रण, समाज के साथ पारिवारिक जीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति, मानव-कल्याण की ओर संकेत करने वाले नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा और सरल व्यावहारिक भाषा का संग्रह।

प्रेमचन्द युग के अन्य उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं-विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, प्रसाद, निराला, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावन लाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सियारामशरण गुप्त, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवती प्रसाद वाजपेयी, गोविन्दवल्लभ पंत, राहुल सांकृत्यायन और जैनेन्द्र। कौशिक जी के उपन्यास 'माँ'

और भिखारिणी नारी-हृदय का मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। आचार्य चतुरसेन ने नारी की समस्या पर 'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा' आदि उपन्यास प्रारम्भ में लिखे थे। बाद में उनके बहुत से सामाजिक ऐतिहासिक और वैज्ञानिक उपन्यास प्रकाशित हुए। उनके कुछ उल्लेखनीय उपन्यास हैं- 'गोली', 'वैशाली की नगर वधू', 'वयं रक्षामः', 'सोमनाथ', 'महालय', 'सोना और खून' तथा 'खग्रास'।

वृन्दावनलाल वर्मा ने इतिहास के तथ्यों की पूर्णतः रक्षा करते हुए कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है। उन्होंने 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी', 'माधवजी सिंधिया' आदि उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। हिन्दी के कुछ अन्य उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास हैं- जयशंकर प्रसाद का 'इरावती' (अधूरा), हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चन्द्रलेख', चतुरसेन का 'वैशाली की नगरवधू', 'राजसिंह', 'सोमनाथ', 'सह्याद्रि की चट्टानें', सेठ गोविन्ददास का 'इन्दुमती', राहुल सांकृत्यायन के 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', सत्यकेतु विद्यालंकार का 'आचार्य चाणक्य', रांगेय राघव का 'अंध रास्ता', उमाशंकर का 'नाना फड़नवीस' तथा 'पेशवा की कंचना'।

प्रसाद जी ने 'इरावती' के पहले 'कंकाल' और 'तितली' नामक दो उपन्यास और लिखे थे, 'कंकाल' में हिन्दू नारी की असहाय स्थिति और धार्मिक पाखंड पर प्रकाश डाला गया है। 'तितली' में नारी-हृदय की महत्ता के उद्घाटन के साथ-साथ ग्राम-सुधार और यथास्थिति के विरुद्ध आन्दोलन की भावना है। प्रसाद जी मूलतः कवि हैं। उनके उपन्यासों में भी प्रायः जीवन की काव्यात्मक और भावपूर्ण व्याख्या मिलती है। **निराला जी** ने भी 'अप्सरा', 'अल्का', 'निरूपमा' आदि उपन्यास लिखे। इनके उपन्यासों में भी प्रसाद जी की भाँति रोमांटिक वातावरण है। नारी को निराला जी ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के प्रारम्भिक उपन्यासों में 'विदा', 'विसर्जन' और 'विजय' उल्लेखनीय हैं।

सियारामशरण गुप्त के 'गोद', 'अन्तिम आकांक्षा' और 'नारी' उपन्यासों में नारी-जीवन और उसकी सामाजिक स्थिति का मार्मिक अंकन हुआ है। साधारण मनुष्य में भी उच्च गुण दिखाने में गुप्त जी निपुण हैं। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के प्रारम्भिक उपन्यासों में पत्रात्मक शैली में लिखे 'चन्द हसीनों के खतूत' का विशिष्ट स्थान है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न उपस्थित करते हुए प्रेम का महत्व दिखाया गया है। उनके 'दिल्ली का दलाल', 'बुधुआ की बेटी', 'जीजी जी' आदि उपन्यासों में दुष्टों द्वारा भोली युवतियों को फंसाए जाने की कथाएँ हैं। सभ्य समाज की भीतरी दुर्बलताओं और दुष्प्रवृत्तियों का उन्होंने अच्छा उद्घाटन किया है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'प्रेममयी', 'अनाथ स्त्री', 'त्यागमयी', 'पतिता की साधना' आदि शुरू के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के रुपाकर्षण और प्रेम के चित्र हैं। उनके 'गुप्त धन', 'चलते-चलते', 'पतवार', 'उनसे न कहना', 'रात और प्रभाव', 'टूटते बन्धन' आदि कई उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

गोविन्दवल्लभ पंत के 'सूर्यास्त', 'प्रतिमा', आदि उपन्यास काफी पहले प्रकाशित हुए थे। बाद में भी उनके 'जल समाधि', 'नारी के सपने', 'मैत्रेय' आदि उपन्यास निकले हैं।

जैनेन्द्र के परख (सन् 1929 ई.) से हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक नई प्रवृत्ति का आरम्भ होता है। वस्तुतः यह उपन्यास एक लम्बी कहानी है जिसमें कट्टो नाम की देहातिन बाल विधवा के भावुकतापूर्ण आत्मसमर्पण का चित्रण किया गया है। जैनेन्द्र ने आगे चलकर कई महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक उपन्यास 'सुनीता',

‘सुखदा’, ‘त्यागपत्र’, ‘विवर्त’ आदि लिखे, जिनमें प्रायः स्त्री का पर-पुरुष की ओर झुकाव दिखाकर आधुनिक नारी के कुण्ठाग्रस्त मन पर प्रकाश डाला है। मनोविश्लेषण की इस प्रवृत्ति का विकास किया इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ने। प्रेमचन्द काल के उत्तरार्द्ध में इस क्षेत्र में आने वाले अन्य प्रतिभाशाली उपन्यासकार हैं। ऋषभचरण जैन (कैदी गदर, भाई, भाग्य, रहस्यमयी, तपोभूमि, बादशाह की बेटी, सत्याग्रह, दिल्ली का व्यभिचार आदि) भगवतीचरण वर्मा (पतन, तीन वर्ष, चित्रलेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, सबहिं नचावत राम गुसाई), राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह (राम-रहीम, पुरुष और नारी, टूटा तारा, सूरदास, संस्कार आदि)।

इस काल में जो उपन्यास लिखे गए, उन्हें चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—यथार्थवादी सामाजिक उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास, स्वच्छन्दतापरक उपन्यास और मनोवैज्ञानिक उपन्यास। उपन्यास-लेखन की बहुत-सी शैलियों (ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक, पत्रात्मक आदि) का प्रयोग हुआ है। इस काल में यूरोप की अनेक समृद्ध भाषाओं (रूसी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि) से उपन्यासों का अनुवाद भी हुआ।

प्रेमचन्दोत्तर-युग

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास कई मोड़ों से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है। सन् '40 से '50 तक की कालावधि के उपन्यास मुख्यतः फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा से, सन् '50 से '60 तक के उपन्यास प्रयोगात्मक विशेषताओं से और सन् '60 से अब तक के उपन्यास आधुनिकतावादी विचारधारा से प्रभावित हैं। प्रेमचन्द समाज की स्वीकृत मान्यताओं के भीतर संघर्ष करते रहे। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद पश्चिम के पुराने मूल्यों का तेजी के साथ विघटन हुआ। फ्रायड ने काम-सम्बन्धी मान्यताओं को नैतिकता-अनैतिकता से परे बताकर सामाजिक नैतिकता के आगे प्रश्नचिह्न लगा दिया। पूँजीवादी समाज में व्यक्ति-चेतना उभर कर सामने आई। मार्क्स ने समष्टि चेतना पर विशेष बल दिया। हिन्दी उपन्यास इन विचारधाराओं से प्रभावित हुए बिना न रहा। फलस्वरूप सन् '50 के बाद उपन्यासकारों का ध्यान व्यक्ति और समाज की मुक्ति की ओर गया। किन्तु स्वतंत्रता के बीस वर्षों बाद भी मानव जीवन में एक विशेष प्रकार की कुण्ठा, निराशा, त्रास, अर्थहीनता आदि की अनुभूति होने के कारण सन् '60 के बाद के उपन्यासों में इन्हीं मनोदशाओं का चित्रण किया गया।

प्रेमचन्द-युग में ही जैनेन्द्र ने फ्रायड से प्रभावित होकर मानव-चरित्र के स्थान पर व्यक्ति-चरित्र की सृष्टि की थी। किन्तु सन् '51 में अज्ञेय के ‘शेखर : एक जीवनी’ के प्रकाशन के साथ ही हम उपन्यास की दिशा में एक नया मोड़ पाते हैं। अज्ञेय के तीन उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—‘शेखर : एक जीवनी’ (दो भाग), ‘नदी के द्वीप’ और ‘अपने-अपने अजनबी’। पहले दो उपन्यासों में व्यक्तिपात्रों के मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति है। तीसरी रचना में कोई सम्बद्ध कथानक नहीं है। अज्ञेय ने उपन्यास को पात्र-प्रधान बनाया और सामाजिक मानव के स्थान पर व्यक्ति-मानव के अन्तर्मन का विश्लेषण करने का यत्न किया।

इलाचन्द्र जोशी को उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठा ‘संन्यासी’ (1914) उपन्यास-प्रकाशन के द्वारा मिली। इस उपन्यासों में ही पहली बार मनोविश्लेषणात्मक पद्धति की विकृति देखी जा सकती है। ‘संन्यासी’ के अतिरिक्त ‘पर्दे की रानी’ (1941), ‘प्रेत और छाया’ ‘निर्वासित’, ‘मुक्तिपथ’ (1950) ‘सुबह के भूले’ (1957), ‘जिप्सी’, ‘जहाज का पंछी’ (1955) और ‘ऋतुचक्र’ उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। उनके

उपन्यासों की विकास-यात्रा में 'मुक्तिपथ' एक नए मोड़ की सूचना देता है। 'मुक्तिपथ' के पूर्ववर्ती उपन्यास ग्रन्थियों के विश्लेषण पर आधारित हैं। उनकी भाव-भूमियाँ एकांगी, संकुचित और छोटी हैं। 'मुक्तिपथ' तथा उसके बाद जो उपन्यास लिखे गये, उनमें परिदृश्य का विस्तार और सामाजिकता का समावेश दिखाई पड़ता है।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में अपनी विशिष्ट विचारधारा, ईमानदारी और सर्जनात्मक शक्ति के कारण यशपाल ने स्वतंत्र व्यक्तित्व बना लिया। ऐतिहासिक दृष्टि से यशपाल को प्रेमचन्द उपन्यास-परम्परा की अगली कड़ी के रूप में माना जा सकता है। यशपाल का प्रारम्भिक जीवन क्रांतिकारी दल से सम्बद्ध था। वे इसके सक्रिय सदस्य थे, इसके लिए उन्हें चौदह वर्ष का कारावास भी मिला। कारावास काल में उनका सारा समय अध्ययन-मनन में व्यतीत हुआ। इसी समय मार्क्सवादी विचारधारा का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में उतरने पर उन्होंने इसी विचारधारा को आगे बढ़ाया। उनके उपन्यास हैं—'अमिता', 'दिव्या', 'दादा कामरेड' (1941), 'देशद्रोही' (1943), 'पार्टी कामरेड' (1946), 'मनुष्य के रूप में' (1949), 'झूठा सच': प्रथम भाग 'वतन और देश' (1958), दूसरा भाग 'देश का भविष्य' (1960)।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' यशपाल की परम्परा में आते हैं। बढ़ती धूप, नई इमारत, उल्का और मरुप्रदीप उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। पर इनमें द्वन्द्वात्मक चेतना पूरे तौर पर नहीं उभरती।

भगवतीचरण वर्मा प्रेमचन्द्रीय परम्परा के उपन्यासकार हैं। सन् '50 तक यह परम्परा चलती रही प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में समसामयिक समस्याओं को चित्रित किया और वर्मा जी परिवर्तमान ऐतिहासिक धारा को मध्यमवर्ग के माध्यम से अंकित करते रहे हैं—मुख्यतः 40 के बाद लिखे गये उपन्यासों में। इनमें 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आखिरी दांव', 'भूले-बिसरे-चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'सबहिं नचावत राम गुसाई' मुख्य हैं।

उपेन्द्रनाथ अशक को प्रेमचन्द-परम्परा का उपन्यासकार कहा जाता है। पर वे समग्र रूप से प्रेमचन्द्रीय परम्परा से नहीं जुड़ पाते। जहाँ तक मध्यवर्गीय परिवारों और व्यक्तियों की परिस्थितियों, समस्याओं और परिवेश का सम्बन्ध है, वहाँ तक वे प्रेमचन्द्रीय परम्परा के उपन्यासकार हैं प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी, इसलिए प्रामाणिक भी। प्रेमचन्द के वैविध्य और जीवन-चेतना का इनमें अभाव है। 'सितारों के खेल' के बाद इनके कई उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—गिरती दीवारें, 'गर्म राख' 'बड़ी-बड़ी आँखें', 'पत्थर अल पत्थर', 'शहर में घूमता आइना' और 'एक नन्हीं किन्दील'। 'गिरती दीवारें' इनका सर्वोत्तम उपन्यास है। गर्म राख, बड़ी-बड़ी आँखें, पत्थर अल पत्थर सुगठित उपन्यासों की श्रेणी में रखे जायेंगे। अन्तिम दोनों उपन्यास 'गिरती दीवारें' का विस्तार हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के आवर्त में पड़ा व्यक्ति कभी अपने को उनके अनुरूप ढालता है कभी उनसे आहत होता है, कभी छोटे-मोटे सुधारों के द्वारा समाज का परिष्कार करता है। वहाँ समाज प्रधान है, व्यक्ति गौण। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने व्यक्ति की सनकों, अन्तर्द्वन्द्वों को समाज से अधिक महत्त्व दिया है।

अमृतलाल नागर के उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के सापेक्षिक सम्बन्धों को चित्रित किया गया है। 'नवाबी मसनद', 'सेठ बाँकेमल', 'महाकाल', 'बूँद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'एकदा

नैमिषारण्ये' और 'मानस का हंस' उनके प्रकाशित उपन्यास हैं। अपने विस्तार और गहराई के कारण 'बूँद और समुद्र' विशेष महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है।

'50 के बाद के दशक को आँचलिक उपन्यासों का दशक मान लिया जाता है। वस्तुतः इस समय के उपन्यासों में वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों हैं। वैयक्तिक इसलिए कि वह पुराने नैतिक मूल्यों से मुक्त होकर खुले वातावरण में साँस लेना चाहता है, सामाजिक इसलिए कि अभी समाज को आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने में लम्बी मंजिल तय करनी थी। देश के विभाजन के कारण जो नई समस्याएँ उत्पन्न हुई, उन्हें भी औपन्यासिक रूप दिया गया। प्रवृत्तिक दृष्टि से इस दशक के उपन्यासों को तीन प्रवृत्तियों में बाँटा जा सकता है—ग्रामांचल के उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास और प्रयोगशील उपन्यास।

ग्रामांचल को ही समग्रता से चित्रित करने वाले उपन्यासों को ही आँचलिक कहकर आँचलिकता के अर्थ को सीमित कर दिया जाता है। फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' के प्रकाशन के पूर्व नागार्जुन का 'बलचनमा' (1952) प्रकाशित हो चुका था। पर इसे आँचलिक नहीं कहा गया। यद्यपि इसमें आँचलिकता का कम रंग नहीं है। नागार्जुन के उपन्यासों में दरभंगा-पूर्णिया जिले का राजनीतिक-सांस्कृतिक साक्षात्कार होता है। इनका मार्क्सवादी दृष्टिकोण गाँव की कहानी पर आरोपित-प्रतीत होता है! कथानक स्वयं विकसित न होकर पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार चलता है। इसके फलस्वरूप उपन्यासों की सर्जनात्मकता शिथिल और अवरुद्ध हो जाती है। 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची', 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'दुखमोचन', 'वरुण के बेटे' आदि उनके प्रकाशित उपन्यास हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों को ही सर्वप्रथम आँचलिक उपन्यास की संज्ञा दी गयी क्योंकि स्वयं रेणु ने ही 'मैला आँचल' को आँचलिक उपन्यास कहा। 'मैला आंचल' के प्रकाशन के बाद 'परती परिकथा' प्रकाशित हुआ।

उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' (1955) में बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा गाँव के मछुओं की जीवन-गाथा वर्णित है। रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' में जरायमपेशा नटों की जिन्दगी को उजागर किया गया है। नट-जीवन और आधुनिक जीवन की असंगतियों को चित्रित करते हुए लेखक ने उज्ज्वल भविष्य का संकेत किया है कि शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी। भैरवप्रसाद गुप्त का 'सत्ती मैया का चौरा' मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया ग्रामांचल का ही उपन्यास है।

सातवें दशक में भी ग्रामांचल को आधार बना कर राही मासूम रजा, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र आदि ने उपन्यास लिखे। राही का 'आधा गाँव' शिया मुसलमानों की जिन्दगी पर लिखा गया है और शिवसात में आधुनिकता-बोध को सन्निविष्ट करने का प्रयास किया गया है। किन्तु इनके मूल स्वर त्रासद (ट्रेजिक) हैं। रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' तथा 'सूखता हुआ तालाब' और देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये' ग्रामांचलीय उपन्यास हैं। श्रीलाल-शुक्ल का 'राग दरबारी' पारंपरिक अर्थ में उपन्यास नहीं है। यद्यपि इसकी कथा ग्रामांचल से सम्बद्ध है। फिर भी यह आँचलिक नहीं है। रिपोर्ताज शैली में लिखे गये इस उपन्यास में स्वतंत्र देश की नवीन व्यवस्थाओं का मखौल उड़ाया गया है।

छठे दशक में देवराज मुख्यतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार की श्रेणी में आते हैं। धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' मनोविज्ञान पर आधारित उपन्यास है, यद्यपि वह पाँचवे दशक में प्रकाशित हुआ। भारती

और देवराज दोनों के उपन्यासों का वातावरण महाविद्यालयीय है। 'गुनाहों का देवता' अपनी कैशोर्य भावुकता तथा रूमनियत के कारण काफी लोकप्रिय हुआ। 'पथ को खोज', 'बाहर भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी' और 'मैं, वे और आप' देवराज के उपन्यास हैं। इन सभी उपन्यासों की मूलवर्तिनी धारा है-विवाह के बाहर का प्रेम।

मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव आदि नवीन सामाजिक चेतना के उपन्यासकार हैं। भैरवप्रसाद गुप्त के 'मशाल', 'गंगा मैया', 'सती मैया का चौरा', अमृतराय के 'बीज', 'नागफनी का देश', 'हाथी के दाँत' संघर्ष और प्रगति के मिथक के सूचक हैं। लक्ष्मीनारायण लाल के 'धरती की आँखें', काले फूलों का पौधा, 'रूपाजीवा' में उपर्युक्त स्तर की सामाजिक चेतना को उभारने की कोशिश है। 'काले फूलों का पौधा' चरित्र-चित्रण, संस्कृति-संघर्ष और नव्यतर तकनीक के कारण विशिष्ट बन पड़ा है।

'प्रेत बोलते हैं', 'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग' और 'एक इंच मुस्कान' राजेन्द्र यादव के उपन्यास हैं। 'एक इंच मुस्कान' यादव और मन्मू भंडारी का सहयोगी लेखन है। इसमें खंडित व्यक्तित्व वाले आधुनिक व्यक्तियों की प्रेम-त्रासदी (ट्रेजिडी) है। आधुनिक जीवन की इस त्रासदी को अंकित करने के कारण यह उपन्यास यादव के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा कहीं अधिक समकालीन और महत्त्वपूर्ण है।

कविता में नए प्रयोगों के साथ-साथ कहानी-उपन्यास आदि में भी नये प्रयोग हुए हैं। अब कहानी का तत्त्व क्षीण हो गया है, कथानक का पुराना रूप विघटित होकर नया हो गया है। अब जिन्दगी पूरे तौर पर विश्लेषित न होकर चेतना प्रवाह, स्वप्न सृष्टि के साथ जुड़ गई है, प्रतीक, कालांतर आदि के द्वारा उपन्यासों में नए शिल्प के दर्शन हुए हैं। इस प्रयोग-संपर्क में प्रभाकर माचवे के 'परन्तु', 'साँचा' और 'आभा', भारती का 'सूरज का साँतवा घोड़ा', गिरधर गोपाल का 'चाँदनी रात के खंडहर', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल', नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' आदि अनेक प्रकार की विसंगतियों से भरे हुए प्रयोगशील उपन्यास हैं।

उद्योगीकरण, महानगरीय सभ्यता, बदले हुए मानसिक परिवेश और भ्रष्ट व्यवस्था के कारण आज व्यक्ति यांत्रिक, अजनबी, अकेला या विद्रोही हो गया है। इसकी अभिव्यक्ति मुख्यतः साठोत्तरी साहित्य में होती है, भले ही उपन्यास, नाटक की अपेक्षा इसका तेवर कविता और कहानी में ही अधिक तेजस्वितापूर्ण दिखाई देता है। इस प्रकार के उपन्यासों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—

(1) यौन विकृतियों में पनाह खोजने वाले उपन्यास-मोहन राकेश के 'अंधेरे बन्द कमरे', 'न आने वाला कल' और 'अन्तराल', निर्मल वर्मा का 'वे दिन', महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स' राजकमल चौधरी के 'मछली मरी हुई' और 'शहर था शहर नहीं था', श्रीकान्त वर्मा का 'दूसरी बार', ममता कालिया का 'बेघर', गिरिराज किशोर का 'यात्राएँ' मणिमधुकर का 'सफेद मेमने', कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अंधेरे के' आदि उपन्यास इसी कोटि के हैं। इन उपन्यासों के प्रायः सभी नायक मानसिक दृष्टि से अनिर्णयात्मक, आत्म-निर्वासित और नपुंसक हैं। वे मुक्त होने की प्रक्रिया में ऐसी उलझन में फंस जाते हैं, जहाँ से उन्हें निष्कृति नहीं मिलती। इन उपन्यासों से आधुनिकता का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें स्त्री-शरीर 'नशे' या 'ड्रग' का काम करता है। राकेश को छोड़कर शेष उपन्यासों में प्रामाणिकता की भी कमी है।

(2) दी हुई मानवीय स्थितियों में बेमेल व्यक्तियों को चित्रित करने वाले उपन्यास-इस श्रेणी में उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका' और मन्नू भंडारी के 'आपका बंटी' की गणना की जाएगी। इन उपन्यासों की आधारभूमियाँ ठोस और प्रामाणिक हैं।

(3) व्यवस्था की घुटन को अपनी नियति मानने या उसके विरुद्ध युद्ध करने वाले उपन्यास-नरेश मेहता का 'वह पथ बन्धु था', गोविन्द मिश्र का वह 'अपना चेहरा', बदीउज्जमा का 'एक चूहे की मौत', काशीनाथ सिंह का 'अपना मोर्चा', नरेन्द्र कोहली का 'आश्रितों का विद्रोह' आदि उपन्यास इस कोटि के अन्तर्गत आते हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी कई प्रयोगशील और प्रतिबद्ध उपन्यास लिखे हैं।

इनके अतिरिक्त गिरिराज किशोर का 'जुगलबन्दी' और 'ढाई आखर', लेख बख्शी का 'वैषाखियों वाली इमारत', देवराज उपाध्याय का 'दूसरा सूत्र' और 'अजय की डायरी' कमलेश्वर का 'डाक बंगला' और 'काली आँधी', मन्नू भंडारी का 'महाभोज', श्री लाल शुक्ल का 'मकान', शिवप्रसाद सिंह का 'नीला चाँद' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। रमेश चौधरी आरिगमूडि, ओंकार शरद, मार्कण्डेय, मुद्राराक्षस, आनन्द प्रकाश चौबे, श्रीलाल शुक्ल, मोहन सिंह सेंगर, सत्येन्द्र गुप्त, राजेन्द्र अवस्थी, हंसराज रहबर, रामदरश मिश्र, मनहर चौहान, शिवप्रसाद सिंह, राही मासूम रजा, शिवानी आदि उपन्यास के क्षेत्र में अच्छा कार्य कर रहे हैं। यूरोप के पुराने और नये उपन्यासों के अनुवाद का कार्य भी हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास का युग प्रयोग का युग रहा। जीवन-मरण सम्बन्धी पुराने सभी मत मतान्तरों को चुनौती दी गई है। महानगरीय अकेलापन, अत्यधिक निकटता में अजनबीपन, विसंगति, संत्रास, यांत्रिक तटस्थता आदि का चित्रण किया गया है। बाह्य यथार्थ की अपेक्षा आन्तरिक यथार्थ को अधिक महत्ता दी गई है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ लाल', लक्ष्मी नारायण लाल का 'हरा समन्दर गोपी चन्दर' जैसे आधुनिक उपन्यासों में कथा का हास हुआ है कथानक का नहीं। उपन्यासों में पीढ़ियों का वैचारिक मतभेद, पति-पत्नी, भाई-बहन, माँ-बाप के सम्बन्ध में दोहरा व्यक्तित्व, अन्तःबाह्य संघर्ष, मिल मालिक और मजदूरों का संघर्ष, कृषकों का जागरूक होना पुलिस की धाँधलियाँ, महाजनों के धन शोषण के तरीके महानगर, कस्बे और गाँवों के परिवर्तन को समग्रता में रेखांकित किया गया है। उपन्यासों में पूर्वदीप्ति शैली, आत्मकथात्मक शैली, संकेत शैली, प्रतीक शैली द्वारा मानवीय संवेदना को उभारा गया है। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से आज के उपन्यास समृद्ध दिखाई देते हैं।

निबन्ध

हिन्दी निबन्ध का जन्म भारतेन्दु-काल में हुआ। यह नवजागरण का समय था। भारतीयों की दीन-दुखी दशा की ओर लेखकों का बहुत ध्यान था। पुराने गौरव, मान, ज्ञान, बल-वैभव को फिर लाने का प्रयत्न हो रहा था। लेखक अपनी भाषा को भी हर प्रकार से सम्पन्न और उन्नत करने में लग गए थे और सबसे बड़ी बात यह थी कि इस काल के लेखक स्वतंत्र विचारों के थे। उनमें अक्खड़पन और फक्कड़पन भी था। ऐसा युग निबन्ध के बहुत अनुकूल होता है, इसलिए इस युग में जितने अच्छे निबन्ध लिखे गये उतने अच्छे नाटक, आलोचना, कहानी आदि नहीं लिखे गए।

भारतेन्दु युग&भारतेन्दु काल के वातावरण और परिस्थितियों से तो आप परिचित ही है। उस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन', बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी जैसे प्रमुख निबन्धकार हुए।

भारतेन्दु जी के निबन्ध भी अनेक विषयों पर हैं। 'काश्मीर कुसुम' 'उदयपुरोदय', 'कालचक्र', 'बादशाह दर्पण'&ऐतिहासिक, 'वैद्यनाथ धाम', 'हरिद्वार', 'सरयू पार की यात्रा'&विवरणात्मक, 'कंकण स्तोत्र'&व्यंग्यपूर्ण वर्णनात्मक और 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष'&विचारात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु सबसे अधिक सफल हुए अपने व्यंग्यात्मक निबन्धों में। 'लेवी प्राणलेवी', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज स्रोत', 'कंकड़ स्तोत्र' आदि में गजब का हास्य-व्यंग्य है ही 'सरयू पार की यात्रा' में भी भारतेन्दु अपने व्यंग्य का बढ़िया नमूना उपस्थित करते हैं। जैसे-वाह रे बस्ती। झक मारने बसती है। अगर बस्ती इसी को कहते हैं, तो उजाड़ किसे कहेंगे?

इनके निबन्धों की भाषा स्वच्छ और श्लेषपूर्ण है। कहीं-कहीं तो उर्दू की बढ़िया शैली भी आपने उपस्थित की। भाव और विचार की दृष्टि से युग की वे सभी विशेषताएँ इनमें भी हैं जो भट्ट जी या प्रतापनारायण मिश्र में हैं।

बालकृष्ण भट्ट अपने समय के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहला सकते हैं। इन्हें हिन्दी का 'मान्तेन', कहा जाता है। भट्ट जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'मेला-ठेला', 'वकील'-वर्णनात्मक. 'आँसू', 'चन्द्रोदय', 'सहानुभूति', 'आशा माधुर्य', 'खटका-भावात्मक', 'आत्म-निर्भरता', 'कल्पना-शक्ति', 'तर्क', और 'विश्वास'&विचारात्मक निबन्ध हैं। 'खटका', 'इंगलिस पढ़े तो बाबू होय', 'रोटी तो कमा खाय किसी भाँति', 'मुखन्दर', 'अकल अजीरन राग' आदि निबन्धों में मस्ती, हास-परिहास, विनोद-व्यंग्य सभी कुछ हैं। ऐसे निबन्धों की भाषा चलती और दैनिक व्यवहार की है। भट्ट जी की भाषा विषय के अनुकूल और अपने समय में सबसे अधिक मंजी हुई सबल और प्रभावशाली है। समाज, व्यक्ति, जीवन, धर्म, दर्शन, राष्ट्र, हिन्दी-सभी विषयों पर आपने लिखा।

जन-साहित्य को जन-भाषा में लिखने वालों में प्रतापनारायण मिश्र का नाम सर्वप्रथम आएगा। इनके व्यक्तित्व और निबन्धों में अदभुत आकर्षण है। लापरवाही, चुभता व्यंग्य, गुदगुदीभरा विनोद इनकी रचनाओं की विशेषताएँ हैं। इस युग में इतनी चुलबुली भाषा लिखने वाला और कोई नहीं हुआ। यह 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकालते थे, जिसमें इनके निबन्ध छपते थे। छोटे-छोटे विषयों पर इतने बढ़िया, मनोरंजन और उच्च उद्देश्य को लेकर किसी लेखक ने नहीं लिखा। 'नाक', 'भौंह', 'वृद्ध', 'दाँत', 'पेट', 'मृच्छ' आदि विषयों को लेकर आपने अपने निबन्धों में मनोरंजन का सामान भी जुटाया और देश-प्रेम, समाज-सुधार, हिन्दी के प्रति प्रेम, स्वाभिमान, आत्म-गौरव का सन्देश भी दिया। इनकी शैली में घरेलू बोलचाल की शब्दावली तथा पूर्वी बोलियों की कहावतों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। लापरवाही के कारण भाषा की अशुद्धियाँ रहना साधारण बात है। 'आत्मीयता', 'चिन्ता', 'मनोयोग' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं।

प्रेमधन जी अपने निरालेपन के लिए याद किए जाते हैं। उनका उद्देश्य यह नहीं था कि उनकी बात साधारण समाज तक पहुँचे, उसका मनोरंजन हो या उसके विचारों में परिवर्तन हो। कलम की करामात दिखाना ही उनका उद्देश्य था। वह स्वाभाविक, प्रवाहमय, सुबोध भाषा नहीं लिखते। बल्कि शब्दों की जड़ई

करते थे। भाषा बनावटी होते हुए भी उसमें कहीं-कहीं विवेचन की शक्ति पायी जाती है। आप 'नागरी नीरद' और 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्र निकालते थे। इन्हीं में उनके निबन्ध छपा करते थे। इनके शीर्षक उनकी भाषा-शैली को प्रकट करते हैं जैसे सम्पादकीय, सम्पत्ति सीर, हास्य, हरितांकुर, विज्ञापन और वीर बधूटियाँ। 'हमारी मसहरी' और 'हमारी दिनचर्या' जैसे मनोरंजक लेख उन्हीं के लिखे हुए हैं। 'फागुन', 'मित्र', 'ऋतु-वर्णन' उनके अच्छे निबन्ध हैं।

बालमुकुन्द गुप्त इस युग के अन्तिम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निबन्धकार थे। 'शिवशम्भू' के नाम से 'भारतमित्र' में वह 'शिवशम्भू' का 'चिट्ठा' लिखा करते थे। हास्य-व्यंग्य के बहाने 'शिवशम्भू का चिट्ठा' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। उनका व्यंग्य शिष्ट और परिष्कृत होता था। भाषा मिली-जुली हिन्दी-उर्दू। **राधाचरण गोस्वामी** को भी इस युग के प्रगतिशील लेखकों में गिना जाएगा। 'यमपुर की यात्रा' में उन्होंने धार्मिक अंधविश्वास का बहुत मजाक उड़ाया है। धार्मिक विचारों के लोग गाय की पूँछ पकड़कर वैतरणी पार करते हैं। इसमें कुत्ते की पूँछ पकड़कर वैतरणी पार कराई गई है। पहले ऐसी बात सोचना घोर पाप समझा जा सकता था।

भारतेन्दु-काल के निबन्धकारों की विशेषताएँ हैं निबन्धों के विषयों की विविधता, व्याकरण-सम्बन्धी लापरवाही और अशुद्धियाँ, देशज या स्थानीय शब्दों का प्रयोग, शैली के विविध रूप और विचार-स्वतन्त्रता, समाज-सुधार, देश-भक्ति, पराधीनता के प्रति रोष, आत्म-पतन पर खेद, देशोत्थान की कामना, हिन्दी-सम्मान की रक्षाभावना, हिन्दू, पर्व-त्यौहारों के लिए उत्साह और नवीन विचारों का स्वागत। निबन्ध की एक विशेष शैली भी इस युग की विशेषता है—'राजा भोज का सपना' (शिवप्रसाद सितारे हिन्द), एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न (भारतेन्दु), एक अनोखा स्वप्न (बालकृष्ण भट्ट), यमपुर की यात्रा (राधाप्रसाद गोस्वामी) & इन रचनाओं में स्वप्न के बहाने राजनैतिक अधिकार पाने, समाज सुधार तथा धर्म-संस्कार का संदेश दिया गया है।

द्विवेदी युग & भारतेंदु युग के बाद द्विवेदी युग आता है। भारतेंदु-युग गद्य-साहित्य के बचपन का समय था। बचपन में लापरवाही, खिलवाड़, विनोद, मनोरंजन, मुग्धता, चंचलता रहती है। किशोर अवस्था में थोड़ी जिम्मेदारी, समझदारी, शिक्षा, नियम-पालन, साज-संवार, स्थिरता आ जाती है। इसी अवस्था में प्रतिस्पर्धा की भावना भी जागती है। अन्य साथियों की शिष्टता, शील, ज्ञान, आत्मसम्मान आदि को देखकर उनके समान ही हम भी गुण विकसित करना चाहते हैं। यही बात भारतेंदु युग के सदर्थ में समझनी चाहिए। भारतेंदु-काल में साहित्य तो बहुत लिखा गया था, पर भाषा की भूलें साधारण बात थी। निबन्ध के विषय भी साधारण हुआ करते थे। इस युग में इन अभावों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल के निबन्धों का आरम्भ दो अनुवाद-पुस्तकों से हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेज लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन-विचार-रत्नावली' के नाम से, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी लेखक चिपलूणकर के निबन्धों का अनुवाद प्रकाशित कराया। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि द्विवेदी युग का निबन्ध-साहित्य भारतेंदु युग के निबन्ध-साहित्य के समान सम्पन्न नहीं है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं। गोविन्द नारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और श्यामसुन्दरदास का नाम दूसरी श्रेणी में लिया जा सकता है।

द्विवेदी युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम सबसे पहले आता है। अपने युग के यह आचार्य थे। आचार्य का काम होता है शिक्षा देना, ज्ञान-वर्द्धन कराना, समाज पर नया संस्कार डालना और सुधार करना।

ये सब काम इन्होंने किये, इसलिए यह आचार्य कहलाए और इनके नाम पर ही इस काल का नाम द्विवेदी युग रखा गया। अपने निबन्धों और समालोचनाओं के द्वारा सबसे मुख्य काम इन्होंने भाषा-सुधार का किया। 'किंकर्तव्य' नामक निबन्ध में यह लिखते हैं- 'कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का नहीं होता। जहाँ तक सम्भव हो, शब्दों का मूल रूप न बिगाड़ना चाहिए। मुहावरे का विचार रखना चाहिए। इस अवतरण से इनके भाषा सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

द्विवेदी जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'कवि और कविता' 'प्रतिभा', 'साहित्य की महत्ता' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं। 'लोभ', 'क्रोध' 'संतोष'-भावात्मक, 'हंस का क्षीरनीर विवेक', 'जापान में पतंगबाजी', 'हजारों वर्ष पुराने खंडहर' और 'प्रताप सुषमा'-वर्णनात्मक हैं और 'हंस-संदेश' तथा 'नल का दुस्तर दूत-कार्य'-विवरणात्मक। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि इनके निबन्धों में जानकारी अधिक रहती है, इनकी रचनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि एक आचार्य शिष्य-मण्डली को पढ़ा रहा है।

माधवप्रसाद मिश्र भारतीय संस्कृति, धर्म-दर्शन, साहित्य कला के सच्चे उपासक थे। इनका अपना व्यक्तित्व था। यदि ये किसी को भारतीय और प्राचीन साहित्य का गौरव घटाने का प्रयत्न करते हुए पाते थे, तो उनकी आलोचना करते थे। आचार्य द्विवेदी और श्रीधर पाठक की भी उन्होंने निर्भय आलोचना की थी। इनकी भाषा निर्दोष, साफ-सुथरी, विषयानुकूल, व्यंग्यात्मक और प्रभावशाली है। संस्कृत का प्रभाव उन पर स्पष्ट है। इनके लिखे 'धृति', 'क्षमा', 'श्री वैष्णव सम्प्रदाय', 'काव्यालोचना', 'वेबर' का भ्रम'-विचारात्मक और 'सब मिट्टी हो गया'-भावात्मक निबन्ध हैं। उनकी निर्भयता की शैली, मिश्र जी के निबन्धों के साथ ही समाप्त हो गई।

अध्यापक पूर्णसिंह इस युग के सबसे प्रमुख, भावुक और विचारक निबन्धकार हैं। इससे अधिक गौरव की बात और क्या होगी कि इन्होंने केवल छः निबन्ध लिखे और फिर भी अपने समय के श्रेष्ठ लेखक माने गए। उनमें से प्रमुख हैं 'मजदूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता', और 'सच्ची वीरता'। अध्यापक जी के निबन्धों में प्रेरणा देने वाले नए-नए विचार हैं। इनकी भाषा बड़ी ही शक्तिशाली है। उसमें एक खास बाँकपन है जिससे भाव का प्रकाशन भी निराले ढंग से होता है। विषय भी ऐसे नए कि अब तक किसी को सूझे ही नहीं। साथ, ही इनमें भावुकता का माधुर्य भरा है। वीरता, आचरण, शारीरिक परिश्रम का जो महत्त्व उन्होंने समझाया, उसको ठीक समझा जाए तो आज धर्म का नया रूप सामने आ जाए। समाज में क्रांति हो जाए, मनुष्य और सारा देश उन्नति के शिखर पर पहुँच जाए। "जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी, हल कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं।" 'मजदूरी और प्रेम' का यह उद्धरण कितना महान् संदेश देता है। भाषा की लाक्षणिकता इनकी विशेषता है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी स्वतंत्र विचारों के लिए प्रसिद्ध हैं। निबन्ध इन्होंने भी थोड़े ही लिखे। इनकी रचनाओं में भी जीवन को उठाने की प्रेरणा और नए विचारों का खजाना मिलता है। संस्कृत के महापण्डित होते हुए भी पुरानी लकीर पीटने वाले ये नहीं थे। प्राचीन धार्मिक कथाओं की ये वैज्ञानिक और बुद्धिसम्मत व्याख्या करते थे। 'कछुआ धर्म' नामक निबन्ध भी गम्भीर तर्कपूर्ण, प्रभावशाली, विचार-प्रधान शैली इनकी विद्वता और तर्क-कुशलता का सुन्दर उदाहरण है।

गोविन्दनारायण मिश्र का नाम उनकी विचित्र अलंकारपूर्ण संस्कृत शब्दावली से लदी काव्यमय और बनावटी शैली के लिए लिया जा सकता है। आपको याद होगा भारतेन्दु-काल में 'प्रेमघन' जी भी इसलिए याद किए जाते हैं।

प्रसाद युग प्रसाद युग हिन्दी साहित्य का स्वर्ण काल है। क्या कविता, क्या गद्य दोनों का विकास इस काल में ऊँचे शिखर पर पहुँचा। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना सभी का खूब विकास हुआ। वर्णन और विवरण प्रधान निबन्धों की रचना बहुत कम हुई, विचारात्मक और भावात्मक की अधिक। इन दोनों प्रकार के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध इसी युग में लिखे गए। विचारात्मक निबन्धकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और भावात्मक निबन्धकारों में डॉ. रघुवीर सिंह, सिरमौर हैं। गुलाबराय, वासुदेवशरण अग्रवाल, शांतिप्रिय द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि और रायकृष्णदास का नाम भी उल्लेखनीय है।

गुलाबराय जी के सामने द्विवेदी युग का सारा साहित्य-भण्डार था। इनके साहित्य का बहुत कुछ रंग द्विवेदी युग का रहा। यह निबन्धकार पहले हैं, आलोचक बाद में। 'फिर निराशा क्यों?' 'मेरी असफलताएँ', 'अंधेरी कोठरी' इनके निबन्ध संग्रह हैं। 'मेरी असफलताएँ' आत्मपरक या वैयक्तिक व्यंग्यात्मक निबन्धों का संग्रह है। शेष दोनों संग्रहों में विचारात्मक निबन्ध हैं। अन्तिम संग्रह मनोवैज्ञानिक निबन्धों का है। आपकी भाषा बड़ी सरल और सुबोध होती है। विचारात्मक और मनोवैज्ञानिक निबन्धों तक में भाषा या भाव की उलझन नहीं मिलेगी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध-संग्रह 'चिन्तामणि' भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विचारात्मक निबन्धों में शुक्ल जी के निबन्ध सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें विचारों की बारीकी और गंभीरता, भावों की मनोवैज्ञानिकता, भाषा का गठन और उसकी शक्ति आदि आदर्श हैं। 'चिन्तामणि' में 'क्रोध', 'ईर्ष्या', 'लोभ और प्रीति', 'उत्साह', 'श्रद्धाभक्ति', 'भय', 'करुणा', 'घृणा', 'लज्जा' और 'ग्लानि' आदि विषयों पर लिखे निबन्ध मानसिक भावों, वृत्तियों और विचारों से सम्बन्ध रखते हैं। 'कविता क्या है?' 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्य' साहित्यिक व्याख्या और विश्लेषण सम्बन्धी है, और 'तुलसीदास का भक्ति मार्ग', 'मानस की धर्म-भूमि' आदि साहित्य-समीक्षा-सम्बन्धी। 'मित्रता' और 'प्राचीन भारतीयों का पहनावा' परिचयात्मक वर्णनात्मक निबन्ध हैं।

मनोभावों या चित्तवृत्तियों का विवेचन करते हुए वे राजनीति, समाजनीति, धर्म, पारस्परिक व्यवहार आदि पर भी यह अपने मौलिक विचार प्रकट करते चलते हैं। इन निबन्धों की शैली में लेखक का गहन ज्ञान और गम्भीर व्यक्तित्व प्रकट होता है। थोड़े शब्दों में बड़ी से बड़ी बात कहने की शक्ति इनमें है। जो उच्च स्थान इनका आलोचक के रूप में है, वही निबन्धकार के रूप में भी है। लोक-मंगल की भावना भी इनके निबन्धों की प्रमुख विशेषता है।

छायावाद-युग के कवियों ने भी कुछ रेखाचित्र, संस्मरण और ललित निबन्धों की सम्मिश्रित विधा में रचनाएँ की हैं। ऐसी रचनाओं में **महादेवी वर्मा** की ये पुस्तकें उल्लेखनीय मानी जाती हैं—'स्मृति की रेखाएँ', 'अतीत के चलचित्र' तथा 'शृंखला की कड़ियाँ'। इनके अतिरिक्त गम्भीर विचारपूर्ण निबन्धों के लेखक सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को भी नहीं भुलाया जा सकता। उसके तीन निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'पृथिवी पुत्र' में आपने एक स्थान पर कहा है— "विदेशी विचारों को मस्तिष्क में भर कर उन्हें अधपके ही

बाहर उंडेल देने से किसी साहित्य का लेखक लोक में चिर जीवन नहीं पा सकता। हिन्दी साहित्यकारों को अपनी खुराक भारत की सांस्कृतिक और प्राकृतिक भूमि से प्राप्त करना चाहिए।” ये भारतीयता के पुजारी और पक्ष-पोषक थे। ‘कला संस्कृति’ में प्राचीन और नवीन भारतीय ऋषियों, दार्शनिकों, कवियों और कलाकारों के विषय में निबन्ध हैं। इन्होंने ‘समुद्र-मंथन’, ‘कल्पवृक्ष’ आदि की व्याख्या नवीन वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक ढंग से की है। आपके सभी निबन्ध विचारात्मक हैं।

निबन्ध-लेखकों में शांतिप्रिय द्विवेदी का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। ‘संचारिणी’, ‘सामयिकी’, ‘पदचिह्न’ ‘युग और साहित्य’, ‘परिव्राजक की प्रथा’ इनकी पुस्तकें हैं। गाँधीवादी नैतिकता और छायावादी भाषा रचनाओं की विशेषता है। ‘धरातल’ में आप अपने को समाजवाद का हिमायती बताते हैं। इस संग्रह में जीवन की समस्याओं का भौतिक समाधान खोजा गया है। विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध उन्होंने लिखे हैं। हिन्दी निबन्ध-साहित्य को इनकी देन है इनके वैयक्तिक निबन्ध। इस क्षेत्र में यह अद्वितीय है। अपने माता-पिता-बहन के जो चित्र इन्होंने खीचे हैं उनमें करुणा की नमी है और हृदय को स्पर्श करने वाली सच्चाई। इनके ये अनुपम वैयक्तिक निबन्ध ‘पदचिह्न’ और ‘परिव्राजक की प्रथा’ में संगृहीत हैं। आप काव्यमय, कोमल-कान्त भाषा का प्रयोग करते हैं।

डॉ. रघुवीर सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, रायकृष्ण दास, वियोगी हरि आदि ने भावात्मक निबन्ध लिखे। रघुवीर सिंह और माखनलाल जी के निबन्ध काफी बड़े हैं, शेष दोनों के बहुत छोटे-छोटे एक डेढ़ पृष्ठ के। इनके निबन्धों की शैली अन्य निबन्धकारों की शैली से भिन्न है-छोटे-छोटे वाक्य, कहीं खण्डित, कहीं अपूर्ण। आश्चर्य, शोक, करुणा, प्रेम का आवेश इसमें उमड़ता सा दिखता है, ऐसी रचनाओं को हिन्दी गद्यकाव्य का नाम दिया गया है। हम इन्हें निबन्ध मानते हैं। गद्य-काव्य के भीतर तो कहानी, नाटक, उपन्यास, शब्दचित्र, निबन्ध, आलोचना, सभी कुछ सम्मिलित हैं।

रघुवीर सिंह इतिहास के विद्वान हैं। मुगलकालीन घटनाओं, इमारतों, चरित्रों को लेकर इन्होंने ‘अतीत स्मृति’ और ‘शेष स्मृतियाँ’ दो पुस्तकें लिखी। वैसे तो इन निबन्धों में वर्णन और विवरण है, फिर भी ये भावात्मक हैं। क्योंकि लेखक ने इनमें वर्णन को महत्त्व नहीं दिया, इनको देखकर अपने हृदय में उठने वाले भावों को ही प्रकाशित किया है।

माखनलाल जी ने विचार-प्रधान निबन्धों को भी भावात्मक शैली में लिखा। ‘युग और कला’, ‘साहित्य देवता’, ‘रंगों की बोली’, ‘व्यक्तित्व’ आदि निबन्ध-कला, साहित्य, चित्रकला और व्यक्तित्व विषयों पर हैं, ये विचारात्मक हो सकते हैं। लेकिन विचार भी प्रभावात्मक ढंग से दिये गये हैं। लेखक की मुग्धता, श्रद्धा, करुणा, सहानुभूति ही इसमें प्रकट हुई है।

वियोगी हरि और रायकृष्णदास जी की रचनाओं में भक्ति, प्रेम, विस्मय, पश्चाताप, आत्म-निवेदन, मनोमुग्धता, करुणा, संवेदना आदि अनेक भाव और भावना प्रकट हुई हैं। ‘भावना’ और ‘अन्तर्नाद’ वियोगी हरि की और ‘साधना’ रायकृष्ण दास की पुस्तक है। इन सभी निबन्धकारों ने उर्दू शब्दों का भी यथावसर प्रयोग किया है।

प्रसादोत्तर या प्रगतियुग में निबन्ध-साहित्य ने सबसे अधिक विकास किया। विषयों की संख्या और विविधता की दृष्टि से तो इस युग का मुकाबला ही नहीं। यह युग उथल-पुथल का युग है। दूसरा विश्वयुद्ध

हुआ, समाजवादी विचारों का आगमन हुआ। भारत स्वतंत्र होकर विभाजित हुआ। प्राचीन साहित्य, संस्कृति और कला की ओर हमारा ध्यान गया। अनेक आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ भी पैदा हुईं। इन सब बातों की छाया निबन्धों में भी मिलती है। इस युग के चार निबन्धकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं— आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार, भदन्त, आनन्द कौशल्यायन तथा यशपाल।

कौशल्यायन जी बौद्ध भिक्षु थे और समाजवादी विचारों का इन पर बहुत प्रभाव था। निबन्ध तो इन्होंने बहुत नहीं लिखे, पर पृथक् विषय की दृष्टि से इनका महत्त्व है। 'जो न भूल सका' इनके संस्मरणात्मक निबन्धों का संग्रह है, जिनमें सामाजिक विषमता, धार्मिक शोषण, आर्थिक उत्पीड़न के तीखे चित्र हैं। धर्म को यह शोषण का संगठित साधन बताते हैं और अमीरों के भवनों को गरीबों की हड्डियों की ईंटों और खून के चूने से बना मानते हैं। जनवादी लेखक होने से इनकी भाषा सरल है।

प्रगतिवादी निबन्ध-साहित्य में **यशपाल** बेजोड़ हैं। इनके ये निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'चक्कर क्लब', 'न्याय का संघर्ष', 'गाँधीवाद की शव परीक्षा', 'देखा, सोचा, समझा', 'बात में बात', 'राम-राज्य की कथा' इन सभी पुस्तकों के नामों से भी पता चलता है कि ये समाजवाद के समर्थक ही नहीं, प्रचारक भी हैं। पुरानी परम्पराओं, समाज के ढाँचे, धर्म की बुनियादों पर उन्होंने बड़े जोश के साथ वार किए हैं। इनका विश्वास है कि पुराने दर्शन और संस्कृति, मानव की उन्नति में रोड़े हैं। इसलिए इनका विरोध यह निडर होकर करते हैं। वर्तमान समाज में धन के गलत बंटवारे के कारण कोई राजा बन गया और कोई गुलाम। वे कहते हैं कि "मानव की घृणा, मानव से मानव की शत्रुता, मानव द्वारा मानव का शोषण और अपमान तभी दूर हो सकेगा, जब सबको अपने परिश्रम का फल मिले, विकास का अवसर प्राप्त हो।" सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य, समाज सभी के विषय में इन्होंने अपने मौलिक विचार प्रकट किए। विविधता की दृष्टि से इन्होंने हिन्दी निबन्ध-साहित्य को धनी बताया है। .

जैनेन्द्र कुमार शुद्ध रूप से विचारक हैं। धर्म, युद्ध, न्याय, राष्ट्रीयता, दान की बात, दीन की बात, पैसा कमाई और भिखाई, गाँधीवाद का भविष्य, रोटी का मोर्चा, संस्कृति की बात, उपवास और लोकतंत्र, दुःख, सत्यं शिवं सुन्दरं, साहित्य की सच्चाई, प्रगतिवाद, जड़चेतन, सम्पादकीय मैटर-इनके इन निबन्धों से विषय की विविधता का तो पता चलता ही है, यह भी पता चलता है कि लेखक समाज, साहित्य, धर्म, राजनीति, जीवन की यथार्थ उलझनों आदि किसी से भी बेखबर नहीं। इनके ये निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'जड़ की बात', 'पूर्वोदय', 'जैनेन्द्र के विचार' 'इतस्ततः'। इनके निबन्धों की विशेषताएँ हैं: गाँधीवाद, नैतिकता, संस्कृति-प्रेम, मौलिक विचार, स्वतंत्रता और सबल, संक्षिप्त गठी हुई शैली। व्यक्तित्व और शैली को निबन्ध का प्राण मानें, तो जैनेन्द्र जी एक महान लेखक हैं। भाषा सरल, हाट-घाट-बाट की है, लेकिन उसमें अर्थ गजब का मिलेगा। इनकी शैली के लिए कुछ अवतरण देखिए—

व्यवस्था का दल कागजी है।

काम उसके दफ्तरी है।

मत पता लगने दो कि नीचे जान है।

दिलेरी डर से पैदा होती है।

उस नीयत का मुँह बाहर चाहे न दीखता हो, पेट में छिपी उसकी जड़ है जरूर।

निबन्धकारों में राहुल सांकृत्यायन का नाम भी महत्वपूर्ण है। इनके निबन्ध देश-दशा, राजनीति, यात्रा-वृत्तान्त तथा इतिहास को लेकर ही होते हैं। देश-दशा और राजनीति से सम्बन्धित निबन्धों के एक संग्रह का नाम है-‘तुम्हारा क्षय’। इस संग्रह के सभी निबन्धों का निष्कर्ष यह है कि जो रूढ़िवादी है, जो रास्ता रोककर खड़े हैं, उनका क्षय हो। इनके कुछ संस्मरणात्मक निबन्धों के संग्रह ये हैं-बचपन की स्मृतियाँ, जिनका मैं कृतज्ञ, मेरे असहयोग के साथी, राहुल जी का अपराध आदि। राहुल जी के असली व्यक्तित्व और निबन्धकार की आत्मा का यदि दर्शन करना हो तो उनका ‘घुमक्कड़ शास्त्र’ पढ़ना चाहिए।

राहुल जी जैसी मस्ती और जैनेन्द्र कुमार जैसी शैली की झलक कन्हैयालाल मिश्र ‘प्रभाकर’ के निबन्धों में मिलती है। इनके निबन्धों के 6 संग्रह हैं-‘जिन्दगी मुस्कराई’, ‘आकाश के तारे’, ‘धरती के फूल’, ‘दीप जले’ ‘शंख बजे’, ‘माटी हो गयी सोना’, ‘महके आंगन’, ‘चहके द्वार’ तथा ‘बूँद-बूँद सागर लहराया’।

आधुनिक निबन्धकारों में विद्यानिवास मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अधिकतर ललित निबन्ध लिखे हैं। इन निबन्धों में कविता और पाण्डित्यपूर्ण शास्त्र का आनन्द एक साथ मिलता है। इनके तीन निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं : (1) छितवन की छाँह, (2) कदम की फूली डाल तथा (3) तुम चन्दन हम पानी।

नये निबन्धकारों में **प्रभाकर माचवे**, **नामवर सिंह**, **हरिशंकर परसाई**, **श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार**, **शरद जोशी**, श्री लाल शुक्ल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। **प्रभाकर माचवे** के निबन्धों के संग्रह का नाम है-‘खरगोश के सींग’ और **नामवर सिंह** का निबन्ध-संग्रह है-‘बकलम-खुद’। हरिशंकर परसाई के व्यंग्य-विनोदपूर्ण निबन्धों में मस्ती और जान है। ‘भूत के पाँव’, ‘सदाचार का ताबीज’ और ‘निठल्ले की डायरी’ में उनके व्यंग्य लेख संग्रहीत हैं। विद्यानिवास मिश्र का ‘छितवन की छाँह’, ‘तुम चन्दन हम पानी’, ‘आँगन का पंछी’ ‘बनजारामन’ और ‘मेरे राम का मुकुट’ भीग रहा है, कुबेर नाथ राय का ‘प्रिया-नीलकंठी’, ‘गन्ध मादन’, ‘माया बीज’, विवेकी राय का ‘आम रास्ता नहीं है’, देवेन्द्र सत्यार्थी का ‘एक युग का प्रतीक’ हरिशंकर परसाई का ‘शिकायत मुझे भी है’ हरीशनवल का ‘बागपत के खरबूजे’ आदि प्रसिद्ध निबन्ध संकलन हैं।

हिन्दी निबन्ध-लेखन की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है लेकिन इधर कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में नये लेखकों का आगमन बहुत कम हुआ है। ललित भावात्मक, विचारात्मक निबन्ध लेखन की प्रवृत्ति कम हुई है और जो लिख भी रहे हैं वे पुराने पीढ़ी के ही लेखक हैं। नये लेखकों की निबन्ध लेखन की ओर से यह उदासीनता अत्यन्त चिन्ताजनक है।

नाटक

प्राचीन हिन्दी नाटक

हिन्दी साहित्य में नाटक का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। इससे पूर्व हिन्दी के जो नाटक मिलते हैं, वे या तो नाटकीय काव्य हैं अथवा संस्कृत के अनुवाद मात्र या नाम के ही नाटक हैं, क्योंकि उनमें नाट्यकला के तत्त्वों का सर्वथा अभाव है, जैसे नेवाज का ‘शकुन्तला’, कवि देव का ‘देवमायाप्रपंच’, हृदयराम का ‘हनुमन्नाटक’, राजा जसवन्तसिंह का ‘प्रबोधचन्द्र चन्द्रोदय’ नाटक आदि। रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह का ‘आनन्द रघुनन्दन’ नाटक हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है जो लगभग 1700 ई. में

लिखा गया था, किन्तु एक तो उसमें ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, दूसरे वह रामलीला की पद्धति पर है। अतः वह भी आधुनिक नाट्यकला से सर्वथा दूर है। हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में गद्य अत्यन्त अविकसित स्थिति में था और अभिनयशालाओं का सर्वथा अभाव था। अस्तु, हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में नाट्यकला का विकास न हो सका, जबकि हिन्दी लेखकों के सम्मुख संस्कृत की नाट्यकला अत्यन्त विकसित और उन्नत अवस्था में विद्यमान थी। आधुनिक युग में हिन्दी नाटक का सम्पर्क अंग्रेजी से स्थापित हुआ। अंग्रेज लोग नाट्यकला और मनोरंजन में अत्यधिक रुचि रखते थे और साहित्य में नाटकों की रचना भी प्रभूत मात्रा में हो चुकी थी। इसके साथ ही इस युग में हिन्दी-गद्य भी स्थिर हो गया और उसमें अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास हो गया। इसलिए हिन्दी-नाट्यकला को पनपने का समुचित अवसर इसी युग में आकर प्राप्त हुआ।

आधुनिक हिन्दी नाटक

आधुनिक काल की अन्य गद्य-विधाओं के ही समान हिन्दी नाटक का भी आरम्भ पश्चिम के संपर्क का फल माना जाता है। भारत के कई भागों में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण किया जिनमें शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों का अभिनय होता था। उधर सर विलियम जोन्स ने फोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के हिन्दी अनुवाद के अभिनय की भी प्रेरणा दी। इस बीच 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के कई हिन्दी अनुवाद हुए जिनमें राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सन् 1859 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा और उसको रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इधर पारसी नाटक कम्पनियों नृत्य-संगीत प्रधान, नाटकों को बड़े धूम-धड़ाके से प्रस्तुत कर रही थीं जिससे सुरुचि सम्पन्न तथा साहित्यिक गुणों के खोजी हिन्दी-साहित्यकार क्षुब्ध थे। इस सबसे प्रेरित होकर भारतेन्दु बाबू ने जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए स्वयं अनेक नाटक लिखे और अन्य लेखकों को नाट्य साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी-नाट्यकला के विकास को चार कालों में बाँटा जा सकता है—

1. भारतेन्दुयुगीन नाटक-1850 से 1900 ई.
2. द्विवेदीयुगीन नाटक-1901 से 1920 ई.
3. प्रसादयुगीन नाटक-1921 से 1936 ई.
4. प्रसादोत्तरयुगीन नाटक 1937 से अब तक

भारतेन्दुयुगीन नाटक

हिन्दी में नाट्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन भारतेन्दु द्वारा होता है। भारतेन्दु युग नवोत्थान का युग था। भारतेन्दु देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा से आहत थे। अतः साहित्य के माध्यम से उन्होंने समाज को जाग्रत करने का संकल्प लिया। समाज को जगाने में नाटक सबसे प्रबल सिद्ध होता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को पहचाना और नैराश्य के अन्धकार में आशा का दीप जलाने के लिए प्रयत्नशील हुए।

युग-प्रवर्तक भारतेन्दु ने अनूदित/मौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है : (1) विद्यासुन्दर (1868), (2) रत्नावली (1863), (3) पाखण्ड विखंडन (1872), (4) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873), (5) धनंजय विजय (1873), (6) प्रेम जोगिनी, (1874), (7) सत्यहरिश्चन्द्र (1875), (8) मुद्राराक्षस (1875), (9) कर्पूर मंजरी (1876), (10) विषस्य विषमौषधम् (1876), (11) श्री चन्द्रावली (1875), (12) भारत-दुर्दशा (1876), (13) भारत जननी (1877), (14) नील देवी (1880), (15) दुर्लभ-बन्धु (1880). (16) अन्धेर नगरी (1881), (17) सती प्रताप (1884)।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमौषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गयी है। अपने युग की धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक, पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषधम्' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अधःपतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है—

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।

हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातन्त्र्य' के पक्ष विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

'चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्ज्वल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथा शृंगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनूदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्त्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपान्तरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु माँ-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिख कर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अदभुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:

(क) **पौराणिक धारा**—इसकी तीन उपधाराएँ—(1) रामचरित सम्बन्धी, (2) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक सम्बन्धी हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय है। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मणी परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से सम्बन्धी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रह्लाद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) **ऐतिहासिक धारा**—ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नील देवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) **समस्या प्रधान धारा**-भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गयी और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दुःखिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विधवा विवाह' (1899), बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक नारी-समस्याओं को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या-प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज-सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। फिर भी इनमें सामाजिक जागरूकता मुखरित हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) **प्रेम प्रधान धारा**&रीतिकाल की शृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (1885), शालिग्राम शुक्ल-कृत 'लावण्यवती', सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899) उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, फिर भी इन नाटकों की विषय-वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(ङ) **राष्ट्रीय प्रहसन धारा**-राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नील देवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलायी गयी थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित संक्रांति-काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नव जागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुँह मुहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढ़ियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंधविश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाट्य साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषयवैविध्य पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड,

छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्फित हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति बड़े सजग दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अधःपतन अपनी आँखों से देखा था। चारों ओर रूढ़िग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी वाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए लिखे गये। साथ ही पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है। पाश्चात्य ट्रेजडी की पद्धति पर दुःखान्त नाटक लिखने की परम्परा भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक से प्रारम्भ हुई। इस युग के नाटक एक ओर पारसी कम्पनियों की अश्लीलता और फूहड़पन की प्रतिक्रिया थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और पूर्व की सभ्यता की टकराहट के परिणाम। इसलिए उनमें अविचारित पुरानापन या अविचारित नयापन कहीं नहीं है। अभिनेयता की दृष्टि से ये नाटक अत्यधिक सफल हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी स्वयं नाटकों में भाग लेते थे और हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। नाटकों के माध्यम से जनता को वे जागरण का और आने वाले युग का सन्देश देना चाहते थे। इसी कारण भारतेन्दु-काल में विरचित ये नाटक सुदृढ़ सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे।

अनूदित प्रस्तुत संदर्भ में भारतेन्दु युगीन, नाटकों पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटक अनूदित करने में संलग्न रहे।

1. संस्कृत

भवभूति :	(i) उत्तर रामचरित-देवदत्त तिवारी (1871), नन्दलाल, विश्वनाथ दूबे (1891), लाला सीताराम (1891)।
	(ii) मालती माधव-लाला शालिग्राम (1881), लाला सीता राम (1898)।
	(iii) महावीर चरित-लाला सीताराम (1897)।
कालिदास :	(i) अभिज्ञान शाकुन्तलम्-नन्दलाल विश्वनाथ दूबे (1888)।
	(ii) मालविकाग्निमित्र-लाला सीताराम (1898)।
कृष्णमित्र	प्रबोध चन्द्रोदय-शीतला प्रसाद (1879), अयोध्याप्रसाद चौधरी (1885)।
शुद्रक	मृच्छकटिक-गदाधर भट्ट (1880), लाला सीताराम (1899)।

हर्ष रत्नावली-देवदत्त तिवारी (1872), बालमुकुन्द सिंह (1798)।

भट्ट नारायण वेणीसंहार-ज्वालाप्रसाद सिंह (1897)।

2. बंगला

माइकेल मधुसूदन दत्त : (i) पद्मावती-बालकृष्ण भट्ट (1878)।

(ii) शर्मिष्ठा-रामचरण शुक्ल (1880)।

(iii) कृष्णमुरारी-रामकृष्ण वर्मा (1899)।

द्वारिकानाथ गांगुली : वीरनारी-रामकृष्ण वर्मा (1899)।

राजकिशोर दे : पद्मावती-रामकृष्ण वर्मा (1899)।

मनमोहन वसु: सती- उदित नारायण लाल (1880)।

3. अंग्रेजी

शेक्सपीयर (i) मरचेंट आफ वेनिस (वेनिस के व्यापारी)-आर्या (1888)।

(ii) द कॉमेडी आफ एरर्स (भ्रमजालक)-मुन्शी इमदाद अली, भूल भुलैया-लाल सीताराम (1885)।

(iii) एज यू लाइक इट (मनभावन)-पुरोहित गोपीनाथ (1896)।

(iv) रोमियो जूलियट (प्रेमलीला)-पुरोहित गोपीनाथ (1897)।

(v) मैकबैथ (साहसेन्द्र साहस)-मथुराप्रसाद उपाध्याय (1893)।

जोजेफ एडीसन : केटो कृतान्त-बाबू तोता राम (1879)

भारतेन्दुयुगीन नाटककारों की अनुदित रचनाएँ केवल उनकी अनुवाद वृत्ति का ही दिग्दर्शन नहीं कराती, वरन् सामाजिक जीवन के उन्नयन के लक्ष्य को भी प्रकट करती हैं। अनुवादक उन रचनाओं के माध्यम से वस्तुतः एक नाट्यादर्श प्रस्तुत करना चाहते थे और उन नैतिक तत्त्वों के प्रति भी जागरूक थे जो नव-जागरण में सहायक थे। इस प्रकार भारतेन्दुयुगीन इन नाटकों की विषय वस्तु में वैविध्य मिलता है। रामायण और महाभारत के प्रसंगों को लेकर पौराणिक नाटक बहुतायत से लिखे गये। इसी संदर्भ में ऐसे नाटकों की संख्या भी पर्याप्त कही जा सकती है जो नारी के सतीत्व और पतिव्रता के आदर्श से सम्बन्धित है। सामाजिक नाटकों में भी विषयवस्तु का वैविध्य और विस्तार मिलता है। इस काल में मुख्य रूप से अनमेल विवाह, विधवा विवाह, बहु विवाह, मद्यपान, वेश्या गमन, नारी स्वातन्त्र्य आदि समस्याओं पर विचार किया है। किन्तु युगीन सन्दर्भ के प्रति इस प्रकार की जागरूकता के बावजूद अनुभूति की तीव्रता और नाट्य शिल्प की विशिष्टता के अभाव में इस युग का नाट्य साहित्य की कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक देन नहीं है। फिर भी नाट्य रचना और रंगमंच के लिए जैसा वातावरण इस युग में बन गया था, वैसा हिन्दी साहित्य के किसी काल में सम्भव नहीं हुआ।

द्विवेदीयुगीन नाटक

भारतेन्दु के अनन्तर साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। हिन्दी नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान भारतेन्दु की तुलना में इतना नगण्य है कि नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी युग को अलग से स्वीकार करना और महत्त्व प्रदान करना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु के अवसान के साथ नाटक के हास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अपने युग की समस्याओं को नाट्यरूप प्रदान करने का जो अदम्य साहस भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन द्विवेदी युग में नहीं होते। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे, नाटकों के इस उदयकाल की सामाजिक स्थिति विक्षोभ पैदा करने वाली थी। इस प्रवृत्ति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे, आर्य समाज के आन्दोलन के लेखकों पर सुधारवादी जीवन दृष्टि और शास्त्रार्थ शैली का प्रभाव पड़ा जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक हुआ। चौथे, पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अंधानुकरण के कारण भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रहसनों की प्रवृत्ति भी पनप उठी। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनयपूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया। पाँचवें, द्विवेदी-युग नैतिकता और सुधार का युग था। नैतिकता और आदर्श के प्रतिस्थापन में उनका दृष्टिकोण संस्कृत के नाटककारों की भांति उदारवादी था अतएव भारतेन्दु युग की नवीनता परवर्ती युग के स्वभाव के अनुकूल न थी। अतः कठोर नीतिवादी अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद के फलस्वरूप द्विवेदी युग, भारतेन्दु युग की परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप आलोच्य युग में मौलिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है अनुवाद-कार्य पर अधिक बल रहा है। मौलिक नाटकों में साहित्य की दो धाराएँ प्रमुख हैं— (1) साहित्यिक नाटक (शौकिया रंगमंच), (2) मनोरंजन प्रधान नाटक (व्यावसायिक पारसी रंगमंच) साहित्यिक नाट्य धारा को विकसित करने के उद्देश्य से अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की गई जैसे प्रयाग की 'हिन्दी नाटक मण्डली', कलकत्ते की 'नागरी नाटक मंडल' मुज़फ्फरनगर की 'नवयुवक समिति' आदि। इनमें 'हिन्दी नाट्य-समिति' सबसे अधिक पुरानी थी। सन् 1893 ई. में यह 'रामलीला नाटक मंडली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे—पंडित माधव शुक्ल जो स्वयं अच्छे अभिनेता और रंगकर्मी थे और जिन्होंने राष्ट्रीयता चेतना प्रचार-प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया था। किन्तु हिन्दी रंगमंच समुचित साधन और संरक्षण के अभाव में तथा जनता की सस्ती रुचि के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। फलतः नाटक का साहित्यिक रूप ही सामने आया। संख्या की दृष्टि में आलोच्यकाल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं किन्तु मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथन में परिवर्तित कर दिया गया। अध्ययन की सुविधा के लिए आलोच्य युग के नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपादानों पर रचित नाटक, रोमांचकारी नाटक, प्रहसन और अनूदित नाटक।

पौराणिक नाटक

हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-गुग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों का निःसंकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं—कृष्णचरित सम्बन्धी, रामचरित सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है। रामचरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911), और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला' (1912) उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय' (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (1915), माधव शुक्ल का महाभारत-पूर्वाद्ध (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए हास-परिहास, शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें—गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1985) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक

द्विवेदी युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत्त शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहाँ से होगी' (1915), मिश्र बनूओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं।

व्यावसायिक दृष्टि से लिखे नाटक

इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्प्रफेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थियेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियाँ 'गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे रोमांचकारी नाटक खेलती थीं। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ 'रादक', हुसैन मियाँ 'जर्गफ', मुन्शी विनायक प्रसाद 'ताल्लिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद 'बेताब', आगा मोहम्मद 'हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उच्छृंखल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी. पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबडधोंधों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्टव और मर्यादा का अभाव है।

अनूदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनूदित नाटकों द्वारा पूरी की गई। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अतः कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का अध्ययन बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', 'मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड द्वितीय', 'मैकबेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार 'ओलिवर' के नाटकों को लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनूदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर', 'बभ्रुवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रांगदा' आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु युग तथा प्रसाद युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसादयुगीन नाटककार की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी युग की सीमा में आती हैं परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी युग के लेखकों से पृथक् कर देता है। द्विवेदी युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

प्रसादयुगीन नाटक

प्रसाद का आगमन नाट्य रचना में व्याप्त गतिरोध को समाप्त करने वाले युग-विधायक व्यक्ति के रूप में हुआ। उन्होंने एक प्रवर्तक के रूप में कविता, नाटक तथा निबंध आदि सभी क्षेत्रों में युग का प्रतिनिधित्व किया। डॉ. गुलाबराय का कहना है, 'प्रसाद जी स्वयं एक युग थे।' उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग जितेन्द्र लाल के नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहलमय जीवन से ऊबा हुआ उनका हृदयस्थ कवि उन्हें स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया। उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता का रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया जो हास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की सी ऐतिहासिकता और रवि बाबू की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के दर्शन होते हैं।

प्रसाद की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ-सज्जन (1910), कल्याणी परिणय (1912), प्रायश्चित (1912), करुणालय (1913) और राज्यश्री (1918), द्विवेदी-युग की सीमा के अंतर्गत आती हैं। प्रसाद के इन नाटकों में उनका परम्परागत रूप तथा प्रयोग में भटकती हुई नाट्य दृष्टि ही प्रमुखता से उभर कर सामने आती है। नाटक रचना का प्रारम्भिक काल होने के कारण इन कृतियों में प्रसाद की नाट्य कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। यह दिशा उन्हें विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926) स्कन्दगुप्त (1928), एक घूँट (1930), चन्द्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) में प्राप्त हुई। इन नाटकों में प्रसाद जी ने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया।

'सज्जन' का कथानक महाभारत की एक घटना पर आधारित है। इस नाटक में प्रसाद जी ने परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भारतेन्दुकालीन नाट्य-प्रणाली को अपनाया है। 'कल्याणी-परिणय' भी प्रसाद का प्रारम्भिक प्रयास है, जिसका अंतर्भाव उन्होंने बाद में 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के रूप में किया है। 'करुणालय' बंगला के 'अमित्राक्षर अरिल्ल छंद' की शैली पर लिखा गया गीति-नाटक है। 'प्रायश्चित' हिन्दी का प्रथम दुखांत मौलिक रूपक है। शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रसाद ने इसमें सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाने का प्रयास किया है। सही अर्थों में 'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक है। 'विशाख' प्रसाद की पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटकों में एक विभेदक रेखा है। इनका कथानक साधारण होते हुए भी देश की तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति से ओतप्रोत है यद्यपि प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक ही हैं परन्तु इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं को वाणी देने का विचार प्रसाद ने सर्वप्रथम इसी नाटक में व्यक्त किया है। भूमिका में वे लिखते हैं "मेरी इच्छा

भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयास किया है।” और वह वर्तमान स्थिति परतंत्र भारत के राजनैतिक सामाजिक परिवेश से जुड़ी हुई थी। अपनी सत्ता को स्थानीय बनाये रखने के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों में फूट डालने के लिए अपनाये गये साम्प्रदायिकता, प्रांतीयतावाद के हथकण्डे प्रसाद से छिपे नहीं थे। अतः इतिहास की पीठिका पर उन्होंने वर्तमान के इन प्रश्नों को यथार्थ की दृष्टि से उठाते हुए समन्वयवादी आदर्श समाधान प्रस्तुत किये। युगीन साम्प्रदायिक प्रभावों को आत्मसात करते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों में ब्राह्मण-बौद्ध धार्मिक संघर्षों को रूपायित किया है। ‘जनमेजय का नागयज्ञ’ नाटक आर्यों और नागजति तथा आर्य-नाग-संघर्ष की पृष्ठभूमि में रचा गया है। ‘अजातशत्रु’ में आर्य जनपदों का पारस्परिक संघर्ष परोक्ष रूप में युगीन साम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिरूप है। इस प्रकार अपनी इन प्रौढ़ कृतियों में प्रसाद ने जातीय, क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया है। इस दृष्टि से ‘स्कन्दगुप्त’ और ‘चन्द्रगुप्त’ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ‘कामना’ और ‘एक घूंट’ भिन्न कोटि के नाटक हैं। इनकी कथावस्तु ऐतिहासिक नहीं है। कथ्य की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं। इनमें प्रसाद ने भौतिक विलासिता का विरोध किया है। ‘कामना’ में विभिन्न भावों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए उसे प्रतीक नाटक कहा जा सकता है। ‘एक घूंट’ एकांकी है और उसमें प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की स्थिति, जीवन का लक्ष्य और स्त्री-पुरुष की प्रेम-भावना के सामंजस्य को चित्रित किया है। ‘ध्रुवस्वामिनी’ प्रसाद की अन्तिम कृति है। अन्य नाटकों में प्रसाद विशेष रूप से राजनैतिक प्रश्नों के यथार्थ से जूझते रहे हैं, परन्तु ‘ध्रुवस्वामिनी’ में सामाजिक जीवन की वर्तमान युगीन नारी समस्या पर बौद्धिक विचार विमर्श कर यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। नारी-जीवन की इस सामाजिक समस्या के प्रति प्रसाद का आकर्षण वर्तमान नारी-आन्दोलन का ही परिणाम है। आज के समाज में नारी की स्थिति, दासता की श्रृंखला से उसकी मुक्ति, विशिष्ट परिस्थितियों में पुनर्विवाह की समस्या को बड़े साहस, संयम, तर्क और विचार एवं धर्म की पीठिका पर स्थित करके इस नाटक में सुलझाया गया है।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने हिन्दी नाटक की प्रवहमान् धारा को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा किया। वे एक सक्षम साहित्यकार थे। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध ममता थी। उन्हें विश्वास था कि भारतीय संस्कृति ही मानवता का पथ प्रशस्त कर सकती है। इसी कारण अपने नाटकों द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के भव्य रूप की झांकी दिखाकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ अपने देश के अधुनातम निर्माण की पीठिका भी प्रस्तुत की है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्मृति को भारत की सोई हुई जनता के हृदय में जगाया था, प्रसाद ने नाटकों में उसी संस्कृति के उदात्त और मानवीय रूप पर अपनी भावी संस्कृति के निर्माण की चेतना प्रदान की। पर यह समझना भी भूल होगी कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए ही नाटकों की रचना की। वस्तुतः उनका नाट्य साहित्य ऐतिहासिक होते हुए भी सम-सामयिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं है, वह प्रत्यक्ष को लेकर मुखर है और उनमें लोक-संग्रह का प्रयत्न है, राष्ट्र के उद्बोधन की आकांक्षा है।

प्रसाद से पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था। जिस समय भारतेन्दु ने नाट्य-रचना की शुरुआत की, उनके सामने पहले से निश्चित, प्रतिष्ठित हिन्दी का कोई रंगमंच न था, अतः उन्होंने संस्कृत, लोकनाटक एवं पारसी रंगमंच शैली की विभिन्न रंगपरम्पराओं को सुधारवादी यथार्थ कथ्य के अनुरूप मोड़ देने का स्तुत्य

प्रयास किया। प्रसाद के युग तक नाटकों में पारसी रंगशिल्प का स्वरूप निर्धारित हो चुका था, अतः पारसी रंगमंच की अतिरंजना, चमत्कार, फूहड़ता, शोखभाषा, चुलबुले संवाद, शेरशायरी के घटियापन की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय नाटकों की रचना की। दार्शनिकता, सांस्कृतिक बोध, उदात्त कल्पना, काव्यमय अलंकरण, दुरूह भाषा का विन्यास उनकी उपलब्धि था। फिर भी साहित्यिक और कलात्मक वैशिष्ट्य होते हुए भी प्रसाद में नाट्य शिल्प के अनेक दोष दिखाई देते हैं। एक तथ्य यह है कि प्रकारान्तर से उन्होंने अतिरंजना की रूढ़ि को किंचित् परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। यह परिवर्तन प्रमुखतः शेक्सपीयर के जीवन-बोध, एवं रंगविधान के प्रभावस्वरूप ही आया था। शेक्सपीयर का रोमानी बोध एवं नियतिवाद संभवतः भारतीय युगीन परिवेश के कारण भी स्वतः उद्भूत होकर प्रसाद की चेतना पर छा गया था। इन्हीं कारणों से प्रसाद मूलतः कवि, दार्शनिक तथा संस्कृति के जागरूक समर्थक थे। जीवन दृष्टि के अनुरूप उन्होंने अपने नाटकों की रचना स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणालियों को आधार बनाकर कल्पना, भावुकता, सौन्दर्य-प्रेम, अतीत के प्रति अनुराग, उच्चादर्शों के प्रति मोह तथा शैली शिल्प की स्वच्छन्दता आदि को ग्रहण किया। किन्तु ऐसे साहित्यिक नाटकों के अनुरूप रंगमंच हिन्दी में नहीं था इसलिए अन्य सभी दृष्टियों से सफल होते हुए भी प्रसाद के नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं हो सके। इधर हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में नए प्रयोग हो रहे हैं जिससे आज के रंगकर्मी, प्रसाद के नाटकों को चुनौती के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। उनके नाटकों को इसीलिए सर्वथा अभिनेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें से कुछ छुटपुट रूप से उनके जीवन काल में ही खेले गये थे। फिर भी आकार की विपुलता, दृश्यों की भरमार, चरित्र-बाहुल्य और विलक्षण दृश्य-योजना उनके नाटकों को रंगमंच के लिए अति कठिन बना देती है।

आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद के बाद हरिकृष्ण प्रेमी को गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रसाद-युग में 'प्रेमी' ने 'स्वर्ण-विहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे हैं। इनमें 'स्वर्ण विहान', गीतिनाट्य है और शेष गद्य नाटक। प्रसाद ने जहाँ प्राचीन भारत का चित्रण करते हुए सत्य, प्रेम, अहिंसा व त्याग का संदेश दिया, वहाँ प्रेमी जी ने मुस्लिम-युगीन भारत को नाट्य-विषय के रूप में ग्रहण करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। देश के उत्थान और संगठन के लिए इनके नाटक राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने वाले हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के अनुयायी हैं। परन्तु उन्होंने प्रसाद जी की भाँति अपने नाटकों को साहित्यिक और पाठ्य ही न रखकर उनको रंगमंच के योग्य भी बनाया है। साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय ही उनके नाटकों की विशेषता है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परम्परा का अनुसरण न करके पाश्चात्य नाट्यकला को अपनाया है। इन नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संवाद पात्रानुकूल एवं शैली सरल व स्वभाविक है।

उपर्युक्त प्रमुख नाट्य कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में धार्मिक-पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अत्यधिक हुई। इन नाटकों में कलात्मक विकास विशेष रूप से नहीं हुआ, किन्तु युग की नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। धार्मिक नाट्यधारा के अन्तर्गत कृष्ण चरित-राम चरित, पौराणिक तथा अन्य सन्त महात्माओं के चरित्रों को लेकर रचनाएँ प्रस्तुत की गईं। इस धारा की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं-अम्बिकादत्त त्रिपाठी कृत 'सीय-स्वयंवर' (1918), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी' (1921), राम नरेश त्रिपाठीकृत 'सुभद्रा' (1924), तथा

‘जयन्त’ (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत ‘सावित्री सत्यवान’, गौरीशंकर प्रसाद-कृत- ‘अजामिल चरित्र नाटक’ (1926), परिपूर्णानन्द वर्मा-कृत ‘वीर अभिमन्यु नाटक’ (1927), वियोगी हरि-कृत, ‘छद्मयोगिनी’ (1929) और ‘प्रबुद्ध यामुन’ अथवा ‘यामुनाचार्य चरित्र’ (1929), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी-कृत ‘तुलसीदास’ (1934) लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत श्री कृष्णावतार’, किशोरी दास वाजपेयी-कृत ‘सुदामा’ (1934), हरिऔध-कृत ‘प्रद्युम्न विजय व्यायोग’ (1939), सेठ गोविन्ददास-कृत ‘कर्त्तव्य’ (1936) आदि। राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता होने के कारण धार्मिक नाटकों में भी राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ। नाटकों में अति-नाटकीय और अति-मानवता का बहिष्कार किया गया है। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को पूर्ण रूप से हटाने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार की रचनाओं में नाटककारों ने प्रायः कथावस्तु प्राचीन साहित्य से लेकर उसी पुराने ढाँचे में नई बुद्धिवादी धाराओं तथा विचारधाराओं के अनुसार आधुनिक युग की समस्याओं को उनमें फिट कर दिया है।

प्रसाद युग में इतिहास का आधार लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत की गईं। इस समय के नाटककारों की दृष्टि इतिहास की ओर विशेष रूप से गई क्योंकि यह युग पुनरुत्थान और नवजागरणवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित था। फलतः जन साधारण में अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा अपनी महान सांस्कृतिक चेतना का संदेश देना इन नाटककारों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस काल की गौण ऐतिहासिक कृतियों में गणेशदत्त इन्द्र-कृत ‘महाराणा संग्रामसिंह’ (1911), भंवरलाल सोनी-कृत ‘वीर कुमार छत्रसाल’ (1923), चन्द्रराज भण्डारी-कृत ‘सम्राट’ अशोक (1923), ज्ञानचन्द्र शास्त्री-कृत ‘जयश्री’ (1924), प्रेमचन्द-कृत ‘कर्बला’ (1928), जिनेश्वर प्रसाद भायल-कृत ‘भारत गौरव’ अर्थात् ‘सम्राट चन्द्रगुप्त’ (1928), दशरथ ओझा-कृत ‘चित्तौड़ की देवी’ (1928) और प्रियदर्शी सम्राट अशोक (1935), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द-कृत ‘प्रताप प्रतिज्ञा’ (1929), चतुरसेन शास्त्री-कृत ‘उपसर्ग’ (1929) और ‘अमर राठौर’ (1933), उदयशंकर भट्ट-कृत ‘विक्रमादित्य’ (1929) और ‘दाहर अथवा सिंध पतन’ (1943), द्वारिका प्रसाद मौर्य-कृत ‘हैदर अली या मैसूर-पतन’ (1934), धनीराम प्रेम-कृत ‘वीरांगना पन्ना’ (1933) जगदीश शास्त्री-कृत ‘तक्षशिला’ (1937), उमाशंकर शर्मा-कृत ‘महाराणा प्रताप’ आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। इन नाटककारों ने आदर्शवादी प्रवृत्ति के बावजूद स्वभाविकता का बराबर ध्यान रखा और कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों को स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने की चेष्टा की। पुरानी मान्यताओं तथा अतिलौकिक वर्णनों के स्थान पर वास्तविक कथा-वस्तु को प्रयोग में लाया गया है। इन चरित्रों में संघर्ष का भी समावेश हुआ। सारांश यह है कि इन नाटकों के कथानक महत् हैं, सभी चरित्र दार्शनिक और आदर्शवादी हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। ये नाट्य-कृतियाँ हिन्दी नाट्य-कला विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा करती हैं।

इस युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान तो रहा ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक नाटकों की रचना भी बहुतायत से हुई है। सामाजिक नाटकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा ‘कौशिक’ कृत ‘अत्याचार का परिणाम’ (1921) और ‘हिन्द विधवा नाटक’ (1935), प्रेमचन्द-कृत ‘संग्राम’ (1922) ईश्वरी प्रसाद शर्मा-कृत ‘दुर्दशा’ (1922), सुदर्शन-कृत ‘अंजना’ (1923), ‘आनरेरी मैजिस्ट्रेट’ (1929), और ‘भयानक’ (1937), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत ‘कजूस की खोपड़ी’ (1923) और ‘अंगूर की बेटी’ (1929), बैजनाथ चावला-कृत ‘भारत का आधुनिक समाज’ (1929), नर्मदेश्वरी प्रसाद ‘राम’-कृत

‘अछूतोद्धार’ (1926), छविनाथ पांडेय-कृत ‘समाज’ (1929), केदारनाथ बजाज-कृत ‘बिलखती विधवा’ (1930), जमनादास मेहरा-कृत ‘हिन्दू कन्या’ (1932), महादेव प्रसाद शर्मा-कृत ‘समय का फेर’, बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत ‘विचित्र विवाह’ (1932) और ‘समाज सेवक’ (1933), रघुनाथ चौधरी-कृत ‘अछूत की लड़की या समाज की चिनगारी’ (1934), महावीर बेनुवंश-कृत ‘परदा’ (1936), बेचन शर्मा ‘उग्र’-कृत ‘चुम्बन’ (1937) और ‘डिक्टेटर’ (1937), रघुवीर स्वरूप भटनागर-कृत ‘समाज की पुकार’ (1937), अमर विशारद-कृत ‘त्यागी युवक’ (1937) चन्द्रिका प्रसाद सिंह-कृत ‘कन्या विक्रय या लोभी पिता’ (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों-बाल विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, नारी स्वतंत्रता आदि का चित्रण करते हुए उनके उन्मूलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इन नाटकों में समुन्नत समाज की स्थापना का प्रयास किया गया है, भले ही नाट्यकला की दृष्टि से ये नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं।

आलोच्य युग में शृंगार-प्रधान नाटकों का प्रायः हास हो गया था। थोड़ी बहुत प्रतीकवादी परम्परा चल रही थी, किन्तु उसकी गति बहुत धीमी थी। प्रतीक का महत्त्व वस्तुतः सांकेतिक अर्थ में है। इस अवधि में प्रसाद की ‘कामना’ के पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्त-कृत ‘ज्योत्स्ना’ (1934) इस शैली की उल्लेखनीय रचना है। इसमें पंत की रंगीन कल्पनामयी झाँकी का मनोरम स्वरूप व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त एक नाट्य-धारा व्यंग्य-विनोद प्रधान नाटकों को लेकर थी। इसको प्रमुख रूप से समाज की त्रुटियों, रूढ़िगत विचारों अथवा किसी व्यक्ति विशेष की विलक्षण प्रवृत्तियों पर चोट करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार से किसी भी समस्या पर किया हुआ प्रहार ऊपर से तो साधारण सा प्रतीत होता है। किन्तु तनिक भी ध्यान देने पर उसके पीछे छिपा हुआ अर्थ-गाम्भीर्य स्पष्ट हो जाता है। हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटकों में जी.पी. श्रीवास्तव का ‘दुमदार आदमी’ (1919), ‘गड़बड़ झाला’ (1919), ‘नाक में दम उर्फ जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ मियां का जूता मियां के सर’ (1926), ‘भूलचूक’ (1928), ‘चोर के घर छिछोर’ (1933), ‘चाल बेढव’ (1934), ‘साहित्य का सपूत’ (1934), ‘स्वामी चौखटानन्द’ (1936) आदि प्रसिद्ध हैं। जनता में इन नाटकों का खूब प्रचार हुआ परन्तु रस और कला की दृष्टि से ये निम्नकोटि की रचनाएँ हैं। इस युग में कतिपय गीति-नाटकों की भी रचना हुई। इसमें प्रमुख हैं-मैथिलीशरण गुप्त का ‘अनघ’ (1928) हरिकृष्ण प्रेमी-कृत ‘स्वर्ण विहान’ (1937), भगवतीचरण वर्मा-कृत ‘तारा’, उदयशंकर भट्ट का ‘मत्स्यगंधा’ (1937) और ‘विश्वमित्र’ (1938)। ‘स्वर्ण विहान’ में जीवन की बहिरंग व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और अन्य में आन्तरिक क्रिया-व्यापारों का चित्रण है। भाव प्रधान होने के कारण इन नाटकों में कार्य-व्यापार तथा घटना चक्र की कमी मिलती है। भावातिरेक ही भाव-नाट्यों की प्राणभूत विशेषता है।

इस प्रकार प्रसाद युग हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में नवीन क्रांति लेकर आया। इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का सजीव चित्रण हुआ है किन्तु रंगमंच से लोगों की दृष्टि हट गयी थी। जो नाटक इस युग में रचे गये उनमें इतिहास तत्त्व प्रमुख था और रंगमंच से कट जाने के कारण वे मात्र पाठ्य नाटक बनकर रह गए। कथ्य के स्तर पर वे देश की तत्कालीन समस्याओं की ओर अवश्य लिखे गये किन्तु उनमें आदर्श का स्वर ही प्रमुख रहा। फिर भी इतिहास के माध्यम से अपने युग की यथार्थ समस्याओं को अंकित करने में वे पीछे नहीं रहे।

प्रसादोत्तरयुगीन नाटक (1937 से अब तक)

प्रसादोत्तरयुगीन नाटक अधिकाधिक यथार्थ की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भारत के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य था राष्ट्र की स्वाधीनता की प्राप्ति और विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करना, फलस्वरूप व्यापक स्तर पर पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण की लहर फैल गई। इस समूचे काल में पुनर्जागरण की शक्तियों का प्रभाव होने के कारण चेतना के स्तर पर भावुक, आवेशात्मक, आदर्शवादी, प्रवृत्तियों से आक्रांत होना नाटककारों के लिए स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल तक किंचित परिवर्तनों के साथ सभी रचनाकारों की दृष्टि मूलतः आस्था, मर्यादा एवं गौरव के उच्चादर्शों से मंडित रही। भारतेन्दु ने अपनी अद्भुत व्यंग्यशक्ति एवं समाज-विश्लेषण की पैनी दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया परन्तु उनकी मूल चेतना सुधारवादी आग्रहों का परिणाम होने के कारण आस्थामूलक थी। द्विवेदी युग में भी दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन आदर्शवादी मर्यादा एवं नैतिकता के कठोर बन्धन के कारण यथार्थ के स्वर मद्धिम पड़ गए। प्रसादयुगीन नाटक की मूलधारा भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आदर्श चेतना से सम्बन्धित थी परन्तु खल पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा सद्पात्रों की जीवन चरित्र-सृष्टि में यथार्थ चेतना को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी नाट्य साहित्य में इब्सन् एवं शाँ द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यान्दोलन ने भारतीय नाट्य साहित्य की गतिविधियों को भी प्रेरित एवं प्रभावित किया। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने समस्या नाटकों का सूत्रपात करके बुद्धिवादी यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का दावा किया है। परन्तु सिद्धांत एवं प्रयोग में पर्याप्त अन्तर पाते हुए हम देखते हैं कि एक ओर वैचारिक धरातल पर प्रकृतवाद सुलभ जीवन के क्रांतिव्यंजक सम्बन्ध उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर समाधान खोजते हुए परम्परा के प्रति भावुकता-सिक्त दृष्टि भी पाई जाती है। 'भावात्मकता और बौद्धिकता' का घपला होने के कारण उनके नाटकों का मूल स्वर यथार्थ से बिखर जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अन्य युगीन सामाजिक समस्याओं के साथ राष्ट्र की मुक्ति का प्रश्न सभी नाटककारों की चेतना पर छाया हुआ था। स्वाधीन भारत से उन्हें अनेक प्रकार की मीठी अपेक्षाएँ थीं, परन्तु विडम्बना यह है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जीवन समस्याओं से आक्रांत, बोझिल और जटिल हो उठा। परिवेश के दबाव से ही यथार्थ बोध की शुरुआत हुई।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक का लेखन प्रसाद-युग में ही प्रारम्भ किया था। उनके 'अशोक' (1927), 'संन्यासी' (1829), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), 'राक्षस का मन्दिर' (1932), 'राजयोग' (1934), 'सिन्दूर की होली' (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटक इसी काल के हैं। किन्तु मिश्र जी के इन नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यधारा से भिन्न प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु और प्रसाद-युग के नाटकों का दृष्टिकोण मूलतः राष्ट्रीय और सांस्कृतिक था। यद्यपि इस युग के नाटकों में आधुनिक यथार्थवादी धारा का प्रादुर्भाव हो चुका था। तथापि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों के द्वारा राष्ट्रीयता का उद्घोष इस युग के नाटककारों का प्रमुख लक्ष्य था। अतः उसे हम सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि कह सकते हैं, जिनमें प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और नयी यथार्थवादी चेतना में समन्वय और सन्तुलन परिलक्षित होता है। मिश्र जी नयी चेतना के प्रयोग के अग्रदूत माने जाते हैं। डॉ. विजय बापट के मतानुसार नयी बौद्धिक चेतना का विनियोग सर्वप्रथम उन्हीं के तथाकथित समस्या नाटकों में मिलता है। इस बौद्धिक चेतना और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी चिन्तकों के प्रभाव से हुआ था। डार्विन द्वारा प्रतिपादित विकासवादी सिद्धान्त, फ्रायड के मनोविश्लेषण

सिद्धान्त और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी सिद्धान्तों ने यूरोप को ही नहीं, भारतीय जीवन पद्धति को भी प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप जीवन में आस्था और श्रद्धा की बजाय तर्क को प्रोत्साहन मिला। पश्चिम में इस प्रकार की बौद्धिक चेतना ने समस्या नाटक को जन्म दिया। उन्हीं की प्रेरणा से मिश्र जी ने भी हिन्दी नाटकों में भावुकता, रसात्मकता और आनन्द के स्थान पर तर्क और बौद्धिकता का समावेश किया। साथ ही द्रष्टव्य है कि बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए भी वे परम्परा-मोह से मुक्त नहीं हो पाए। युगीन मूल्यगत अन्तर्विरोधी चेतना समान रूप से उनके प्रत्येक नाटकों में देखी जा सकती है। इनके नाटकों का केन्द्रीय विषय स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एवं सेक्स है। राष्ट्रोद्धार, विश्व-प्रेम आदि के मूल में भी मिश्र जी ने काम भावना को ही रखा है, जो परितृप्ति के अभाव में अपनी दमित वृत्ति को देश सेवा आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है और प्रायः इस प्रकार परितृप्ति के साधन जुटा लेती है।

मिश्र जी के नाटकों के साथ हिन्दी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया है। मिश्र जी के सभी नाटक तीन अंकों के हैं। इनमें इब्सन की नाट्य पद्धति का अनुसरण कर किसी भी अंक में बाह्यतः कोई दृश्य विभाजन नहीं रखा गया है यद्यपि दृश्य-परिवर्तन की सूचना यत्र-तत्र अवश्य दे दी जाती है। प्रेम, विवाह और सेक्स के क्षेत्र में विघटित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए मिश्र जी ने शिल्पगत नवीनता को अपनाया है। पात्र समस्या के सम्बन्ध में तर्कमूलक वाद-विवाद करते हुए दिखाई देते हैं। कार्य-व्यापार के अभाव से इनके नाटकों में रुक्षता आ गई। जिसके फलस्वरूप प्रभावान्विति खण्डित हो गई। रसात्मकता, प्रभावान्विति के स्थान पर बौद्धिक आक्रोश और उत्तेजना ही इनके नाटकों में प्रधान है। लेकिन भावुकता के कारण इनके नाटकों का शिल्पगत गठन प्रभावित हुआ है। इस अन्तर्विरोध के रहते हुए भी इनके नाटक अकलात्मक नहीं कहे जा सकते।

उपेन्द्रनाथ 'अशक' उन नाटककारों में हैं जिन्होंने प्रसादोत्तर काल में नाट्य परम्परा को निर्भीक और बुनियादी यथार्थ की मुद्रा प्रदान की। काल-क्रम के अनुसार उनके प्रमुख नाटक हैं- 'जय-पराजय' (1937), 'स्वर्ग की झलक' (1938), 'छठा बेटा' (1940), 'कैद' (1943-45), 'उड़ान' (1943-45), 'भंवर' (1943), 'आदि मार्ग' (1950), 'पैतरे' (1952), 'अलग-अलग रास्ते' (1944-53), 'अंजो दीदी' (1953-54), 'आदर्श और यथार्थ' (1954) आदि। अशक के प्रायः सभी नाटकों में विकसित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इनके नाटक सुगठित, स्वाभाविक, सन्तुलित एवं चुस्त बन पड़े हैं। उच्च मध्य वर्गीय समाज की रुढ़ियों, दुर्बलताओं, उनके जीवन में व्याप्त 'कृत्रिमता', दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश करना उनके नाटकों का मूलभूत कथ्य है। यह कथ्य समाज के स्थूल यथार्थ से सम्बन्धित है। कथ्य की स्थूलता और सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता ही अशक के नाटकों की सीमा है, तथापि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने जीवन और समाज को एक आलोचक की दृष्टि से देखा है। इनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनका योगदान हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक विशेष उपलब्धि है।

आलोच्य-युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककार यथा-सेठ गोबिन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' आदि भी नाट्य साहित्य को समृद्ध करते रहे। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (1942), 'शशि गुप्त' (1942) आदि पौराणिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), 'सन्तोष कहाँ' (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के

‘छाया’ (1941) और ‘बन्धक’ (1940) सामाजिक नाटक हैं। दोनों नाटकों में आर्थिक शोषण एवं विषमता का यथार्थ मुखरित है। ऐतिहासिक नाटकों में ‘आहुति’ (1940), ‘स्वप्नभंग’ (1940), ‘विषपान’ (1945), ‘साँपों की सृष्टि’, ‘उद्धार’ आदि उल्लेखनीय हैं। ‘अमृत-पुत्री’ (1978) अनवीनतम ऐतिहासिक नाटक है। गोविन्द वल्लभ पंत ने आलोच्य युग में ‘अन्तःपुर’ का छिद्र (1940), ‘सिन्दूर बिन्दी’ (1946) और ‘ययाति’ (1951) नाटकों की रचना की। पन्त जी ने ‘कला के लिए कला’ की भावना से प्रेरित होकर नाटकों की रचना अवश्य की है, किन्तु उनके नाटक उद्देश्य से रहित नहीं हैं। उन्होंने जीवन की गहरी उलझनों एवं समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। पंत ने यद्यपि प्रसाद-युग की परम्परा का निर्वाह किया है, किन्तु उनके परवर्ती नाटकों में सामाजिक चेतना अधिकाधिक मुखर होती गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने ‘गरुडध्वज’ (1945), ‘नारद की वीणा’, ‘वत्सराज’ (1950) ‘दशाश्वमेघ’ (1950), ‘वितस्ता की लहरें’ (1953), ‘जगद्गुरु’, ‘चक्रव्यूह’ (1953), ‘कवि भारतेन्दु’ (1955), ‘मृत्युञ्जय’ (1958) ‘चित्रकूट’, ‘अपराजित’, ‘धरती का हृदय’ आदि नाटकों की रचना की। सभी नाटकों में वर्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं, उनकी संशयात्मक मनः स्थिति, उनकी कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का स्वाभाविक और मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में ‘राधा’ (1961), ‘अन्तहीन-अन्त’ (1942) ‘मुक्तिपथ’ (1944) ‘शक विजय’ (1949), ‘कालीदास’ (1950) ‘मेघदूत’ (1950), ‘विक्रमोर्वशी’ (1950), ‘क्रांतिकारी’ (1953), ‘नया समाज’ (1955), ‘पार्वती’ (1962), ‘मत्स्यगंध’ (1976), आदि हैं। भट्ट जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। इसमें इतिहास और मिथक के बीच में यथार्थ और समस्या का अहसास भी दिखाई देता है। सामाजिक नाटकों के माध्यम से भट्ट जी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का ‘समर्पण’ (1950) और ‘गौतम नन्द’ (1952) ख्याति प्राप्त रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य साहित्यकारों ने भी नाटक के क्षेत्र में अवतरण किया, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। इनमें बैकुण्ठनाथ दुग्गल, वृन्दावनलाल वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी काल में स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक में परिवर्तन की एक नई स्थिति दिखाई देती है। प्रसादोत्तर नाटक पहले चरण में यथार्थवादी प्रवृत्ति से अनुप्राणित हुआ और उसके बाद इस युग में समस्यामूलक नाटक का आविर्भाव हुआ। किन्तु स्वतंत्रता के बाद सामाजिक यथार्थ और समस्या के प्रति जागरूकता के साथ-साथ नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के कई नए आयाम उभरे। इसके अतिरिक्त स्थूल यथार्थ के प्रति नाटककार के दृष्टिकोण में भी अन्तर आया।

युगीन परिवेश के ऐतिहासिक संदर्भों में पाँचवें दशक तक जीवन के समस्या संकुल होने पर भी आम जनता की स्थिति में सुधार और परिवर्तन आने की अभी धुंधली सी आशा दिखाई दे रही थी परन्तु छठे दशक के बाद से मीठे मोहक सपने बालू की भीत की भांति ढह गए, परिवेश का दबाव बढ़ा, मोहासक्ति भंग हुई और आज परिवेशगत यथार्थ अधिक नंगा होकर सामने आ रहा है। यथार्थ बोध का सही अभिप्राय मोहभंग की इस प्रक्रिया से ही जोड़ा जा सकता है। जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल आदि नाटककारों ने अपनी ऐतिहासिक एवं सामाजिक रचनाओं द्वारा कुछ सीमाओं के साथ यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया। ‘जगदीशचन्द्र माथुर’ के चार नाटक प्रकाशित हुए हैं- ‘कोणार्क’ (1954), ‘पहला राजा’ (1969),

‘शारदीया’ तथा ‘दशरथनन्दन’। इन नाटकों में क्रमशः मार्क्स एवं फ्रायड के प्रभावसूत्रों को आत्मसात करते हुए छायावादी रोमानी कथास्थितियों की सृष्टि करने में माथुर की दृष्टि यथार्थवादी एवं आदर्शवादी, कल्पना तथा स्वच्छन्दतावादी भावुकता को एक साथ ग्रहण करती है। परिणामतः उनके नाटकों में अन्तर्निहित समस्याएँ जीवन के यथार्थ को व्याख्यायित करते हुए भी यथार्थवादी कलाशिला में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। समस्याओं का विश्लेषण एवं विकास बौद्धिक एवं तार्किक क्रिया द्वारा प्रेरित नहीं है। कोणार्क में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष की समस्या धर्मपद के तार्किक उपकथनों के माध्यम से विश्लेषित हुई हैं। परन्तु ‘शारदीया’ एवं ‘पहला-राजा’ की समस्याएँ प्रगतिशील एवं हासशील मूल्यों के संघर्ष की भूमि पर अवतरित होते हुए भी बौद्धिक एवं तार्किक प्रक्रिया के अभाव में यथार्थवादी कला की दृष्टि से हमारी चिन्तन शक्ति को उदबुद्ध नहीं करती क्योंकि माथुर का विशेष बल आन्तरिक अनुभूतियों एवं मानवीय संवेदना को जगाने पर है। फलस्वरूप उन्होंने काव्यात्मकता एवं रसोत्कर्ष के साधनों का सहारा लिया है। अपनी विचारधारा के अनुरूप ही जगदीश चंद्र माथुर ने नाटकीय कला को संस्कृत एवं लोकनाट्य तथा यथार्थवादी मंच की विशेषताओं से अभिमंडित किया है। काव्य-तत्त्व, अलंकरण एवं रस परिपाक से सम्बन्धित तत्त्व उन्होंने संस्कृत नाटकों से ग्रहण किए हैं। संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व का तत्त्व पाश्चात्य यथार्थवादी नाटक-शिल्प का प्रभाव है। संक्षेप में, एक ऐसे मंच की परिकल्पना पर उनका ध्यान केन्द्रित रहा है जो बहुमुखी हो, एक ही शैली में सीमित नहीं हो, भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक हो।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक ने पाश्चात्य प्रभाव से जो नये आयाम ग्रहण किए उनकी प्रथम अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती के ‘अन्धायुग’ में प्रकट हुई है। पश्चिम में दो महायुद्धों के बाद नाटक के क्षेत्र में कथ्य और इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियों के कारण जीवन मूल्यों में भी जो बड़ा भारी परिवर्तन आया उसकी अभिव्यक्ति भी नाटक में हुई। भारत में समानान्तर सामाजिक परिस्थिति तो नहीं आई किन्तु पश्चिम की विचारधारा का उस पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। नई कविता और नई कहानी उससे अनुप्राणित थी ही, हिन्दी नाटक को भी उससे एक दिशा मिली। ऐसी स्थिति में आधुनिक भाव-बोध को उजागर करने का प्रयास हुआ और धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने उसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ. धर्मवीर भारती के ‘अन्धा युग’ (1955) गीति-नाटक ने हिन्दी गीत नाट्य-परम्परा को एक नया मोड़ दिया है। इसमें नाटककार ने महाभारत के युद्ध को अनीति, अमर्यादा और अर्ह-सत्य से युक्त माना है। इसीलिए उन्होंने इस काल को अन्धायुग कहा है। इस नाटक में मिथकीय पद्धति द्वारा विगत और आगत का समन्वय कर, निरन्तरता में आस्था उत्पन्न करने का सघन प्रयास ‘भारती’ ने किया है। इसमें अस्तित्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है। ‘अन्धायुग’ के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त के ‘रजतशिखर’, ‘शिल्पी’ और ‘सौवर्ण’ में संगृहीत गीतिनाट्य, गिरजाकुमार माथुर का ‘कल्पान्तर’, सृष्टि की साँझ और अन्य ‘काव्य-नाटक’ में संगृहीत सिद्धान्त कुमार के पाँच गीतिनाट्य-‘सृष्टि की साँझ’, ‘लोह देवता’, ‘संघर्ष’, ‘विकलांगों का देश’ और ‘बादली का शाप’ तथा दुष्यन्तकुमार के गीतिनाटक ‘एक कण्ठ विषपायी’ (1963) आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के नाटक हैं:- ‘अन्धा कुआँ’ (1955), ‘मादा कैक्टस’ (1959), ‘तीन आँखों वाली मछली’ (1960), ‘सुन्दर रस’, ‘सूखा सरोवर’ (1960), रक्त कमल (1961), ‘रात रानी’ (1962),

‘दर्पण’ (1963) ‘सूर्यमुख’ (1968), ‘कलंकी’, ‘मिस्टर अभिमन्यु’ (1971), ‘करफ्यू’ (1972) आदि। ‘अन्धा कुआँ’ में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न ग्राम्य-जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण है। ‘मादा कैक्टस’, ‘सुन्दर रस’, ‘सूखा सरोवर’ और ‘रक्त कमल’ उनके प्रतीक नाटक हैं। ‘तोता मैना’ नाटक टेकनीक के नये प्रयोगों को प्रस्तुत करता है। यह नाटक लोकवृत्त पर आधारित है। ‘दर्पण’ और ‘रातरानी’ समस्या नाटक हैं। दर्पण में मनुष्य को अपने वास्तविक रूप की तलाश में भटकते हुए दिखाया गया है। ‘कलंकी’ नाटक में अनेक जटिल प्रश्नों यथा स्र्क्रांतिकालीन लोकचेतना को प्रस्तुत करना, आज के समय में भी कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास देखना, यथार्थ का सामना करने से कतराना आदि को लोकरंगमंचीय संस्कृति, अभिव्यंजनावादी नाट्य-संरचना में प्रस्तुत किया गया है। ‘सूर्य-मुख’ में महाभारत-युद्ध के बाद की घटना ली गयी है। इस नाटक पर ‘अन्धायुग’ और ‘कनुप्रिया’ की स्पष्ट छाप है। ‘मिस्टर अभिमन्यु’ और ‘करफ्यू’ आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं। डॉ. लाल अपने चारों ओर के परिवेश और युग जीवन के प्रति सजग हैं। उनका लक्ष्य समाज की विरूपता को संयम और तर्क के साथ चित्रित कर समाज को बदलते जीवन-मूल्यों और नैतिक मानदंडों से अवगत कराना है।

हिन्दी नाटकों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर ‘मोहन राकेश’ ने एक नये युग की स्थापना की है। उनका ‘आषाढ़ का एक दिन’ (1956), ‘लहरों के राजहंस’ (1963) तथा ‘आधे-अधूरे’ (1969) नाटक निश्चय ही ऐसे आलोक स्तम्भ हैं जो सुदूर भविष्य में भी हिन्दी-नाटक को एक नवीन गति-दिशा प्रदान करते रहेंगे। मानवीय सम्बन्धों में विघटन के कारण टूटते हुए व्यक्ति के आभ्यन्तर यथार्थ का चित्रण करना इन नाटकों का केन्द्रीय कथ्य एवं मूल स्वर है। ‘आषाढ़ का एक दिन’ कवि कालिदास और उसकी बाल-संगिनी मल्लिका के प्रेम और संघर्ष की कथा पर आधारित है। कालिदास अपने परिवेश एवं मल्लिका से कट जाने के कारण जीवन के नये अर्थ की तलाश में निकल पड़ता है। ‘लहरों के राजहंस’ अश्वघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य ‘सौन्दरानन्द’ पर आधारित है। इस नाटक में नन्द सुन्दरी और गौतम दोनों से निरपेक्ष हो जाने के बाद अलगाव की स्थिति में आंतरिक सत्य की तलाश करने के लिए चल पड़ता है। उनका जीवन-बोध अस्तित्ववाद की वैचारिक भूमिका पर ही उभरा है। राकेश की दृष्टि का यह यथार्थ जीवन-अर्थों की खोज तक ही सीमित है। किसी परिणति तक पहुँचना राकेश का अभीष्ट भी नहीं है। इसी कारण उनके समस्त नाटकों का समापन किसी निश्चित अन्त पर पहुँच कर नहीं होता। ‘आधे-अधूरे’ द्वारा आधुनिक जीवन से साक्षात्कार कराया गया है, इसमें महानगर के मध्यम वर्गीय परिवार का चित्रण है। आज के परिवार की टूटन और चुक गये आपसी सम्बन्धों को नाटक में बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अस्तु, राकेश ने अपनी नाट्य-सृष्टि में अन्तर्निहित यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा की है। सभी नाटक रंगमंचीय सम्भावनाओं से पूर्ण हैं। प्रसाद जी के बाद सर्वाधिक सशक्त नाटककार हम राकेश को कह सकते हैं। उन्होंने अतीत के सघन कुहासे और अपने समसामयिक जीवन के अन्धे-गलियारों में भटक कर सभी स्तरों पर अपनी नाट्यकला को पूर्णतया आधुनिक रखा है।

मोहन राकेश के बाद जिस नाटककार के प्रति विश्वास जागता है, वह है ‘सुरेन्द्र वर्मा’। उनके नाटकों में ‘द्रोपदी’, ‘सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक’, ‘आठवाँ सर्ग’ आदि उल्लेखनीय हैं। प्रथम नाटक में आधुनिक नारी की मनःस्थिति का चित्रण पुराने मिथक-प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। ‘सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक’ का आधार छद्म इतिहास है, पर इसमें लेखक ने एक

पौरुषहीन व्यक्ति के विवाह बन्धन में पड़ी नारी की शाश्वत समस्या को आधुनिक भाव-बोध के साथ उठाने का प्रयास किया है। 'आठवाँ सर्ग' कालिदास के जीवन और लेखन पर आधारित है और उसका कथ्य लेखकीय स्वातन्त्र्य की आधुनिक चेतना को उजागर करता है।

व्यवस्था के संदर्भ में समाज एवं व्यक्ति के बाह्य एवं आंतरिक यथार्थ का चित्रण करना नये नाटककारों के नाटकों का केन्द्रीय कथ्य लगता है। ब्रजमोहन शाह के 'त्रिशंकु', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' आदि नाटकों में सत्ता के छद्म और पाखंडों का ही पर्दाफाश किया है। आज के नाटककार मुद्राराक्षस, लक्ष्मीकांत वर्मा, मणि मधुकर, शंकर शेष और भीष्म साहनी भी क्रमशः अपने नाटकों 'योअर्स-फेथ-फुल्ली', 'तेंदुआ', 'मरजीवा', 'रोशनी एक नयी है' 'रसगन्धर्व', 'एक और द्रोणाचार्य' तथा 'हानूश' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों से जूझ रहे हैं। इन्होंने जहाँ एक ओर वर्ग-वैषम्य की चेतना को जाग्रत करके व्यवस्था के ह्रासशील रूपों का यथार्थ चित्रण किया है वहीं सत्ता के दबाव में पिस रहे आम आदमी की करुण नियति और उससे उत्पन्न संत्रास का भी रुपायन किया है। इस तरह नाटक सीधे जिन्दगी की शर्तों से जुड़े और उनकी विषमताओं के साथ जूझते व्यक्ति की यंत्रणा उसके भीतर यथार्थ को रंग-माध्यम से प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाते हैं। बदलाव की चेतना और आकुलता को उजागर करने के सशक्त कथ्य से ही हिन्दी के रचनात्मक नाट्य के लिए शुभारम्भ की स्थिति मानी जा सकती है। नये नाटककार सत्यदेव 'दूबे', रमेश उपाध्याय, रामेश्वर प्रेम, शरद जोशी, गिरिराज, सुशील कुमार सिंह, बलराज पंडित, मृदुला गर्ग, सुदर्शन चोपड़ा नये नाटक लिखकर आंतरिक यथार्थ बोध की संपुष्टि में योग दे रहे हैं। अभी हाल ही में कुछ नाटक प्रकाशित हुए हैं-

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काठ महल', गंगाप्रसाद विमल का 'आज नहीं कल', प्रियदर्शी प्रकाश का 'सभ्य सांप', रमेश बख्शी का 'वामाचरण', भगवतीचरण वर्मा का 'वसीयत', इन्द्रजीत भाटिया का 'जीवन दण्ड', सुदर्शन चोपड़ा का 'काला पहाड़', शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियाँ गूँजती हैं', नरेश मेहता का 'सुबह के घण्टे', ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम', अमृतराय की 'बिंदियों की एक झलक', गोविन्द चातक का 'अपने अपने खूँटे', विपिन कुमार अग्रवाल का 'लोटन', विष्णुप्रभाकर का 'टगर', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रोपदी' और 'आठवाँ सर्ग', भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाजार में', राजेन्द्र प्रसाद का 'प्रतीतियों के बाहर' और 'चेहरों का जंगल' आदि। इन नाटकों में जो सामान्य प्रवृत्तियाँ उभर कर आई हैं वे इस प्रकार हैं-आकार में छोटे, वर्तमान जीवन से उनका सम्बन्ध, वस्तुवाद का प्राधान्य, अधिकांश मनोवैज्ञानिक और समस्यात्मक, रंगमंचीय संकेतों का बाहुल्य संकलन त्रय के पालन की प्रवृत्ति आदि। इनमें से अन्तर्मन की सच्चाइयों को नकार कर तटस्थता का मुखौटा लगा लेने का उपदेश देने वाले नाटककार कहाँ तक सफल हो पायेंगे, इसका सही मूल्यांकन उनकी आने वाली कृतियों से ही लग सकेगा।

किसी भी रचना की सम्पूर्णता कथ्य और शिल्प के सानुपातिक कलात्मक संयोजन में निहित रहती है। हिन्दी नाटकों में इन दोनों तत्वों के बीच तालमेल की स्थिति पर यदि विचार किया जाए तो हिन्दी के बहुत कम नाटक इस स्तर तक ऊँचे उठ पाते हैं। जब तक रंग जगत में वे सफल नहीं होते, उन्हें अर्थवान साबित नहीं किया जा सकता। यह एक सुखद संयोग है कि हिन्दी रंगमंच व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय रंगमंच की भूमिका में क्रियाशील है। आज के हिन्दी नाटकों की उपलब्धि पर विचार किया जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता और कलाहीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय

सर्जनात्मकता प्राप्त करने की दिशा में कदम बढ़ाया है और अब नाट्यलेखन केवल सतही सामाजिक उद्देश्यपरकता के आसपास चक्कर नहीं काटता बल्कि गहरी या मूलभूत मानवीय अनुभूति या स्थितियों का सन्धान करता है। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जीवन और समाज की विसंगतियों को उभारते हैं, पीड़ा संत्रास और अजनबीपन के बीच आज के मानव की दयनीय नियति को रेखांकित करते हैं। स्वतंत्रता के बाद नाटक आधुनिक युग बोध के साथ ही जुड़ता नहीं दिखाई देता, वरन् रंगशिल्प के प्रति अधिक जागरूक भी हो गया है।

कहानी

प्रारम्भिक युग-हिन्दी में कहानी वस्तुतः द्विवेदी-युग से प्रारम्भ होती है। भारतेन्दु-काल में और उसके पूर्व जो कहानियाँ लिखी गयीं, वे पश्चिमी ढंग की आधुनिक कहानी से काफी भिन्न हैं। जैसे तो ब्रज-भाषा की वैष्णव वार्ताओं तथा दृष्टांतों, राजस्थानी बातें गिलक्राइस्ट या लल्लूलाल द्वारा सम्पादित 'लतायफ' आदि की लघु कहानियों में कहानी के बहुत से तत्व हैं। राजस्थानी बातें तो कहानियाँ ही हैं, परन्तु आधुनिक कहानी से विषयवस्तु और शैली दोनों दृष्टि से पृथक है। इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' (1805 ई. के लगभग) भी दास्तान शैली की लम्बी कहानी ही है। वास्तविक मानव-जीवन से दूर, अतिमानव प्रसंगों से युक्त कथाकृति से हिन्दी कहानी-परम्परा का आरम्भ नहीं माना जा सकता। इसकी रचना शुद्ध हिन्दी की छटा दिखाने के लिए की गयी थी। 1860 ई. के आस-पास उस समय के शिक्षा-संचालकों की प्रेरणा से 'बुद्धिफलोदय', 'सूरजपुर की कहानी', 'धरमसिंह का वृत्तान्त', आदि शिक्षात्मक कहानियाँ लिखी गयी थीं, जो प्रायः अंग्रेजी या उर्दू से अनूदित हैं। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की लिखी और लिखवायी हुई 'गुलाब और चमेली का किस्सा' 'वीर सिंह वृत्तान्त' आदि रचनाएँ भी प्रायः अनूदित या रूपान्तरित हैं।

हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियाँ आख्यायिका शैली की हैं। उनमें उल्लेखनीय हैं-**पं. माधवप्रसाद मिश्र** रचित 'मन की चंचलता' 1900 ई. के लगभग, **किशोरीलाल गोस्वामी** कृत 'इन्दुमती' 1900 ई. के लगभग, 'गुलबहार', **मास्टर भगवानदास** कृत प्लेग की चुड़ैल, **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** प्रणीत 'ग्यारह वर्ष का समय', **गिरिजादत्त वाजपेयी** की 'पंडित और पंडितानी' और 'पति का पवित्र प्रेम', **बंगमहिला** की 'दुलाई वाली' तथा 'कुम्भ में छोटी बहू', **पार्वती नन्दन** की 'मेरा पुनर्जन्म' और **वृन्दावनलाल वर्मा** द्वारा लिखित 'राखीबन्द भाई'। इनमें कई कहानियाँ बंगला और अंग्रेजी की कहानियों के अनुकरण पर लिखी गई हैं। कुछ काफी लम्बी हैं और शुद्ध कहानी की श्रेणी में नहीं आती। इन कहानियों में से प्रथम द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में 'सुदर्शन' में तथा शेष कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं। **किशोरी लाल गोस्वामी** की 'इन्दुमती' को हिन्दी की प्रथम कहानी मानते हैं। **डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल** का कहना है कि शुक्ल जी की 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी ही हिन्दी की पहली कहानी है। लगभग इसी समय (1909 ई. से) प्रसाद जी की प्रेरणा से 'इन्दु' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसमें प्रकाशित प्रसाद जी की 'ग्राम' शीर्षक कहानी हिन्दी जगत में नए युग का प्रारम्भ करती है।

भारतेन्दु युग में लेखकों का ध्यान नाटक, निबन्ध और उपन्यास की ओर अधिक था। कहानी को उन्होंने अधिक महत्त्व नहीं दिया। द्विवेदी युग के प्रारम्भ में भी इस ओर कम ध्यान दिया गया। अनुवाद-कार्य, भाषा के परिष्कार और गद्य के अन्य रूपों पर साहित्यकारों ने अधिक बल दिया। इन सब कारणों से प्रसाद और प्रेमचन्द से पूर्व कहानी साहित्य की रचना बहुत कम हुई। उसमें वास्तविक साधारण जीवन का यथार्थ विचित्र

न उभर सका। इन्हीं दिनों संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों की कथाओं के आधार पर लम्बी आख्यायिकाएँ भी लिखी गयीं। अधिकतर कथानक-प्रधान (घटना-प्रधान), उपदेशात्मक-कल्पनात्मक, विस्मयपूर्ण, व्यंग्यविनोदमय कहानियाँ लिखी गईं। शैली की दृष्टि से प्रेमचन्द से पहले की हिन्दी कहानियाँ प्रायः तीन प्रकार की हैं-ऐतिहासिक शैली में, आत्मकथात्मक और यात्रा शैली में लिखित। द्विवेदी-युग में **पारसनाथ त्रिपाठी, बंगमहिला और गिरिजाकुमार** घोष ने बंगला की कई सुन्दर कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया। आधुनिक ढंग की अंग्रेजी कहानियों का अनुवाद भी द्विवेदी-युग में प्रारम्भ हुआ।

प्रसाद-प्रेमचन्द युग-सन् 1916 ई. के आस-पास **प्रेमचन्द** और **प्रसाद** कहानी के क्षेत्र में आए। इसके बाद हिन्दी कहानी पर अंग्रेजी और बंगला कहानीकारों का प्रभाव कम होने लगा। द्विवेदी युग की 'सरस्वती', 'सुदर्शन', 'इन्दु', 'हिन्दी गल्प-माला' आदि पत्रिकाओं का हिन्दी-कहानी के प्रारम्भिक विकास में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान है। इन पत्रिकाओं में सैकड़ों मौलिक और अनूदित कहानियाँ प्रकाशित हुईं, जिनमें विविध विषय और शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। कहानी का वास्तविक विकास प्रेमचन्द के समय से ही प्रारम्भ होता है। उनके समय से ही आख्यायिका के स्थान पर सच्ची कहानी का प्रारम्भ हुआ। कहानी में घटना की प्रधानता के स्थान पर पात्र और भावना की प्रधानता हुई। वास्तविक मानव-जीवन और मनोविज्ञान से उनका सम्बन्ध स्थापित हुआ।

प्रसाद जी कहानी क्षेत्र में **प्रेमचन्द** से कुछ पहले आए थे। वे मूलतः कवि हैं और बाद में नाटककार। उनकी कहानियों में भी काव्यात्मकता और नाटकीयता है। उनकी कहानियों को लक्ष्य में रखते हुए उन्हें यथार्थपरक, आदर्शवादी या रोमांटिक आदर्शवादी कहा जा सकता है। प्रसाद की कहानियों के संग्रह हैं-'प्रतिध्वनि', 'आकाश-दीप', 'आँधी', 'इन्द्रजाल' तथा 'छाया'। **प्रसाद** ने अधिकतर भावनाप्रधान, कल्पनापरक कहानियाँ लिखी, जो प्रायः सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। उन्होंने चरित्रप्रधान कहानियाँ भी लिखी हैं। नाटकीयता, अर्थ की गंभीरता, भावुकतापूर्ण वातावरण, काव्यात्मक भाषा और सांकेतिक व्यंजना उनकी कहानियों की अन्य विशेषताएँ हैं। **प्रसाद** प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रेमी थे।

प्रेमचन्द का आधुनिक काल के यथार्थवादी जीवन पर अधिक आग्रह था। वे यथार्थवादी हैं। प्रेमचन्द ने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियाँ 'मानसरोवर' (6 भाग) तथा 'गुप्त धन' (2 भाग) में संगृहीत हैं। 'प्रेम-पचीसा', 'प्रेम-प्रसून', 'प्रतिमा', 'सप्तसुमन' आदि नामों से भी उनकी कहानियों के संग्रह छपे हैं। प्रेमचन्द की प्रारम्भ की कहानियों में घटना की प्रधानता और वर्णन की प्रवृत्ति है। चरित्र-चित्रण और मनोविज्ञान की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। भाषा अपरिपक्व तथा व्याकरण-सम्बन्धी दोषों से युक्त है। वस्तुतः प्रेमचन्द प्रारम्भ में उर्दू के लेखक थे और वहाँ से हिन्दी में आए थे। उनकी प्रारम्भिक राष्ट्रीय कहानियाँ 'सोजे वतन' संग्रह में प्रकाशित हुई थी। आगे चलकर प्रेमचन्द ने चरित्र प्रधान, मनोविज्ञान-मूलक, वातावरण-प्रधान, ऐतिहासिक आदि कई प्रकार की कहानियाँ लिखीं और वास्तविक-जीवन तथा मानव-स्वभाव के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए। प्रेमचन्द की भाषा सरल, व्यावहारिक है और उनके संवाद स्वाभाविक तथा सजीव हैं। साधारण घटनाओं और बातों को मार्मिक बनाने में वे कुशल हैं। प्रेमचन्द नवीन जीवन-रुचि रखने वाले मानवतावादी लेखक थे। प्रारम्भ में प्रेमचन्द गाँधी और ताल्स्ताय से प्रभावित रहे। बाद में वे मार्क्स और लेनिन की विचारधारा की ओर झुक गए थे।

प्रसाद-प्रेमचन्द-युग के प्रारम्भ के कहानीकारों में **चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** और **पं. ज्वाला दत्त शर्मा** के नाम भी उल्लेखनीय हैं। **गुलेरी जी** की 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है। इस कहानी में भावुक वीर तथा कर्तव्य-परायण लहनासिंह के पवित्र प्रेम और बलिदान का चित्रण है। सुन्दर ढंग से विकसित होने वाला, सुगठित, कुतूहलपरक नाटकीय कथानक, सजीव वातावरण, मार्मिक अन्त, संवादों तथा घटनाओं की योजना द्वारा पात्रों का स्वाभाविक चरित्र-चित्रण, पात्रानुकूल संवाद, मुहावरेदार सरल-जीवन्त भाषा और सांकेतिक अभिव्यक्ति इस कहानी की मुख्य विशेषताएँ हैं। गुलेरी ने केवल तीन कहानियाँ लिखी हैं, परन्तु तीन कहानियों के बल पर वे हिन्दी के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान बना गए हैं। **सुदर्शन**, **विश्वम्भरनाथ 'कौशिक'**, **पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'**, **'चतुरसेन शास्त्री'**, **'रायकृष्णदास'**, **'चण्डीप्रसाद'**, **'हृदयेश'**, **'गोविन्द वल्लभ पंत'**, **'वृन्दावन लाल वर्मा'**, **'जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'**, **'राधिकारमण प्रसाद सिंह'**, **'सियारामशरण गुप्त'** और **भगवतीप्रसाद वाजपेयी** प्रेमचन्द-प्रसाद-काल के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं।

सुदर्शन और **कौशिक प्रेमचन्द** की शैली के कहानीकार हैं। दोनों ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को अपनाकर सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और पारिवारिक कहानियाँ लिखी हैं। चरित्र-चित्रण और भाषा की दृष्टि से भी ये दोनों प्रेमचन्द के निकट हैं। सुदर्शन ने मानव-जीवन के विविध पक्षों और अनेक सामाजिक सत्यों का चित्रण किया है। कौशिक जी ने अपनी कई कहानियों में पारिवारिक जीवन के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। उनकी 'ताई' नामक चरित्र प्रधान कहानी हिन्दी जगत् में प्रसिद्ध है। चरित्र-परिवर्तन उनकी कहानी में स्वाभाविक रूप से होता है। संवादों द्वारा पात्रों की मनः स्थिति पर कहीं-कहीं उन्होंने अच्छा प्रकाश डाला है। सुदर्शन के कहानी-संग्रहों के नाम हैं- 'परिवर्तन', 'सुदर्शन-सुधा', 'तीर्थयात्रा', 'सुदर्शन-सुमन', 'पुष्पलता', 'सुप्रभात', 'नगीना', 'फूलवती', 'पनघट'। कौशिक जी की कहानियाँ 'गल्पमन्दिर', 'चित्रशाला', 'प्रेम-प्रतिमा', 'कल्लोल' आदि शीर्षकों से प्रकाशित हुई हैं।

उग्र जी ('चाकलेट', 'चिनगारियाँ', 'इन्द्रधनुष', 'निर्लज्जा', 'दोजख की आग', 'बलात्कार', 'सनकी अमीर', 'पीली इमारत', 'चित्र-विचित्र', 'यह कंचन सी काया', 'कला का पुरस्कार' आदि के लेखक) की कहानियों में समाज और राजनीति का मार्मिक अंकन हुआ है। रूढ़ियों तथा राजनीतिक एवं राष्ट्रीय दुष्प्रवृत्तियों पर उन्होंने तीव्र रोष प्रकट किया है। उसके पात्र सजीव-सबल होते हैं, संवाद प्रायः छोटे तथा स्पष्ट और भाषा वक्र होने पर भी सरल। उग्र जी ने कई तरह की कहानियाँ लिखी हैं-भावुकता तथा कल्पना से पूर्ण प्रतीकात्मक, समस्यामूलक और नाटकीय रेखाचित्र जैसी। चतुरसेन (राजकण, अक्षय आदि) ने अधिकतर सामाजिक परिस्थितियों का अंकन किया है। **राधाकृष्णदास** ('सुधांशु' आदि) भावप्रधान कहानियों के लेखक हैं। वे प्रसाद-पद्धति के कहानीकार हैं। **रायकृष्णदास** ने ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। लघु प्रकृति-चित्र भी उन्होंने कहीं-कहीं दिए हैं। उनकी भाषा संस्कृतपरक और प्रांजल है। चण्डीप्रसाद '**हृदयेश**' ('नन्दन निकुंज', 'वन माला' आदि) की कहानियाँ भी लगभग इसी प्रकार की भाषा-शैली में लिखी गयी हैं : भावुकता, उच्च भावों की व्यंजना, स्वल्प कथानक और अलंकृत भाषा उनकी विशेषताएँ हैं। **पं. गोविन्दवल्लभ पंत** में भी भावुकता तथा कल्पना की रंगीनी है, साथ ही यथार्थ की कटुता भी प्राप्त होती है। उनकी कहानियों में रोचकता भी काफी है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ('कलाकार का बल' आदि) मुख्यतः उपन्यासकार हैं। उनकी कहानियों में कल्पना तथा इतिहास का समन्वय होता है और सरल,

स्वाभाविक भाषा-शैली होती है। प्रायः सभी कहानियाँ वर्णनपरक, बहिर्द्वन्द्वपूर्ण तथा आदर्शोन्मुख हैं। राधिकारमणप्रसाद सिंह की शैली भी काव्यात्मक तथा जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' (किसलय, मृदुदल, मधुमयी आदि) की कहानियाँ भी मार्मिक तथा करुणापूर्ण हैं। राधिकारमणप्रसाद सिंह की शैली भी काव्यात्मक तथा अलंकृत ही है। उनकी कहानियों का वातावरण प्रायः भावात्मकता तथा मार्मिकता से पूर्ण होता है। **सियारामशरण गुप्त** की कहानियों में सरल रोचक शैली में कोमल भावों की अभिव्यक्ति हुई है। **भगवती प्रसाद वाजपेयी** (पुष्करिणी, खाली बोटल, हिलोर आदि) की कहानियों में प्रायः घटनाओं की सांकेतिक व्यंजना रहती है। उन्होंने असाधारण परिस्थितियों में पड़े हुए नर-नारियों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है। इस समय के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं-**विनोद शंकर व्यास**, **मोहनलाल महतो 'वियोगी'** तथा **शिवपूजन सहाय**। **सुमित्रानन्दन पंत** और **निराला जी** ने भी कुछ कहानियाँ लिखी हैं।

उपर्युक्त कहानीकारों में कौशिक, सुदर्शन, वाजपेयी आदि प्रेमचन्द के आदर्शों से प्रभावित हैं और **राधिकारमण प्रसाद सिंह**, **रायकृष्णदास**, **विनोदशंकर व्यास**, **द्विज** आदि प्रसाद के आदर्शों से। कुछ कहानीकार अपना पृथक व्यक्तित्व रखते हैं और उन्हें इन दोनों में से किसी वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

वर्तमान युग : तीन पीढ़ियाँ-वर्तमान समय में हिन्दी में कई पीढ़ियाँ एक साथ कहानी लिखने में लगी रही हैं। प्रेमचन्द काल के उत्तरार्द्ध में इस क्षेत्र में आने वाले कुछ कहानीकार हैं-**जैनेन्द्र** ('फांसी' 'स्पर्द्धा', 'वातायन', 'पाजेब', 'जयसंधि', 'एकरात', 'दो चिड़ियाँ' आदि), **यशपाल** ('वो दुनिया', 'ज्ञान दान', 'अभिषप्त', 'पिंजड़े की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'चित्र का शीर्षक', 'यशपाल : श्रेष्ठ कहानी'), **इलाचन्द्र जोशी** ('रोमांटिक छाया', 'आहुति', 'दिवाली और होली', 'कंटीले फूल लजीले कांटे'), **अज्ञेय** ('त्रिपथगा', 'कोठरी की बात', 'परम्परा', 'जयदोल' आदि), **भगवतीचरण वर्मा** ('दो बाँके', 'इन्स्टालमेंट' आदि), **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** ('चन्द्रकला', 'वापसी', 'अमावस', 'तीन दिन')। ये कथाकार जो उस समय नयी पीढ़ी के कहानीकार माने जाते थे जब पुराने हो चुके हैं। इनके बाद कहानीकारों की दो और पीढ़ियाँ विकसित हो चुकी हैं। इन तीनों पीढ़ियों के कहानीकारों ने हिन्दी कहानी का विषय-वस्तु तथा शिल्प दोनों दृष्टियों से पर्याप्त विकास किया है।

जैनेन्द्र, **इलाचन्द्र जोशी** और **अज्ञेय** ने चरित्रप्रधान मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी हैं। मार्मिक दृश्यों का चयन, एक ही दृश्य या घटना के सहारे कथानक का निर्माण करके देशकाल के संकलन का निर्वाह, असाधारण परिस्थितियों में पड़े मानवों का सूक्ष्म मनोविश्लेषण, विचारात्मकता और यत्र-तत्र वक्र-अस्पष्ट भाषा जैनेन्द्र की कहानीकला की विशेषताएँ हैं। **इलाचन्द्र जोशी** की कहानियों में मनोवैज्ञानिक सत्यों का मार्मिक उद्घाटन है। साधारण-असाधारण दोनों प्रकार के पात्रों का चित्रण उन्होंने किया। जोशी जी का कहना है कि मनोविश्लेषण करते हुए व्यक्ति के अहं पर प्रहार करना ही मेरा लक्ष्य है। **अज्ञेय** ने मनोवैज्ञानिक तथा सामयिक सत्य की व्यंजना करने वाली कहानियों के साथ समाज के मध्यम-वर्ग के दैनिक जीवन की विशेषताओं और उनकी साधारण तथा कारुणिक स्थितियों के खण्डचित्र प्रस्तुत करने वाली कहानियाँ भी लिखी हैं और राजनीतिक विद्रोह से सम्बन्धित कहानियाँ भी। इनकी कई कहानियाँ पात्रों के पिछले जीवन की अस्फुट चित्र-कल्पनाओं के रूप में हैं। कुछ अधूरापन-सा होने पर भी अज्ञेय की कहानियाँ प्रभावपूर्ण होती हैं।

यशपाल प्रगतिशील लेखक थे। जीवन के संघर्षों और विविध परिस्थितियों का उन्होंने अपने अनुभवों के आधार पर सजीव अंकन किया है। उनकी कहानियों में वर्तमान समाज की विशेषताओं पर तीव्र व्यंग्य-प्रहार है। **भगवतीचरण वर्मा** की शैली बड़ी सरस और आकर्षक है। इनकी कहानियों में पात्र कम होते हैं, परन्तु वे पूर्णतः सजीव और विश्वसनीय हैं। आप आधुनिक मानव और उसके जीवन को अच्छी तरह समझते हैं। सामाजिक तथा ऐतिहासिक-दोनों प्रकार की कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं। **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** ने दैनिक जीवन की साधारण घटनाओं को लेकर प्रभावपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। उन्होंने मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हुए कुछ शाश्वत सत्यों और साथ ही सामयिक सत्यों की सुन्दर व्यंजना की है। उनकी कुछ कहानियों में एक सुगठित कथानक न होकर कई सम्बद्ध कथा-खण्ड प्रस्तुत किए गये हैं, जिनके द्वारा उन्होंने किसी सत्य की व्यंजना की है। इन कहानीकारों ने चरित्रप्रधान, प्रभाववादी, मनोविश्लेषणपरक, भावना-प्रधान, वातावरण-प्रधान, किसी शाश्वत या सामयिक सत्य की व्यंजना करने वाली कई प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। ऐतिहासिक शैली के अलावा, आत्मकथा, पत्र, डायरी आदि अनेक शैलियों का प्रयोग किया गया है।

आधुनिक काल की इस पहली पीढ़ी के कुछ बाद और दूसरी पीढ़ी के कुछ पहले आने वाले उल्लेखनीय कथाकार हैं-**उपेन्द्रनाथ अशक, नागार्जुन, उषादेवी मित्रा, पहाड़ी, विष्णु प्रभाकर, अमृतराय, रांगेय राघव**। दूसरी पीढ़ी के उल्लेखनीय कथाकार हैं-**फणीश्वरनाथ रेणु, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, अमरकांत, मोहन राकेश, नरेश मेहता, शिवप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, मन्नु भण्डारी, कृष्णा सोबती, शैलेश मटियानी, मुद्राराक्षस**। हिन्दी की बिल्कुल नई पीढ़ी के कहानीकारों में उल्लेखनीय हैं-**निर्मल वर्मा, रामकुमार, विजय चौहान, कृष्ण बलदेव वैद**। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' (राजेन्द्र यादव), 'चाँद और टूटे हुए लोग' (धर्मवीर भारती), 'धरती अब भी घूम रही है' (विष्णु प्रभाकर), 'जानवर और जानवर', 'नए बादल' (मोहन राकेश), 'गीली मिट्टी' (अमृतराय), 'कुमारी' (रेणु), 'भूदान' (मार्कण्डेय), 'चाय का रंग' (देवेन्द्र सत्यार्थी), 'जीने की सजा' (आरिगपूडि), 'नरक का न्याय' (मोहरसिंह सेंगर), 'प्यार के बन्धन' (रावी), 'मेरी तैंतीस कहानियाँ' (शैलेश मटियानी) आदि संग्रह चर्चा में रहे हैं। हिन्दी की नवीनतम कहानियों में कथा-तत्त्व की न्यूनता, कामकुण्ठाओं का विश्लेषण, व्यक्ति की पीड़ा, विवशता की अभिव्यक्ति, किसी मनः स्थिति का अंकन और आलोचना-प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान युग में आँचलिक कहानियाँ भी लिखी गयी हैं। भावकथाएँ, गाथाएँ और लम्बी कहानियाँ पत्रिकाओं में दिखाई देती हैं।

हिन्दी में हास्य और व्यंग्य प्रधान कहानियाँ भी लिखी गई हैं। इस प्रकार की कहानियाँ **जी. पी. श्रीवास्तव, हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, अन्नपूर्णानन्द, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी** आदि ने लिखी हैं। **जहूर बख्शा** आदि ने बाल कहानियाँ लिखी हैं। नारी कहानीकारों में **सुभद्रा कुमारी चौहान, सत्यवती मलिक, कमला चौधरी, शिवरानी देवी, तारा पाण्डे** आदि ने अच्छा कार्य किया है।

आज के प्रयोगवादी युग में हिन्दी कहानी सभी रूपों में बढ़ रही है। कुछ कहानीकार कथानक-रहित कहानी लिखने का यत्न कर रहे हैं। कहानी बहुत अमूर्त (ऐबस्ट्रैक्ट) होती जा रही है। आज कहानी में प्रायः एक मनः स्थिति, क्षण-विशेष की अनुभूति, व्यंग्यचित्र या चिन्तन की झलक प्रस्तुत की जाती है। कहानी में विषय-वस्तु क्षीण, पात्र बहुत थोड़े (एक दो ही) और अस्पष्ट होते जा रहे हैं और पुराने ढंग की सरलता समाप्त होती जा रही है। नयी कविता की तरह नयी कहानी भी कहानीपन छोड़कर निबन्ध के निकट

(कथात्मक निबन्ध के निकट) पहुँच रही है। भारतेन्दुकाल में जो कहानी घटना-प्रधान थी, प्रेमचन्द युग में वह चरित्र-प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक हुई, प्रेमचन्द युग में जो चरित्र-प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक हुई, जैनेन्द्र-अज्ञेय के उत्कर्ष-काल में वह मनोविश्लेषणात्मक तथा चिन्तनपरक बनी, वही अब कथानकपरक तो है ही नहीं, चरित्र-चित्रणपरक भी नहीं रही। विषय-वस्तु और शिल्प दोनों में वह काफी आगे बढ़ गई है। काशीनाथ सिंह, ज्ञान रंजन, सुरेश सेठ, गोविन्द मिश्र, मृदुला गर्ग, नरेन्द्र मोहन, मृणाल पाण्डेय, उदय प्रकाश, ओम प्रकाश वाल्मीकि, चित्र प्रभा मुद्गल, प्रभा खेतान, नासिरा शर्मा आदि अनेक कथाकार हैं जिन्होंने बदलते मनुष्य, समाज, परिस्थितियों, समस्याओं को अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

हिन्दी एकांकी

आधुनिक हिन्दी साहित्य की जिन गद्यात्मक विधाओं का विकास विगत एक शताब्दी में हुआ है, उनमें एकांकी का भी महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से, हिन्दी-साहित्य में इसका उद्भव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में माना जाता है। यदि इसके संवादात्मक स्वरूप एवं एक नाट्य विधा के अस्तित्व के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाय तो इसके सूत्र हमें अत्यन्त प्राचीन समय से मिलने लगते हैं।

आधुनिक एकांकी वैज्ञानिक युग की देन है। विज्ञान के फलस्वरूप मानव के समय और शक्ति की बचत हुई है। फिर भी जीवन संघर्ष में मानव की दौड़-धूप अव्याहत जारी है। जीवन की त्रस्तता और व्यस्तता के कारण आधुनिक मानव के पास इतना समय नहीं है कि वह बड़े-बड़े नाटकों, उपन्यासों, महाकाव्यों आदि का सम्पूर्णतः रसास्वादन कर सके और इसलिए गीत, कहानी, एकांकी आदि साहित्य के लघुरूपों को अपनाया जा रहा है। किन्तु एकांकी की लोकप्रियता का एकमात्र कारण समयाभाव ही नहीं है। भोलानाथ तिवारी के शब्दों में “यह नहीं कहा जा सकता कि चूँकि हमारे पास बड़ी-बड़ी साहित्यिक रचनाओं को पढ़ने के लिए समय नहीं है, इसलिए हम गीत, कहानी, एकांकी आदि पढ़ते हैं। बात यह है कि हम जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं और समस्याओं आदि का क्रमबद्ध एवं समग्र रूप से भी अभिव्यक्त देखना चाहते हैं और उन अभिव्यक्तियों का स्वागत करते हैं मगर साथ ही साथ किसी एक महत्वपूर्ण भावना, किसी एक उद्दीप्त क्षण, किसी एक असाधारण एवं प्रभावशाली घटना या घटनाश की अभिव्यक्ति का भी स्वागत करते हैं। हम कभी अनगिन फूलों से सुसज्जित सलौनी वाटिका पसन्द करते हैं और कभी भीनी सुगन्धि देने वाली खिलने को तैयार नहीं सी कली। दोनों बातें हैं, दो रुचियाँ हैं, दो पृथक किन्तु समान रूप से महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हैं, समय के अभाव या अधिकता की इसमें कोई बात नहीं।”

इस प्रकार, समयाभाव के अतिरिक्त एकांकी की लोकप्रियता के अन्य भी कई कारण हैं यथा देश में सिनेमा के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध हिन्दी रंगमंच के उद्धार द्वारा जीवन और साहित्य में सुरुचि का समावेश करना, रेडियो से हिन्दी एकांकियों की माँग केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-विभाग की ओर से आयोजित ‘यूथ फेस्टीवल’ में एकांकी नाटक का भी प्रतियोगिता का एक विषय होना, विश्वविद्यालयों में विशेष अवसरों पर एकांकी नाटकों का अभिनय आदि। इन सब कारणों के परिणामस्वरूप एकांकी नाटक आज एक प्रमुख साहित्यिक विधा बन गया है।

¹ भारतीय नाट्य-साहित्य : सं. डॉ. नगेन्द्र : पृ. 375-76

एकांकी ने नाटक से भिन्न अपना स्वतंत्र स्वरूप प्रतिष्ठित कर लिया है। एकांकी बड़े नाटक की अपेक्षा छोटा अवश्य होता है परन्तु वह उसका संक्षिप्त रूप नहीं है। बड़े नाटक में जीवन की विविधरूपता, अनेक पात्र, कथा का सांगोपांग विस्तार, चरित्र-चित्रण की विविधता, कुतूहल की अनिश्चित स्थिति, वर्णनात्मकता की अधिकता, चरम सीमा तक विकास तथा घटना-विस्तार आदि के कारण कथानक की गति मन्द होती है जबकि एकांकी में, इसके विपरीत, जीवन की एकरूपता, कथा में अनावश्यक विस्तार की उपेक्षा, चरित्र-चित्रण की तीव्र और संक्षिप्त रूप-रेखा, कुतूहल की स्थिति, प्रारम्भ से ही व्यञ्जकता की अधिकता और प्रभावशीलता, चरम सीमा तक निश्चित बिन्दु में केन्द्रीयकरण तथा घटना-न्यूनता आदि के कारण कथानक की गति क्षिप्र होती है। सदगुरुशरण अवस्थी का कथन है कि 'जीवन की वास्तविकता के एक स्फुलिंग को पकड़कर एकांकीकार उसे ऐसा प्रभावपूर्ण बना देता है कि मानवता के समूचे भाव जगत् को झनझना देने की शक्ति उसमें आ जाती है।'²

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी-एकांकी के विकास-क्रम को निम्नलिखित प्रमुख काल-खण्डों में विभाजित किया जा सकता है-

1. भारतेन्दु-द्विवेदी युग (1875-1928)
2. प्रसाद-युग (1929-37)
3. प्रसादोत्तर-युग (1938-47)
4. स्वातंत्र्योत्तर-युग (1948 से अब तक)

वास्तव में प्रारम्भिक एकांकी-प्रयोगों में भी भटकती हुई नाट्य-दृष्टि ही प्रमुखता से उभरकर सामने आई है किन्तु विकास की दृष्टि से उन्हें नकारा नहीं जा सकता।

भारतेन्दु-द्विवेदी युग (1875-1928)

जिस प्रकार भारतेन्दु हिन्दी में अनेकांकी नाटकों के लिखने वालों में प्रथम नाटककार माने जाते हैं उसी प्रकार हिन्दी में सबसे पहला एकांकी भी उन्होंने ही लिखा। यद्यपि इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद अवश्य है। फिर भी भारतेन्दु-प्रणीत 'प्रेमयोगिनी' (1875 ई.) से हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

आलोच्य युग में विषयगत दृष्टिकोण को सामने रखकर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ उभरीं। समाज में प्रचलित प्राचीन परम्पराओं, कुप्रथाओं एवं स्वस्थ सामाजिक विकास में बाधक रीति-रिवाजों को दूर करने का प्रयास उन सामाजिक समस्या-प्रधान रचनाओं के माध्यम से किया गया। इन एकांकीकारों ने जहाँ सामाजिक कुरीतियों पर हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण प्रहार किये वहीं सामाजिक नवनिर्माण के लिए भी समाज को प्रेरित एवं जाग्रत किया। इन रचनाओं के पात्र भारतीय जन-जीवन के जीवित एवं सजीव पात्र हैं जिनके संवादों द्वारा भारतीय भद्र जीवन में प्रविष्ट पाखण्ड एवं व्यभिचार का भण्डाफोड़ होता है। इस दृष्टि से भारतेन्दु-रचित 'भारत-दुर्दशा', प्रतापनारायण मिश्र रचित 'कलि कौतुक रूपक', श्री शरण-रचित 'बाल-विवाह', किशोरीलाल गोस्वामी-रचित 'चौपट चपेट', राधाचरण गोस्वामी-रचित

² नाटक और नायक : प्रो. सदगुरुशरण अवस्थी : पृ. 9

‘भारत में यवन लोक’, ‘बूढ़े मुंह मुहाँसे’ आदि महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं जिनमें धार्मिक पाखण्ड, सामाजिक रूढ़ियों एवं कुरीतियों पर तीखे व्यंग्य किये गये हैं। देवकीनन्दन रचित ‘कलियुगी उनेऊ’, ‘कलियुग विवाह’, राधाकृष्णदास रचित ‘दुखिनी बाला’, काशीनाथ खत्री रचित ‘बाल विधवा’ आदि रचनाएँ भारतीय नारी के त्रस्त विवाहित जीवन का यथार्थ चित्रण हैं। सामाजिक भ्रष्टाचार का चित्रण कार्तिक प्रसाद खत्री-रचित ‘रेल का विकट खेल’ में मिलता है जिसमें रेलवे विभाग में रिश्वत लेने वालों का भण्डा-फोड़ किया गया है। समाज सुधार की परम्परा के पोषक इन एकांकीकारों के प्रयास के फलस्वरूप भारतीय समाज का यथार्थ चित्रण समाज के समक्ष उपस्थित हुआ तथा इन्हीं के द्वारा जन सामान्य को नवीन एवं प्रगतिशील विचारों को ग्रहण करने की प्रेरणा भी मिली। इन्हीं के प्रयासों का परिणाम था कि भारतीय जनता समाज में प्रचलित रूढ़ियों एवं परम्पराओं के प्रति घृणाभाव से भर उठी तथा उनके उन्मूलन के लिए कृत संकल्प हो गयी।

इस प्रकार भारतेन्दु युग नवचेतना और जागृति का युग था। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का उन्मेष होने से इस काल के एकांकीकारों ने **जन-जागृति के विचारों को मुखरित करने वाले** नाटक लिखे। जिनमें भारत की तत्कालीन दुर्दशा, पराधीनता पर क्षोभ, अतीत की स्मृति, राष्ट्र में आत्म गौरव की भावना का जागरण, राष्ट्रहित, आशा-निराशा का द्वन्द्व, उज्ज्वल भविष्य आदि का चित्रण किया गया है। इस युग में सामाजिक नवजागरण के साथ-साथ राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का प्रयत्न भी किया गया है। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु-कृत ‘भारत दुर्दशा’ एवं ‘भारत-जननी’, राधाकृष्ण गोस्वामी-कृत ‘भारत माता’ और ‘अमरसिंह राठौर’, राधाकृष्ण दास-कृत ‘महारानी पद्मावती’, रामकृष्ण वर्मा-कृत ‘पद्मावती’ ‘वीर नारी’ आदि उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु-कालीन एकांकियों की **धार्मिक पौराणिक धारा** के अन्तर्गत वे एकांकी आते हैं, जिनमें धार्मिक कथानकों के आधार पर भारतीय संस्कृति का आदर्श रूप प्रस्तुत किया गया है। इस क्षेत्र में भारतेन्दु जी के ‘सत्य हरिश्चन्द्र’ और लाला श्रीनिवासदास का ‘प्रह्लाद चरित्र’, बदरीनारायण प्रेमघन का ‘प्रयाग राजा-गमन’, राधाचरण गोस्वामी का ‘श्रीदामा’ और ‘सती चन्द्रवली’, बालकृष्ण भट्ट का ‘दमयन्ती स्वयंवर’, जैनेन्द्र किशोर का ‘सोमावती’ अथवा ‘धर्मवती’, कार्तिक प्रसाद का ‘ऊषाहरण’, ‘गंगोत्तरी’, ‘द्रोपदी चौर हरण’ और ‘निस्सहाय हिन्दू’, मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या का ‘प्रह्लाद’, खड्गबहादुर मल्ल का ‘हरतालिका’ आदि में धार्मिक कथानकों पर आधारित पौराणिक एकांकियों के माध्यम से सांस्कृतिक आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया।

आलोच्य युग में **हास्यव्यंग्य-प्रधान** एकांकी सर्वाधिक लिखे गए जो प्रहसन की श्रेणी में आते हैं। ये प्रहसन धार्मिक और सामाजिक दोनों प्रकार के विषयों को अपने भीतर समेटे हुए हैं। इन प्रहसनों पर पारसी रंगमंच का सर्वाधिक प्रभाव है इसलिए उच्चकोटि का हास्य एवं व्यंग्य इनमें नहीं मिलता। फिर भी सामाजिक क्षेत्र में बाल-विवाह, अनमेल विवाह, वेश्यागमन, मद्यपान, विलासप्रियता आदि पर व्यंग्य किया गया है और धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक संकीर्णता और उसकी आड़ में किया पाखण्ड, पंडागिरी, कर्मकाण्ड, ज्योतिषियों की धोखेबाजी आदि पर आक्षेप किए गए हैं। इस प्रकार के एकांकियों में कमलाचरण मिश्र का ‘अद्भुत नाटक’, श्री जगन्नाथ का ‘वर्ण व्यवस्था’, माधोप्रसाद का ‘वैसाखनन्दन’, घनश्यामदास का ‘वृद्धावस्था-विवाह’, दुर्गाप्रसाद मिश्र का ‘प्रभात मिलन’, अम्बिकादत्त व्यास का ‘गौ-संकट’ और ‘मन की उमंग’, देवकीनन्दन त्रिपाठी का ‘जय नरसिंह की’, ‘सैकड़ों में दस-दस’, ‘कलयुगी जनेऊ’, ‘कलियुगी विवाह’, ‘एक एक के

तीन तीन', 'बैल छः टके का', 'वेश्याविलास' आदि, बालकृष्ण का 'शिक्षादान', खड्गबहादुर मल्ल का 'भारत-आरत' आदि उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त रचनाओं में से कुछ का उल्लेख नाटक के अन्तर्गत भी किया जाता है। वास्तव में ये एक अंक के नाटक ही हैं। एकांकी की परम्परा में आते हुए भी इन्हें सभी दृष्टियों से पूर्ण 'एकांकी' नहीं कहा जा सकता। इनमें एकांकी के कुछ तत्व अवश्य ढूँढ़े जा सकते हैं।

कुल मिलाकर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि उस काल के एकांकी-साहित्य को प्रेरित करने वाली कई नाट्य शैलियाँ थीं—(क) संस्कृत की नाट्य परम्परा (ख) अंग्रेजी, बंगला, पारसी रंगमंच और (ग) लोक नाटक। आलोच्य युग के सभी एकांकीकारों ने इन्हें आत्मसात् किया। इस प्रकार इस युग में परम्परा के प्रभाव की प्रधानता रही। नए-नए प्रयोग होते रहे। इसलिए कला की सूक्ष्म दृष्टि इस काल के एकांकीकारों में भले न हों, पर वे आधुनिक एकांकियों के पूर्वगामी अवश्य हैं।

प्रसाद युग (1929 से 1937)

हिन्दी एकांकी के विकास की दृष्टि से द्वितीय युग प्रसाद के युग से जाना जाता है। इस संदर्भ में आधुनिक एकांकी-साहित्य की प्रथम मौलिक कृति के रूप में प्रसाद के 'एक घूँट' का उल्लेख किया जा सकता है। यह रचना सन् 1929 में प्रकाशित हुई। यहीं से हम एकांकी के शिल्प में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखते हैं।

रसोद्रेक के लिए संगीत-व्यवस्था, संस्कृत नाट्य प्रणाली का विदूषक, स्वगत कथन आदि प्राचीन परम्पराओं के निर्वाह के साथ ही स्थल की एकता, पात्रों का मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, गतिशील कथानक, आदि आधुनिक एकांकी की सभी विशेषताएँ 'एक घूँट' में मिलती हैं। अतः भारतेन्दु ने यदि आधुनिक एकांकी की नींव डाली है तो उसे पल्लवित और पुष्पित करने का श्रेय प्रसाद जी को ही है।

वास्तव में आधुनिक ढंग से हिन्दी एकांकियों का विकास प्रसाद-युग में ही हुआ क्योंकि इस युग में कुछ महत्त्वपूर्ण नवीन-प्रयोग एकांकी क्षेत्र में हुए। इस युग में एकांकीकारों ने पाश्चात्य अनुकरण पर नवीन शैली में एकांकी लिखना प्रारम्भ किया तथा पाश्चात्य टेकनीक को अपनाया। स्पष्टतः इस युग में एकांकी नाटकों में पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों की प्रेरणा एवं प्रभाव विद्यमान है। पाश्चात्य नाटककारों हैनरिक, इब्सन, गाल्सवर्दी तथा बर्नार्ड शॉ आदि का प्रभाव इस युग के एकांकियों पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ा तथा इससे एकांकी साहित्य को परिपक्वता की स्थिति पर पहुँचने में सहायता मिली। भारतेन्दु युग में जो एकांकी संस्कृत परिपाटी पर विरचित हुआ था, इस युग में आकर वह नवीन रूपों में विकसित होने लगा। प्राचीनता का मोह छोड़कर नवीन ढंग के एकांकी नाटक लिखे गये जो कथानक की दृष्टि से मानव जीवन के अत्यधिक निकट थे। प्राचीन कथावस्तु में जो कृत्रिमता होती थी उसके स्थान पर सामाजिक, पारिवारिक एवं दैनिक समस्याओं को एकांकी का विषय बनाना प्रारम्भ किया गया। ये रचनाएँ समाजिक यथार्थ के निकट आयीं। प्राचीन कृत्रिम प्रणाली, काव्यमय कथोपकथन, प्राचीन रंगमंच एवं अस्वाभाविकता के बहिष्कार का स्वर इस युग की रचनाओं में प्रमुखतया प्राप्त होता है। नई समस्याएँ, विचारधारा एवं गद्यात्मक शिष्ट भाषा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।

इस युग के अधिकांश एकांकी रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखे गये जिससे उनका अभिनय हो सके और प्रेक्षक अपना ज्ञानवर्धन कर सके। एकांकी में प्रयुक्त संवादों में सजीवता, संक्षिप्तता एवं मार्मिकता की ओर ध्यान दिया गया। प्रहसन, फैंटेसी, गीति-नाट्य, ओपेरा, संवाद या सम्भाषण, रेडियो प्ले, झांकी तथा मोनोड्रामा आदि एकांकी से नवीन रूपों का विकास इसी युग में हुआ। युगीन सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक पृष्ठभूमि का प्रभाव आलोच्य युगीन एकांकीकारों की रचनाओं पर पड़ने के कारण कतिपय प्रवृत्तियों का जन्म हुआ जिनमें सामाजिक, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं।

प्रसाद युग में जिन सामाजिक एकांकियों की रचना हुई उन पर युगीन सामाजिक पृष्ठभूमि का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। इस युग के अनेक एकांकीकारों ने सामाजिक जीवन की विभिन्न पक्षीय समस्याओं का चित्रण किया है तथा उसमें प्रचलित विभिन्न जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों को अपनी आलोचना का केन्द्र बनाया है। बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह, जातीयता, अस्पृश्यता की समस्या, मद्यपान, जुआ तथा समाज में फैला व्यभिचार आदि समस्याएँ जिस रूप में भारतेन्दु युग में परिव्याप्त थीं वह अभी तक उसी रूप में बनी हुई थीं। यद्यपि भारतेन्दु युगीन एकांकीकारों ने भी इन पर प्रहार किया था, किंतु इनका निवारण अथवा उन्मूलन सरल नहीं था क्योंकि इनकी जड़ें समाज में बहुत गहरी थीं। अतः प्रसादयुगीन एकांकीकारों ने भी विषय-रूप में इन सामाजिक समस्याओं को अपनी रचनाओं में चित्रित किया।

तत्कालीन समाज की नग्न विकृतियों का चित्रण करने वाले अनेक एकांकियों की रचना इस युग में हुई। जीवानन्द शर्मा कृत 'बाला का विवाह' सुधारवादी दृष्टिकोण को प्रकट करता है। हरिकृष्ण शर्मा कृत 'बुढ़ऊ का ब्याह' वृद्ध अनमेल विवाह एवं दहेज समस्या पर कुठाराघात है। जी. पी. श्रीवास्तव रचित 'गड़बड़झाला' में वृद्धों की अनियंत्रित काम वासना एवं समाज के लोगों का भ्रष्टाचार चित्रित किया गया है। रामसिंह वर्मा कृत 'रेशमी रूमाल' में पतिव्रत धर्म की प्रतिष्ठा, शैक्षिक वृत्तियों एवं रोमांस की त्रुटियों का चित्रण है। प्रेमचन्द कृत 'प्रेम की देवी' में लेखक ने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन प्रबल रूप में किया है। श्री बदरीनाथ भट्ट कृत 'विवाह विज्ञापन' में आधुनिक शिक्षित वर्ग की रोमांस वृत्ति पर व्यंग्यात्मक प्रहार है। डॉ. सत्येन्द्र कृत 'बलिदान' में दहेज समस्या का चित्रण है। जी. पी. श्रीवास्तव-कृत 'भूलचूक' से विधवा विवाह समर्थन, 'अच्छा उर्फ अक्ल की मरम्मत' में शिक्षित पति एवं अशिक्षित पत्नी के मध्य उत्पन्न कटुता, 'लकड़बग्घा' में ऋण समस्या आदि पर व्यंग्य किया गया है। इनके अतिरिक्त 'बंटाधार', 'दुमदार आदमी', 'कुर्सीमैन', 'पत्र पत्रिका सम्मेलन', 'न घर का न घाट का', 'चोर के घर मोर' आदि रचनाओं में श्रीवास्तव जी का दृष्टिकोण सुधारवादी रहा है। श्रीवास्तव जी का 'अछूतोद्धार' एकांकी अछूत समस्या पर लिखा गया है। श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश कृत 'विनाश लीला' में भारतीय नारी के जन्म से अन्त तक के सामाजिक कष्टों का चित्रण है। पं. हरिशंकर शर्मा कृत 'बिरादरी विभ्राट', 'पाखण्ड प्रदर्शन', तथा 'स्वर्ग की सीधी सड़क' सामाजिक छुआछूत तथा वर्ग वैषम्य को हानियों को चित्रित करते हैं। श्री सुदर्शन कृत 'जब आँखें खुलती हैं' में वेश्या का हृदय-परिवर्तन स्वाधीनता संग्राम के वातावरण में चित्रित किया गया है। आलोच्य युग में श्री रामनरेश त्रिपाठी कृत 'समानाधिकार', 'सीजन डल है', 'स्त्रियों की काउन्सिल', पांडेय बेचन शर्मा उग्र-कृत 'चार बेचारे', 'बेचारा सम्पादक', 'बेचारा सुधारक', श्री रामदास-कृत 'नाक में दम', 'जोरू का गुलाम', 'करेन्सी नोट', 'लबड़ धौं धौं' आदि एकांकियों को भी विशेष ख्याति प्राप्त हुई है।

भारतेन्दु युग में जिस राजनीतिक एकांकी की प्रवृत्ति का उदय हुआ था वह प्रसाद-युग में आकर और अधिक गतिशील हो गई। इस युग में राष्ट्रीयता का स्वर सर्वाधिक मुखरित हुआ है। राजनीतिक भावना से प्रभावित होकर एकांकीकारों ने अपनी रचनाओं से स्वतंत्रता-आन्दोलन, विदेशी शासन के प्रति आक्रोश एवं घृणा तथा स्वतंत्रता की भावनाओं का स्वर मुखरित किया है। इस संदर्भ में मंगल प्रसाद विश्वकर्मा कृत 'शेरसिंह', सुदर्शन कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा', 'राजपूत की हार', तथा 'जब आँखें खुलती हैं' आदि राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत एकांकी रचनाएँ हैं। श्री ब्रजलाल शास्त्री रचित 'दुर्गावती' में विद्रोह एवं स्वातंत्र्य भावना की प्रधानता है। 'पन्ना धाय' में स्वामिभक्ति एवं अपूर्व बलिदान का चित्रण है। बदरीनाथ भट्ट कृत 'बापू का स्वर्ग समारोह' में राष्ट्रपिता बापू के अपूर्व त्याग एवं बलिदान युक्त चरित्र का उद्घाटन किया गया है। श्री वृन्दावन लाल वर्मा रचित 'दुरंगी' में भारतीय नारियों को देश प्रेम की भावना जाग्रत करने में रत दिखाया गया है। रामनरेश त्रिपाठी रचित 'सीजन डल है' में विदेशी बहिष्कार एवं स्वदेश की भावना का चित्रण है। सेठ गोविन्द दास के 'अपरिग्रह की पराकाष्ठा' में गाँधीवाद के अपरिग्रह के सिद्धान्त का चित्रण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद युग में विभिन्न राजनीतिक दृष्टिकोणों को लेकर एकांकियों की रचना हुई। उन्होंने प्राचीन भारतीय राष्ट्रीय गौरव की स्थापना करते हुए भविष्य में उसकी प्राप्ति की ओर संकेत किया है। भारत भूमि की स्वतंत्रता, राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्र भक्ति की भावधारा का भारतीय मानव के अन्तःकरण में उद्रेक करना इनका उद्देश्य रहा है। चूँकि ये एकांकीकार स्वयं देशप्रेम की भावना से आपूरित थे, अतः उसके चित्रण में स्वाभाविकता एवं प्रभावोत्पादकता का प्राधान्य रहा है। इनकी रचनाओं का परिणाम यह हुआ कि पूर्व प्रसाद-युग में अंकुरित राष्ट्र-प्रेम की भावना इस युग के एकांकीकारों के विचारों की खाद प्राप्त करके भारतीय जनता के हृदय में अधिक पुष्पित एवं पल्लवित हो उठी।

प्रसाद-युगीन एकांकीकारों ने अनेक ऐतिहासिक एकांकियों की रचना करके प्राचीन भारतीय गौरव एवं अतीत के स्वरूप का स्मरण भारतीय जनता को कराया। यद्यपि विदेशी सरकार का भय होने के कारण ये भावना प्रत्यक्ष रूप से प्रगट न हुई किन्तु इसमें निरन्तर विकास के चिह्न अंकित होते चले गये। जैसे-जैसे स्वतंत्रता आन्दोलनों में तीव्रता आई, त्यों-त्यों उनका स्वर एकांकियों में अधिकाधिक मुखरित होने लगा। इन एकांकीकारों ने भारतीय नारी के पतिव्रत धर्म के महान आदर्श, उनकी त्याग एवं बलिदानमयी भावना अपने राष्ट्र के हित के लिए सर्वस्व त्याग की भावना, राष्ट्रहित के लिए प्राणों की बलि चढ़ाना, कर्तव्यों के प्रति जागरूकता आदि सद्गुणों का चित्रण अपनी कृतियों में किया है।

मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा कृत 'शेरसिंह' में राष्ट्रीयता, स्वातंत्र्य प्रेम तथा भारतीय अतीत के गौरवशाली स्वरूप की प्रतिष्ठा है। श्री आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव कृत 'नूरजहाँ', 'चाणक्य और चन्द्रगुप्त', 'शिवाजी और भारत राजलक्ष्मी', ऐतिहासिक कृतियाँ हैं। श्री ब्रजलाल शास्त्री रचित 'दुर्गावती', 'पद्मिनी', 'पन्ना', 'तारा', 'किरण देवी', आदि ऐतिहासिक आदर्शवाद से प्रभावित अतीत गौरव को स्पष्ट करने वाली रचनाएँ हैं। श्री सुदर्शनकृत 'राजपूत की हार', 'प्रताप प्रतिज्ञा', आदि में राजपूती शौर्य, राजपूती स्त्रियों का स्वदेश हित हेतु कर्तव्य का पालन एवं देश प्रेम की भावना का प्रभावपूर्ण वर्णन हुआ है। सेठ गोविन्ददास ने तो बहुत बड़ी संख्या में ऐतिहासिक एकांकियों की रचना की है, जिनमें 'बुद्ध के सच्चे स्नेही कौन?', 'बुद्ध की एक शिष्या', 'सहित या रहित', 'अपरिग्रह की पराकाष्ठा', 'चैतन्य का संन्यास', 'सूखे संतरे' आदि ऐतिहासिक धारा के अन्तर्गत आते हैं। इनमें प्राचीन भारतीय गौरव एवं संस्कृति की प्रतिष्ठा, आचार-विचार का प्रतिपादन

सेठ जी का प्रमुख उद्देश्य रहा है। गोविन्द वल्लभ पंत के 'विष कन्या', 'भस्म रेखा', 'एकाग्रता की परीक्षा' आदि ऐतिहासिक कथावस्तु पर आधारित हैं। इस प्रकार प्रसाद युग में अनेक ऐतिहासिक एकांकियों की रचना हुई जिनके माध्यम से भारत के अतीतमय गौरव एवं संस्कृति पर दृष्टिपात किया गया।

प्रसाद-युगीन कुछ एकांकीकारों ने धार्मिक-पौराणिक क्षेत्र में भी प्रवेश किया है। प्रसाद-युग के धार्मिक एकांकी अपने पूर्व युग में विरचित एकांकी नाटकों से भिन्न थे। भारतेन्दु-युग में इनका विषय प्रधान रूप से राम तथा कृष्ण की कथाओं से ही सम्बद्ध रहा। प्रसाद युग में अन्य पौराणिक कथाओं को भी महत्त्व दिया गया क्योंकि सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति का प्राधान्य होने के कारण धार्मिक एकांकियों से जनता सन्तुष्ट नहीं होती थी। जनता की धार्मिक अश्रद्धा का कारण धार्मिक भ्रष्टाचारों का प्राधान्य एवं वास्तविक धर्म के स्वरूप का लोप होना था। अतः वह धार्मिक क्षेत्र में सुधार परमावश्यक समझती थी। अतः कुछ धार्मिक कथाओं को आधार रूप में ग्रहण कर भारत के प्राचीन धार्मिक आदर्शों को प्रस्तुत करना इस युग के कलाकारों को युक्ति संगत प्रतीत हुआ। धार्मिक पौराणिक एकांकी धारा को प्रवाहित करने में राधेश्याम कथावाचक कृत 'कृष्ण-सुदामा', 'शान्ति के दूत भगवान', 'सेवक के रूप में भगवान कृष्ण', जयदेव शर्मा रचित 'न्याय और अन्याय', जयशंकर प्रसाद कृत 'सज्जन' और 'करुणालय' आनन्दी प्रसाद-कृत 'पार्वती और सीता', चतुरसेन शास्त्री कृत 'सीताराम', 'राधा-कृष्ण', 'हरिश्चन्द्र शैव्या', आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार प्रसाद-युग में कुछ एकांकीकारों ने धार्मिक पौराणिक एकांकी की प्रवृत्ति को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

भारतेन्दु युग में जिस हास्य-व्यंग्य-प्रधान धारा को सामाजिक सुधार-हेतु माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया था उसका निर्वाह प्रसाद-युग में भी दृष्टिगोचर होता है। इन एकांकीकारों ने समाज में प्रचलित अनेक जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों, कुप्रथाओं एवं परम्पराओं पर व्यंग्य किये हैं। उनका लक्ष्य सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सुधार ही अधिक रहा है। श्री बद्रीनाथ भट्ट रचित 'चुंगी की उम्मीदवारी' में चुनाव की प्रणाली पर व्यंग्य किया गया है। श्री जी. पी. श्रीवास्तव रचित 'दुमदार आदमी', 'पत्र-पत्रिका सम्मेलन', 'अच्छा उर्फ अक्ल की मरम्मत', 'न घर का न घाट का', 'गड़बड़झाला', 'लकड़बग्घा', 'घर का मनेजर' आदि हास्य व्यंग्य प्रधान एकांकी हैं जिनमें विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों व रूढ़ियों पर व्यंग्यात्मक प्रहार किये गये हैं। इन रचनाओं में लेखक ने दहेज समस्या, विवाह समस्या तथा सामाजिक विरूपताओं एवं मिथ्या प्रदर्शन की भावना पर सुन्दर व्यंग्य किया है। इसी सन्दर्भ में द्वारिकाप्रसाद गुप्त रचित 'बशर्ते कि' बद्रीनाथ रचित 'लबड़ धौ-धौ', 'पुराने हकीम का नया नौकर', 'मिस अमेरिकन', 'रेगड़ समाचार के एडीटर की धूल दच्छना' आदि हास्य व्यंग्य प्रधान रचनाएँ हैं जिनमें मध्यम तथा अल्प शिक्षित वर्ग की समस्याओं का चित्रण किया गया है। भट्ट जी का यह हास्य शिष्ट एवं सुरुचिपूर्ण बन पड़ा है। श्री रामचन्द्र रघुनाथ रचित 'पाठशाला का एक दृश्य', 'मदद मदद', 'यमराज का क्रोध', रूप नारायण पांडेय रचित 'समालोचना रहस्य', गरीबदास कृत 'मियाँ की जूती मियाँ के सिर', मुकन्दीलाल श्रीवास्तव कृत 'घर का सुख कहीं नहीं है', श्री गोविन्द वल्लभ पंत रचित '140 डिग्री.', 'काला जादू', पांडेय बेचन शर्मा उग्र कृत 'चार बेचारे', 'बेचारा अध्यापक', 'बेचारा सुधारक', सेठ गोविन्ददास कृत 'हंगर स्ट्राइक', 'उठाओ खाओ खाना अथवा बफेडिनर', 'वह मेरा क्यों?' आदि रचनाएँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसाद-युग में भी विभिन्न एकांकीकारों ने विविध क्षेत्रीय समस्याओं एवं परिस्थितियों के उद्घाटन हेतु हास्य व्यंग्य को महत्त्व दिया तथा उसका सफलतापूर्वक प्रयोग भी किया।

प्रसाद-युग के उपर्युक्त प्रतिभाशाली एकांकीकारों के अतिरिक्त अन्य अनेक एकांकीकार भी हुए जिन्होंने एकांकी के क्षेत्र में अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। अनेक एकांकीकारों ने अन्य भाषाओं में लिखित एकांकियों का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया। यद्यपि इस युग में आधुनिक युग की अपेक्षा विकास नगण्य कहा जाता है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि प्रसाद-युग में आकर नाट्यकला विषयक मान्यताओं में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस युग ने आगामी एकांकीकारों को एक पुष्ट आधारभूमि प्रदान की जिसमें आधुनिक एकांकी साहित्य और भी स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ।

प्रसादोत्तर युग (सन् 1938-47)

प्रसादोत्तर युग हिन्दी एकांकी के विकास की तीसरी अवस्था है जिसका समय सन् 1938 से 1947 ई. (स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व) तक रहा। इसके भी हम दो उप-सोपान मान सकते हैं—(1) 1938 ई. से 1940 ई. तक और (2) 1941 ई. से 1947 ई. तक। प्रथम सोपान अर्थात् इस काल के प्रारम्भिक समय में हिन्दी एकांकी में अपने समय की विभिन्न समस्याओं एवं परिस्थितियों पर तर्क-वितर्क मिलता है। तभी कुछ विचित्र एवं क्रांतिकारी परिस्थितियों ने विषय, शैली, और दृष्टिकोण को भी नया मोड़ दिया। हिन्दी के अनेक एकांकीकार इस समय पाश्चात्य नाट्य शैलियों एवं विकसित प्रवृत्तियों से प्रभावित हो उनका अनुकरण कर रहे थे। इब्सन, विलियम आर्चर, बर्नार्ड शॉ आदि ख्याति प्राप्त पाश्चात्य लेखकों का प्रभाव हिन्दी एकांकीकारों पर पड़ ही रहा था। अतः इस युग के एकांकीकारों ने परम्परागत एकांकी-तत्त्वों का निर्वाह करने के साथ अभिनव शिल्प-रूपों को भी स्थान दिया तथा विषय की दृष्टि से एकांकी को मात्र मनोरंजन की वस्तु न बनाकर उसमें मानव जीवन की सामयिक समस्याओं एवं विरूपताओं का चित्रण प्रारंभ कर दिया। अर्थात् इस समय हिन्दी एकांकी आदर्शवाद के एकांगी घेरे से निकल कर यथार्थवाद की ओर बढ़ा। सन् 1940 से 1947 तक का समय भारत के लिए आपत्तियों का समय था। युद्ध की विभीषिकाएँ, बंगाल का अकाल, आजादी की हुंकार, विदेशी शासकों के लोमहर्षक अत्याचार, चोर बाजारी आदि इन्हीं सात वर्षों के भीतर की ही बातें हैं। इन सबने हमारे चिन्तन और हमारी कला को प्रभावित किया। एकांकी भी इनसे अछूता नहीं रह सका। कृत्रिमता की बजाय स्वाभाविक और सहज जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाले एकांकी की रचना प्रारंभ हुई। इन एकांकियों में नाटकीय अभिनय के स्थान पर सरल अभिनयात्मक संकेत दिये जाने लगे। इसमें परम्परागत रंगमंच-विधान सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया और उससे सहजता, सरलता, स्वाभाविकता एवं यथार्थ के दर्शन होने लगे। शिल्प विधान के अनावश्यक आडम्बर बन्धन से इस युग का एकांकी साहित्य मुक्त हो गया। संकलन त्रय को वस्तुतः इसी समय एकांकी का अनिवार्य अंग माना जाने लगा। अब एकांकी केवल साहित्यिक विधा ही न रह गयी अपितु इस युग में रंगमंच की स्थापना के साथ उसके स्वरूप में भी अन्तर परिलक्षित हुआ। इस समय तक 'हंस' तथा 'विश्वमित्र' आदि पत्रिकाओं में एकांकी नाटक एकांकी के नाम से प्रकाशित होने प्रारम्भ हो गये तथा इनकी प्रारम्भिक भूमिकाओं में एकांकी के शिल्प आदि पर विचार प्रस्तुत किये जाने लगे। जिस प्रकार भारतेन्दु-युग और प्रसाद-युग में हिन्दी एकांकी की विविध प्रवृत्तियाँ उभरी थीं उसी प्रकार प्रसादोत्तर युग में भी हिन्दी एकांकी की विविध प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। वास्तव में प्रस्तुत युग में भी पूर्वयुगीन प्रवृत्तियों को ही आधार बनाकर एकांकियों की रचना हुई किन्तु उनको आदर्शवाद के स्थान पर यथार्थवादी आधारभूमि पर निर्मित किया गया।

प्रसादोत्तर युग में यद्यपि एकांकी की अनेक प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिला है तथापि सामाजिक एकांकी की प्रवृत्ति पर लगभग सभी युगीन एकांकीकारों ने अपनी लेखनी चलाई। प्रस्तुत युग के प्रमुख एकांकीकार डा. राजकुमार वर्मा ने तो अनेक सामाजिक समस्या प्रधान एकांकियों की रचना करके हिन्दी एकांकी साहित्य को बहुमूल्य धरोहर प्रदान की है। इन्होंने जीवन की वास्तविकता को अपने एकांकियों का आधार बनाया। इस दृष्टि से इनके 'एक तोले अफीम की कीमत', 'अठारह जुलाई की शाम', 'दस मिनट', 'स्वर्ग का कमरा', 'जवानी की डिब्बी', 'आँखों का आकाश', 'रंगीन स्वप्न', आदि एकांकी सामाजिक एकांकी की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्मा जी के समान **उपेन्द्रनाथ 'अशक'** का ध्यान भी विविध वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं की ओर गया। इनकी एकांकी रचनाओं में- 'चरवाहे', 'चिलमन', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'पहेली', 'सूखी डाली', 'अन्धी गली', 'तूफान से पहले', आदि सामाजिक दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें लेखक ने युगीन सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं, विरूपताओं, विकृतियों, एवं अज्ञानताओं का बड़ा ही प्रभावोत्पादक किन्तु व्यंग्यात्मक चित्र उपस्थित किया है। युगीन एकांकीकार **भुवनेश्वर** रचित 'श्यामा एक वैवाहिक विडम्बना', 'स्ट्राइक', 'एक साम्यहीन साम्यवादी' तथा 'प्रतिमा का विवाह' आदि प्रसिद्ध हैं। इसमें सामाजिक बाह्याडम्बर, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, यौन विषयक समस्याओं एवं प्राचीन अप्रगतिशील मान्यताओं का चित्रण किया गया है जो मानव जीवन के विकास पथ को अवरुद्ध किए हैं। **श्री जगदीश चंद्र माथुर** का दृष्टिकोण भी सामाजिक जीवन की समस्याओं के प्रति स्वस्थ एवं उदार रहा है। वे उन एकांकियों को सफल नहीं मानते जो समाज से निरपेक्ष होकर मात्र साहित्यिक विधा बनकर रह जाते हैं। उन्होंने 'ओ मेरे सपने' के पूर्व निवेदन में लिखा है कि 'कौन ऐसा लेखक होगा कि जिसकी कलम पर सामाजिक समस्याएँ सवार न होती हों अनजाने ही या डंके की चोट के साथ?' इस विचार के अनुसार उनके 'मेरी बाँसुरी', 'खिड़की की राह', 'कबूतर खाना', 'भोर का तारा', 'खंडहर', आदि एकांकी उल्लेखनीय हैं। इनमें सामाजिक बन्धनों के प्रति तीव्र विद्रोही भावना व्यक्त हुई है। **श्री शम्भुदयाल सक्सेना** रचित 'कन्यादान', 'नेहरू के बाद', 'मुर्दों का व्यापार', 'नया समाज', 'नया हल नया खेतल', 'सगाई', 'मृत्युदान' आदि एकांकी सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं। सक्सेना जी पर गाँधीवादी जीवन का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। यही कारण है कि इन रचनाओं में सादा जीवन का महत्त्व, मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा, नैतिक उन्नयन के प्रति आग्रह, बाह्याडम्बर के प्रति घृणा एवं कर्तव्य के प्रति जागरूकता के दर्शन होते हैं। हरिकृष्ण प्रेमी ने 'बादलों के पार', 'वाणी मन्दिर', 'सेवा मन्दिर', 'घर या होटल', 'निष्ठुर न्याय' आदि एकांकी रचनाओं में विविध सामाजिक समस्याओं का अंकन किया है जिनमें विधवा समस्या, नारी की आधुनिकता, वर्ग वैषम्य, जातीय बन्धन की संकीर्णता, प्राचीन परम्पराओं एवं मान्यताओं की अर्थहीनता, पुरुष की वासना लोलुपता एवं दुश्चरित्रता आदि का चित्रण प्रमुख रूप से किया है। **भगवतीचरण वर्मा** कृत 'मैं और केवल मैं', 'चौपाल में' तथा 'बुझता दीपक', में पीड़ित मानव की अन्तर्वेदना का करुण स्वर उभर कर सामने आया है। **श्री रामवृक्ष बेनीपुरी** रचित 'नया समाज', 'अमर ज्योति', तथा 'गाँव का देवता' आदि रचनाएँ सामाजिक समस्या प्रधान हैं। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने भारतीय संस्कृति के आदर्शों को उपयुक्त एवं उचित तर्कों की कसौटी पर कसकर उनको समाज के लिए उपयोगी सिद्ध किया जिनमें बुद्धि, तर्क एवं विवेक का प्राधान्य है। इस दृष्टि से 'हाँ में नहीं का रहस्य', 'खदर', 'वे दोनों' आदि विशेष महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** रचित 'प्यास' तथा 'दीनू', **श्री यज्ञदत्त शर्मा** कृत 'छोटी-बात', 'साथ', 'दुविधा', **एस.**

सी.खत्री रचित, 'बन्दर की खोपड़ी', 'प्यारे सपने', श्री सज्जाद जहीर रचित 'बीमार' आदि रचनाओं में सामाजिक जीवन के सत्य को उभरते हुए और उनका सर्वपक्षीय चित्रण किया गया है।

प्रसादोत्तर युग राजनीतिक क्रांति का युग था। गाँधी जी का प्रभाव राजनीतिक जीवन में विशेष रूप से पड़ रहा था। दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार का दमन चक्र भी राजनीतिक क्रांति को कुचलने के लिए तीव्र गति से चल रहा था। एकांकीकारों ने तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं एवं गतिविधियों का चित्रण करना तथा देशवासियों में देशप्रेम एवं स्वतंत्रता की भावना को प्रबल करना अपना महान कर्तव्य समझा। श्री भगवती चरण वर्मा ने 'बुझता दीपक' में राजनीतिक दृष्टि से कांग्रेस के उच्च पदाधिकारियों अथवा नेताओं के खोखलेपन पर भी व्यंग्यात्मक प्रहार किया है। श्री हरिकृष्ण प्रेमी ने अपनी राजनीतिक रचनाओं में राष्ट्र के नवनिर्माण, देशभक्तों भारतीय नेताओं एवं जनता के स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु किये जाने वाले कार्यों, हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष, साम्प्रदायिक एकता की आवश्यकता, दासता की बेड़ियों को तोड़ने के लिए कृत संकल्प देशभक्तों की चारित्रिक महानता आदि को चित्रित किया है। इस दृष्टि से इनकी 'राष्ट्र मन्दिर', 'मातृ-मन्दिर', 'मान-मन्दिर' तथा 'न्याय मन्दिर' आदि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र रचित 'देश के शत्रु' शीर्षक एकांकी में उन स्वार्थलोलुप व्यक्तियों पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया गया है जो अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु देश के प्रति अपने कर्तव्य को भुलाकर देशद्रोही बन बैठे हैं। जगदीश चंद्र माथुर रचित 'भोर का तारा' शीर्षक एकांकी में देशभक्त कवि के महान् बलिदान की कहानी है। डा. सुधीन्द्र रचित 'खून की होली', 'नया वर्ष', 'नया संदेश', 'राखी', 'संग्राम' आदि तथा चन्द्रगुप्त विद्यालंकार रचित 'कासमोपोलिटन क्लबों' आदि रचनाएँ राजनीतिक भावना से ओतप्रोत हैं। इस प्रकार युगीन एकांकीकारों ने राजनीतिक भावना से प्रभावित होकर राष्ट्रीयता का स्वर अपनी रचनाओं में प्रस्फुटित किया है।

आलोच्य युग में कुछ देशद्रोही वैयक्तिक स्वार्थों के कारण ब्रिटिश शासकों का साथ दे रहे थे। ऐसे देश-द्रोहियों को देशभक्ति की शिक्षा देने की दृष्टि से एकांकीकारों ने ऐतिहासिक पात्रों के आदर्श एवं त्यागमय चरित्र को प्रस्तुत करके प्राचीन भारतीय गौरव की ओर ध्यान भी आकर्षित करवाया। डॉ. वर्मा के ऐतिहासिक एकांकियों में 'चारुमित्रा', 'पृथ्वीराज की आँखें', 'दीपदान', 'रात का रहस्य', 'प्रतिशोध', 'राज श्री', आदि प्रमुख हैं। जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कलिंग विजय', तथा 'शारदीया', शीर्षक एकांकियों की रचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर की है तथा भारतीय सांस्कृतिक वातावरण का प्रभावोत्पादक स्वरूप चित्रित किया है। राष्ट्रीय ऐतिहासिक भावना पर 'सिकन्दर', 'जेरुसलम' आदि एकांकियों की रचना करके भुवनेश्वर प्रसाद ने अपने देश प्रेम का परिचय दिया है।

हरिकृष्ण प्रेमी रचित 'मान मन्दिर', 'न्याय मन्दिर', 'मातृ भूमि का मान', 'प्रेम अन्धा है', 'रूपशिखा' आदि राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत ऐतिहासिक रचनाएँ हैं। श्री यज्ञदत्त शर्मा रचित 'प्रतिशोध' तथा 'हेलन' में भारत के गौरवमय अतीत की झाँकी प्रस्तुत की गई है। डा. सत्येन्द्र रचित 'कुणाल', 'प्रायश्चित', 'विक्रम का आत्ममेघ' में प्राचीन कथानक लेकर स्वस्थ तथा तार्किक विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है। भारतीय सांस्कृतिक गौरव की प्रतिष्ठा, अतीतकालीन भारतीय गौरव की महत्ता तथा नागरिकों के चारित्रिक बल की अभिवृद्धि करने वाले आदर्श पात्रों की सृष्टि करके लेखक ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में सहयोग प्रदान किया है। गिरिजाकुमार माथुर रचित 'विषपान', 'कमल और रोटी', 'वासवदत्ता' आदि में देशभक्तिपूर्ण आत्म बलिदान तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु किये गये शौर्यपूर्ण कार्यों का चित्रण है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी रचित

‘संघमित्रा’, ‘सिंहल विजय’, ‘नेत्रदान’, ‘तथागत’, आदि इतिहास प्रसिद्ध घटनाओं पर आधारित हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रसादोत्तर युग में अनेक एकांकीकारों ने बहुत बड़ी संख्या में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर एकांकियों की रचना करके प्राचीन भारतीय गौरव को वर्तमान के समक्ष रखा है।

धर्म-प्रधान देश के नागरिक होने के कारण भारतीय हिन्दी एकांकीकारों ने अपने एकांकियों की रचना धार्मिक आधार पर करने की प्रवृत्ति इस युग में भी नहीं छोड़ी। श्री शम्भुदयाल सक्सेना ने विशेष रूप से धार्मिक पौराणिक प्रसंगों पर। आधारित एकांकियों की रचना की है। इन्होंने प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक गौरव की प्रतिष्ठा करने की दृष्टि से उन गौरवशाली चित्रों को उपस्थित किया जिन्होंने भारतीय हिन्दू संस्कृति की मर्यादा को बनाये रखा। इनके द्वारा रचित ‘सीताहरण’, ‘शिला का उद्धार’, ‘उत्तराई’, ‘सोने की मूर्ति’, ‘विदा’, ‘वनपथ’, ‘तापसी’, ‘पंचवटी’ आदि एकांकी प्रमुख हैं। लगभग सभी एकांकियों में हिन्दू संस्कृति की महत्ता भारतीय आर्य सभ्यता के उच्चादर्शों, बौद्ध धर्म की भव्यता तथा भारतीय नैतिक दृष्टिकोण की श्रेष्ठता के स्वरूप का चित्रण किया गया है। डा. रामकुमार वर्मा ने ‘अन्धकार’ तथा ‘राजरानी सीता’, शीर्षक एकांकियों में पाप, पुण्य, प्रेम तथा वासना संबंधी प्रश्नों को उठाते हुए यह चित्रित किया है कि प्रेम के बिना वासना असम्भव है। लक्ष्मीनारायण मिश्र रचित ‘अशोक वन’, शीर्षक एकांकी में लेखक ने सीता के आदर्श चरित्र की विशेषताओं, पतिव्रत, चारित्रिक बल, तार्किक बुद्धि तथा सात्विक प्रवृत्ति की आकर्षक झांकी प्रस्तुत करके नीति एवं मर्यादा पर विशेष बल दिया है।

प्रो. सद्गुरुशरण अवस्थी रचित ‘कैकेयी’, ‘सुदामा’, ‘प्रज्ञाद’, ‘शम्बूक’, ‘त्रिशंकु’ आदि एकांकियों में प्राचीन, पौराणिक एवं धार्मिक पात्रों को मौलिक ढंग से नवीन तर्क, विचार, आदर्श एवं नैतिक तत्त्वों सहित प्रस्तुत किया है तथा इन पात्रों के माध्यम से प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का गौरव गुणगान किया है। अवस्थी जी ने अतीत की व्याख्या आधुनिक तथा नवीन दृष्टिकोण से की है।

आलोच्य युग में अनेक एकांकीकारों ने अनेक हास्य व्यंग्य प्रधान एकांकियों की रचना करके विभिन्न समसामयिक समस्याओं की अभिव्यक्ति एवं समाधान प्रस्तुत किया है। इन एकांकीकारों ने उन विभिन्न समस्याओं पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया है। जो सामाजिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक जीवन के लिए अभिशाप बनी हुई थीं। उपेन्द्रनाथ ‘अशक’ ने विशेष रूप से इस श्रेणी के एकांकियों की रचना की। इनकी ‘कइसा साब काइसी बीबी’, ‘जोंक’, ‘पक्का गाना’, ‘घपले’ आदि रचनाएँ हास्य व्यंग्य प्रधान हैं। भगवती चरण वर्मा रचित ‘दो कलाकार’ तथा ‘सबसे बड़ा आदमी’, में हास्यमय वातावरण की सृष्टि करते हुए व्यंग्यात्मक प्रहार किये गये हैं। गिरिजाकुमार माथुर ‘बरात चढ़े’, ‘मध्यस्थ’, ‘पिकनिक’, श्री पृथ्वीनाथ शर्मा रचित ‘मुक्ति’ तथा डा. रामकुमार वर्मा रचित ‘रूप की बीमारी’ आदि रचनाएँ हास्य व्यंग्य प्रधान हैं।

मनोवैज्ञानिक एकांकी की प्रवृत्ति का जन्म भी प्रसादोत्तर युग में हुआ। पाश्चात्य एकांकीकारों के प्रभावस्वरूप हिन्दी एकांकीकारों ने भी पात्रों के मन की गहराइयों में पहुँचकर उनके मनोभावों के चित्रण को परमावश्यक समझा। जगदीशचन्द्र माथुर रचित ‘मकड़ी का जाला’ शीर्षक एकांकी में अतीत की घटनाओं को स्वप्न के माध्यम से चित्रित करते हुए अवचेतन मन की ग्रंथियों का अत्यन्त कलात्मक ढंग से चित्रण किया है। ‘भुवनेश्वर प्रसाद’ रचित ‘ऊसर’, ‘प्रतिमा का विवाह’ तथा ‘लाटरी’ आदि मनोविश्लेषण प्रधान मनोवैज्ञानिक रचनाएँ हैं। इन रचनाओं पर फ्रायड के मनोविज्ञान का स्पष्ट प्रभाव है। श्री शम्भुदयाल सक्सेना रचित ‘जीवन धारणी’, ‘नन्दरानी’, ‘पंचवटी’ आदि, गिरिजाकुमार माथुर रचित ‘अपराधी’, श्री उपेन्द्रनाथ

‘अश्क’ रचित ‘छटा बेटा’, ‘भंवर’, ‘अंधी गली’, ‘मेमना’, ‘सूखी डाली’ आदि मनोवैज्ञानिक रचनाएँ हैं। इन एकांकियों में मन की अतृप्त इच्छाओं, महत्त्वाकांक्षाओं तथा मन की दलित अनुभूतियों का सजीव चित्रण किया गया है।

इस प्रकार, प्रसादोत्तर युग में पहुँचकर, हर दृष्टि से एकांकी साहित्य का एक स्वतंत्र अस्तित्व परिलक्षित होता है। अनेक पाश्चात्य नाटककारों जैसे इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी, चेखव आदि एकांकीकारों की रचनाओं का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ हो गया था। इन अंग्रेजी एकांकियों के हिन्दी अनुवादों की माँग रेडियो के क्षेत्र में अधिक थी। प्रो. अमरनाथ गुप्त ने ए. ए. मिलन की एकांकी का हिन्दी अनुवाद किया। कामेश्वर भार्गव द्वारा ‘पुजारी’ शीर्षक हिन्दी अनुवाद प्राप्त हुआ जो ‘विशप्स कैंडिलस्टिक्स’ का हिन्दी अनुवाद है। इसके अतिरिक्त हैराल्ड विगहाउस की रचनाओं के भी हिन्दी अनुवाद हुए। इस प्रकार आलोच्य युगीन एकांकीकारों ने विभिन्न नवीन प्रयोगों के द्वारा हिन्दी एकांकी साहित्य को समृद्धिशाली बनाया।

स्वातंत्र्योत्तर युग (1947 से अब तक)

हिन्दी एकांकी के विकास की चौथी अवस्था स्वतंत्रता के पश्चात् प्रारम्भ होती है, जिसे स्वातंत्र्योत्तर युग के नाम से जाना जाता है। इस अवस्था में हिन्दी एकांकियों पर रेडियो का प्रभाव बड़ी गहराई से पड़ा है। रेडियो नाटकों के रूप में नाटकों का नवीन रूप हमारे समक्ष आया। रेडियो माध्यम होने के कारण श्रोतागण इसमें रुचि लेने लगे। इसलिए रेडियो एकांकियों की माँग इस युग में अधिक रही। डॉ. दशरथ ओझा ने लिखा है कि ‘हिन्दी के जितने नाटक आज रेडियो स्टेशनों पर अभिनीत होते हैं उतने सिनेमा की प्रयोगशालाओं में भी नहीं होते होंगे। अतः नाट्यकला का भविष्य रेडियो-रूपक के रचयिताओं के हाथ में है।’³ स्वातंत्र्योत्तर युगीन हिन्दी एकांकी का स्वरूप विविधता लिए हुए है। इनमें एक ओर परम्परागत शैली में राष्ट्रीय भावना प्रधान एकांकी लिखे गये तो दूसरी ओर ध्वनि नाट्य तथा गीति नाट्य का भी विकास हुआ। इस युग के एकांकीकारों ने सामाजिक, राजनीतिक, मानवतावादी तथा यथार्थवादी विचारधाराओं से प्रभावित होकर एकांकियों की रचना की। इन एकांकीकारों का दृष्टिकोण प्रगतिशील तत्त्वों से प्रभावित रहा। जिससे इनकी रचनाओं में पूँजीवाद विरोध, वर्ग संघर्ष, सड़ी-गली रूढ़ियों के प्रति अनास्था, मानव अन्तर्मन की सूक्ष्म भावनाओं का विश्लेषण, भ्रष्टाचार उन्मूलन, कृषक एवं मजदूर की दयनीय स्थिति तथा ब्रिटिश सरकार के प्रति असन्तोष आदि विचार व्यक्त हुए।

इस क्षेत्र में विनोद रस्तोगी रचित ‘बहू की विदा’, कणाद ऋषि भटनागर रचित ‘नया रास्ता’, तथा ‘अपना घर’ दहेज की कुप्रथा का पर्दाफाश करते हैं। विनोद रस्तोगी, जयनाथ नलिन, लक्ष्मीनारायण लाल, राजाराम शास्त्री, कैलाश देव, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, रेवतीसरण शर्मा, श्री चिरंजीत, भारत भूषण अग्रवाल, कृष्ण किशोर, करतार सिंह दुग्गल, स्वरूप कुमार बख्शी, गाविंद लाल माथुर आदि ने समाज में परिव्याप्त विभिन्न सामाजिक रूढ़ियों एवं विकृतियों के चित्र खींचे हैं। इस युग के एकांकीकारों का यथार्थपरक दृष्टिकोण एवं मानवीय मूल्यों के प्रति विशेष आग्रह रहा है। विष्णु प्रभाकर के ‘बन्धन मुक्त’ में अछूतोद्धार, ‘पाप’ में अविवाहित युवती का अनुचित पैगाम, ‘साहस’ में निर्धनता और वेश्यावृत्ति, ‘प्रतिशोध’ तथा ‘इंसान’ में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों से उत्पन्न साम्प्रदायिकता की समस्या, ‘वीर पूजा’ में शरणार्थी समस्या,

³ हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : डॉ. दशरथ ओझा : पृ. 337

‘किरण और कुहासा’ में अन्तर्जातीय विवाह की सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया गया है। विष्णु प्रभाकर पर गाँधीवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इनके ‘स्वतंत्रता का अर्थ’, ‘काम’, सर्वोदय, ‘समाज सेवा’, ‘नया काश्मीर’ आदि एकांकियों में गाँधीवादी सामाजिक एवं आर्थिक विचारधाराओं की अभिव्यक्ति हुई है। चिरंजीव के एकांकी यथार्थ एवं कल्पना का सम्मिलित रूप प्रकट करते हैं। सामाजिक एकांकियों में इनका यथार्थवादी, आलोचनात्मक एवं व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण रहा है। कणाद ऋषि भटनागर कृत ‘नया रास्ता’ तथा ‘लांछन’ में नारी स्वातंत्र्य एवं समानाधिकार का स्वर मुखरित हुआ है। देवीलाल सामर कृत ‘परित्यक्त’, देवराज दिनेश कृत ‘समस्या सुलझ गई’, विधवा पुनर्विवाह का समर्थन करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर एकांकीकारों ने अपनी रचनाओं में उन विविध सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया है जो सहज ही मानव संवेदनाओं का संस्पर्श करती हैं।

आलोच्य युग में हिन्दी एकांकी में राजनीतिक जीवन, स्वाधीनता संघर्ष, बंगाल का अकाल, भुखमरी, फासीवाद का विरोध, जागीरदारी और देशी नरेशों का जीवन तथा अन्य अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ प्रकट हुई हैं। गाँधी जी द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु चलाये गये विभिन्न आन्दोलनों एवं क्रिया-कलापों का चित्रण भी इन एकांकियों में मिलता है। स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् हिन्दी एकांकीकारों की लेखनी निर्बाध रूप से निर्भय होकर चल पड़ी। अतः उन्होंने अपनी लेखनी से ब्रिटिश प्रशासकों के काले कारनामों का भी भण्डाफोड़ उन्मुक्त रूप से किया तथा देशद्रोहियों की वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु ब्रिटिश सरकार के प्रति चाटुकारिता की प्रवृत्ति का चित्रण करते हुए उनकी कटु आलोचना भी की है। **जयनाथ नलिन** की राष्ट्रीय रचनाओं में सृजनात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। देश की स्वतंत्रता, इसके लिए किया गया बलिदान, त्याग, सतत उद्योग एवं कर्म की आवश्यकता के महत्त्व का प्रतिपादन इनकी रचनाओं में हुआ है। इनके ‘विद्रोही की गिरफ्तारी’, ‘देश की मिट्टी’, ‘युग के बाद’, ‘लाल दिन’ आदि राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण एकांकी हैं। **विष्णु प्रभाकर** ने जो राजनीतिक भावना से परिपूर्ण एकांकी लिखे उनमें राजनीतिक उथल-पुथल, समाज पर राजनीतिक प्रभाव, स्वतंत्रता आन्दोलन तथा राजनीतिक गौरव का चित्रांकन किया है। इस श्रेणी के प्रमुख एकांकी-‘क्रांति’, ‘कांग्रेस मैं बनो’, ‘हमारा स्वाधीनता संग्राम’ आदि हैं। ‘हमारा स्वाधीनता संग्राम’, संयम, स्वतंत्रता का अर्थ, काम, सर्वोदय आदि गाँधीवादी भावना से प्रभावित रचनाएँ हैं। राष्ट्र के प्रति कर्तव्य एवं जागरूकता का चित्रण **प्रेमराज शर्मा** कृत ‘गाँधी की आँधी’। देवीलाल सागर ने ‘बहादुर शाह’, ‘वाजिद अली शाह’, तथा ‘शेरशाह सूरी’ में **परिपूर्णानन्द वर्मा** ने राष्ट्रीय एकता एवं संगठन का संकेत किया है। भारतीय नारी द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में दिये गये सक्रिय सहयोग का चित्रण भी इन एकांकीकारों ने किया है।

प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक राजनीतिक एकांकी की धारा तीव्रवेग से प्रवाहित हो रही थी। इस युग के एकांकीकारों ने प्राचीन ऐतिहासिक पात्रों के महान चरित्रों को समक्ष रख भारतीय इतिहास का गौरवमय चित्र सामने रखा तथा देशद्रोहियों को उनके दुष्कृत्यों पर धिक्कारा। इसी धारा का पोषण स्वातंत्र्योत्तर युगीन एकांकीकारों ने उन्मुक्त हृदय से किया है। इन एकांकीकारों ने मुगलकाल से लेकर ब्रिटिश काल तक के इतिहास को अपनी एकांकी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई का इतिहास प्रस्तुत कर आगामी पीढ़ी के लिए एक अमूल्य धरोहर प्रदान की है। साथ ही गाँधीवाद से प्रभावित एकांकीकारों ने गाँधी के सत्य, अहिंसा एवं मानवतावादी एवं शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक आन्दोलन की स्वतंत्रता के युद्ध की पृष्ठभूमि में अभिव्यक्ति की है। **श्री विनोद रस्तोगी** ने ‘पुरुष का पाप’, ‘पत्नी परित्याग’, ‘साम्राज्य और सोहाग’, ‘प्यार

और प्यास' आदि एकांकियों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को आधार बना आधुनिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। **देवीलाल सागर** ने 'वीर बल्लू', 'ओ नीला घोड़ा वा असवार', तथा 'जीवन दान', शीर्षक ऐतिहासिक एकांकियों में प्राचीन राजपूती शौर्य, मातृभूमि प्रेम, स्वातंत्र्य प्रेम तथा त्याग का सुन्दर चित्रण किया है। **प्रो. जयनाथ नलिन** ने 'देश की मिट्टी', 'विद्रोही की गिरफ्तारी' आदि एकांकियों में देश की स्वतंत्रता, देशहेतु किए गए शौर्यपूर्ण बलिदान, देश सेवा तथा देश के प्रति कर्तव्य का सन्देश दिया है। **श्री परिपूर्णानन्द वर्मा** ने 'वाजिद अली शाह', 'शेरशाह सूरी' तथा 'बहादुरशाह' आदि में तीनों मुगल बादशाहों के शासन-काल की सुन्दर झांकी प्रस्तुत की है। **प्रेमनारायण डंडन** ने 'अजात शत्रु', 'गान्धार पतन', 'संकल्प', 'माता' की रचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर की है।

विष्णु प्रभाकर रचित 'अशोक' शीर्षक एकांकी जहाँ हिंसा पर अहिंसा, असत्य पर सत्य तथा दानवता पर मानवता की विजय को चित्रित करती है वहाँ ऐतिहासिक पात्र कलिंग कुमार के देशभक्तिपूर्ण बलिदान, शौर्य, वीरता एवं दृढ़ता का भी सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार ये एकांकीकार ऐतिहासिक एकांकी प्रवृत्ति को आगे बढ़ाने का कार्य कर रहे हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर युगीन एकांकीकारों ने अपनी रचनाओं में प्राचीन सांस्कृतिक, पौराणिक, धार्मिक तथा नैतिक प्रसंगों की अभिव्यक्ति अपनी एकांकी रचनाओं में नवीन विचारों तथा तर्क की कसौटी पर नवीन ढंग से की है। **प्रो. कैलासदेव बृहस्पति** ने अतीत भारत की सांस्कृतिक परम्परा का पुनरुत्थान तथा उसके आदर्शमय अतीत गौरव का चित्रांकन अपने पौराणिक तथा ऐतिहासिक रूपकों में किया है। इनके 'सागर मंथन', 'विश्वामित्र', 'स्वर्ग में क्रान्ति', आदि महत्वपूर्ण रेडियो रूपक हैं जिनमें भारतीय सांस्कृतिक गौरव का कलात्मक चित्रण किया गया है। **कणाद ऋषि भटनागर** ने 'आज का ताजा अखबार', में भारतीय संस्कृति की महत्ता चित्रित की है। **ओंकारनाथ दिनकर** रचित गणतंत्र की गंगा, अभिसारिका, **सीताराम दीक्षित** रचित 'रक्षाबन्धन', **देवीलाल सामर** रचित 'आत्मा की खोज', 'ईश्वर की खोज' आदि में पौराणिक एवं धार्मिक कथानकों के आधार पर प्राचीन भारतीय राजनैतिक, सांस्कृतिक मानवतावादी एवं दार्शनिक आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। इनमें से कतिपय एकांकियों में गाँधीवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति हुई है।

आलोच्य युगीन एकांकीकारों ने विभिन्न वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं का चित्रण हास्य व्यंग्य प्रधान शैली में किया है। जैसे **देवीलाल सामर** ने 'वल्लभ', 'तवायफ के घर बगावत', 'उपन्यास का परिच्छेद', 'अमीर की बस्ती अछूत' आदि में आश्रयहीन तिरस्कृत विधवाओं, समाज के उनके प्रति दुर्व्यवहार, छुआछूत, रूढ़ियों तथा परिवारों में होने वाले छोटे-छोटे अत्याचारों पर व्यंग्य किया है।

प्रो. जयनाथ नलिन ने 'संवेदना सदन', 'शान्ति सम्मेलन', 'वर निर्वाचन', 'नेता', 'मेल मिलाप' आदि व्यंग्य प्रधान एकांकी लिखे हैं। **लक्ष्मीनारायण लाल** ने 'गीत के बोल', 'मूर्ख', 'सरकारी नौकरी', 'कला का मूल्य', 'रिश्तेदार' आदि भावना प्रधान कटु व्यंग्य मिश्रित एकांकियों का सृजन किया है। **कृष्ण किशोर श्रीवास्तव** रचित 'मछली के आंसू', 'जीवन का अनुवाद', 'आँख', 'बेवकूफ की रानी' आदि में सामाजिक यथार्थ चित्रण कर कटु व्यंग्यात्मक प्रहार किया गया है। इसके अतिरिक्त **राजाराम शास्त्री**, **श्री चिरंजीत** आदि को हास्य रस के छोटे-छोटे व्यंग्यात्मक एकांकी लिखने में अच्छी सफलता मिली है।

उपर्युक्त एकांकीकारों के अतिरिक्त स्वातंत्र्योत्तर युग में अन्य अनेक प्रतिभा सम्पन्न एकांकीकार भी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए हिन्दी एकांकी को सम्पन्न एवं समृद्ध बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कुछ एकांकीकारों ने मनोविश्लेषण प्रधान एकांकियों की रचना की जिनमें मानसिक कुण्ठाओं एवं जटिल भावना-ग्रन्थियों का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस युग में विविध विषयों एवं समस्याओं को लेकर बहुत बड़ी संख्या में एकांकियों की रचना हुई।

संक्षिप्ततः, हिन्दी एकांकी का विकास क्रमशः भारतेन्दु युग, प्रसाद युग, प्रसादोत्तर युग तथा स्वतंत्र्योत्तर युग में सम्पन्न हुआ। भारतेन्दु युग में जो एकांकी लिखी गयी वे प्रायः नाटक का ही लघु रूप थीं। इस युग में एकांकी का स्वतंत्र रूप नहीं मिलता। किन्तु प्रसाद युग से प्रारम्भ होकर स्वातंत्र्योत्तर काल तक इसका स्वतंत्र स्वरूप निश्चित हुआ जो निश्चित रूप से प्रगति युग कहा जा सकता है। ऐसे विकास-क्रम को देखते हुए कहा जा सकता है कि निश्चय ही हिन्दी एकांकी का भविष्य उज्ज्वल होगा।

3. आत्मकथा, यात्रा साहित्य, रेखाचित्र, व्यंग्य, संस्मरण

डॉ. बृज किशोर वशिष्ठ
मोतीलाल नेहरू सांध्य कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

आत्मकथा

‘आत्मकथा’ का अर्थ-आत्मकथा स्वानुभूति का सबसे सरल माध्यम है। आत्मकथा के द्वारा लेखक अपने जीवन, परिवेश, महत्वपूर्ण घटनाओं, विचारधारा, निजी अनुभव, अपनी क्षमताओं और दुर्बलताओं तथा अपने समय की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है।

आरंभिक युग हिन्दी में आत्मकथाओं की एक लंबी परंपरा रही है। हिन्दी की प्रथम आत्मकथा बनारसीदास जैन कृत ‘अर्द्धकथा’ (1641ई.) है। आत्मकथा की मूलभूत विशेषताओं-निरपेक्षता और तटस्थता को इसमें सहज ही देखा जा सकता है। इसमें लेखक ने अपने गुणों और अवगुणों का यथार्थ चित्रण किया है। पद्य में लिखी इस आत्मकथा के अतिरिक्त पूरे मध्यकाल में हिन्दी में कोई दूसरी आत्मकथा नहीं मिलती।

अन्य कई गद्य विधाओं के साथ आत्मकथा भी भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में विकसित हुई। भारतेंदु ने अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से इस विधा का पल्लवन किया। उनकी स्वयं की आत्मकथा ‘एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती’ का आरंभिक अंश ‘प्रथम खेल’ शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। उनकी संक्षिप्त-सी आत्मकथा की भाषा आम-बोलचाल के शब्दों से निर्मित हुई है, जो एक तरह से बाद की आत्मकथाओं के लिए आधार दृष्टि का काम करती है। भारतेंदु के अतिरिक्त इस काल के आत्मकथाकारों में सुधाकर द्विवेदी कृत ‘रामकहानी’ और अबिकादत्त व्यास कृत ‘निजवृत्तांत’ को महत्वपूर्ण माना जा सकता है। कलेवर की दृष्टि से इन आत्मकथाओं को भी संक्षिप्त कहा जा सकता है। व्यास जी की आत्मकथा मात्र 56 पृष्ठों की है। इसमें उन्होंने सरल भाषा का प्रयोग करते हुए अपने जीवन संघर्षों को स्वर दिया है।

स्वामी दयानंद सरस्वती की आत्मकथा सन् 1875 में प्रकाश में आई। इस आत्मकथा में दयानंद सरस्वती के जीवन के विविध पक्षों यथा-ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, विद्वत्ता, सत्यनिष्ठा और निर्भीकता आदि का सजीव चित्रण हुआ है। सत्यानंद अग्निहोत्री कृत ‘मुझ में देव जीवन का विकास’ का पहला खण्ड सन् 1909 में और दूसरा खण्ड सन् 1918 में प्रकाशित हुआ। इस में आत्मश्लाघा की प्रधानता है। सन 1921 में भाई परमानंद की आत्मकथा ‘आपबीती’ प्रकाशित हुई। इसे किसी क्रांतिकारी की आत्मकथा माना जा सकता है। इसमें लेखक ने स्वतंत्रता आंदोलन में अपने योगदान, अपनी जेल यात्रा और अपने ऊपर पड़े आर्य समाज के प्रभाव को रेखांकित किया है। सन् 1924 में स्वामी श्रद्धानंद की आत्मकथा ‘कल्याणमार्ग का पथिक’ प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने अपने जीवन संघर्षों और आत्मोत्थान का वर्णन किया है।

स्वतंत्रता-पूर्व युग

हिन्दी के आत्मकथात्मक साहित्य के विकास में ‘हंस’ के आत्मकथांक का विशिष्ट योगदान है। सन् 1932 में प्रकाशित इस अंक में जयशंकर प्रसाद, वैद्य हरिदास, विनोदशंकर व्यास, विश्वम्भरनाथ शर्मा

कौशिक, दयाराम निगम, मौलवी महेशप्रसाद, गोपालराम गहमरी, सुदर्शन, शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास, श्रीराम शर्मा आदि साहित्यकारों और गैर-साहित्यकारों के जीवन के कुछ अंशों को प्रेमचंद ने स्थान दिया है।

इस काल की सबसे महत्वपूर्ण आत्मकथा श्यामसुंदर दास कृत 'मेरी आत्मकहानी' (सन् 1941) है। इसमें लेखक ने अपने जीवन की निजी घटनाओं को कम स्थान दिया है। इसकी बजाय काशी के इतिहास और समकालीन साहित्यिक गतिविधियों को भरपूर स्थान मिला है। लगभग इसी समय बाबू गुलाबराय की आत्मकथा 'मेरी असफलताएँ' प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा में लेखक ने व्यंग्यपूर्ण रोचक शैली में अपने जीवन की असफलताओं का सजीव चित्रण किया है।

सन् 1946 में राहल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। सन् 1949 में दूसरा तथा सन् 1967 में उनकी मृत्यु के उपरांत इसके तीन भाग और प्रकाशित हुए। इस बृहत् आकार की आत्मकथा की विशेषता इसकी वर्णनात्मक शैली है।

सन् 1947 के आरंभ में देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा इसी शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस बृहदकाय आत्मकथा में राजेन्द्र बाबू ने बड़ी सादगी और निश्छलता से स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान देश की दशा का वर्णन किया है।

स्वातंत्र्योत्तर युग

सन् 1948 में वियोगी हरि की आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' प्रकाशित हुई। इस आत्मकथा के समाज सेवा से संबंधित अंश में समाज के निम्न वर्ग का लेखक ने बहुत मार्मिक वर्णन किया है। यशपाल कृत 'सिंहावलोकन' का प्रथम भाग सन् 1951 में प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा भाग सन् 1952 और तीसरा सन् 1955 में आया। यशपाल की आत्मकथा की विशेषता उसकी रोचक और मर्मस्पर्शी शैली है। सन् 1952 में शांतिप्रिय द्विवेदी की आत्मकथा 'परित्राजक की प्रजा' प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने अपने जीवन के प्रारंभिक इकतालीस वर्षों की करुण कथा का वर्णन किया है। सन् 1953 में यायावर प्रवृत्ति के लेखक देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्मकथा 'चाँद-सूरज के बीरन' प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने अपने जीवन की आरंभिक घटनाओं का चित्रण किया है।

सन् 1960 में प्रकाशित पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की आत्मकथा 'अपनी खबर' बहुत चर्चित हुई। इसमें उनके जीवन की विद्रूपताओं के बीच युगीन परिवेश की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है।

हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा हिंदी की सर्वाधिक सफल और महत्वपूर्ण आत्मकथा मानी जाती है। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (सन् 1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (सन् 1970), 'बसेरे से दूर' (सन् 1977) और 'दशद्वार से सोपान तक' (सन् 1985) चार भागों में विभाजित उनकी आत्मकथा इस विधा को नए शिखर पर ले गई। प्रथम खंड में बच्चन जी ने अपने बचपन से यौवन तक के चित्र खींचे हैं। द्वितीय भाग में आत्मविश्लेषणात्मक पद्धति को अधिक स्थान मिला है। तीसरे भाग में लेखक ने अपने विदेश प्रवास का वर्णन किया है तथा चौथे और अंतिम भाग में बच्चन ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों के अनुभवों को संचित किया है। अत्यंत विस्तृत होने के बावजूद बच्चन जी की आत्मकथा की विशेषता उसका सुव्यवस्थित होना है। उनके गद्य की भाषा सहज-सरल है।

बच्चन की आत्मकथा ने अनेक साहित्यकारों को अपने जीवन को लिपिबद्ध करने के लिए प्रेरित किया। उनके बाद प्रकाशित आत्मकथाओं में वृन्दावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी' (सन् 1970), देवराज उपाध्याय की 'यौवन के द्वार पर' (सन् 1970), शिवपूजन सहाय की 'मेरा जीवन' (सन् 1985), प्रतिभा अग्रवाल की 'दस्तक जिंदगी की' (सन् 1990) और भीष्म साहनी की 'आज के अतीत' (सन् 2003) प्रकाशित हुईं। देश विभाजन की त्रासदी को भीष्म साहनी ने जीवंत भाषा में चित्रित किया है। उनकी शैली मर्मस्पर्शी है।

समकालीन आत्मकथा साहित्य में दलित आत्मकथाओं का उल्लेखनीय योगदान है। ओमप्रकाश बाल्मीकि कृत 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय कृत 'अपने-अपने पिंजरे' और कौशल्या बैसंत्री कृत 'दोहरा अभिशाप' आदि आत्मकथाओं ने इस विधा को यथार्थ अभिव्यक्ति की नई ऊँचाई पर पहुँचाया है। वर्तमान समय में महिला और दलित रचनाकारों ने इस विधा को गहरे सामाजिक सरोकारों से जोड़ा है। इस संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिंदी आत्मकथा साहित्य एक लंबी यात्रा के बाद आज उस मुकाम पर पहुँचा है जहाँ वह आत्मश्लाघा के दुर्गुण से मुक्त होकर व्यक्तिगत गुण-दोषों की सच्चाई को बयान करने में सक्षम है।

यात्रा-साहित्य

यात्रा-साहित्य का उद्देश्य—यात्रा करना मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। हम अगर मानव इतिहास पर नजर डालें तो पाएँगे कि मनुष्य के विकास की गाथा में यायावरी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अपने जीवन काल में हर आदमी कभी-न-कभी कोई-न-कोई यात्रा अवश्य करता है लेकिन सृजनात्मक प्रतिभा के धनी अपने यात्रा अनुभवों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर यात्रा-साहित्य की रचना करने में सक्षम हो पाते हैं। यात्रा-साहित्य का उद्देश्य लेखक के यात्रा अनुभवों को पाठकों के साथ बाँटना और पाठकों को भी उन स्थानों की यात्रा के लिए प्रेरित करना है। इन स्थानों की प्राकृतिक विशिष्टता, सामाजिक संरचना, समाज के विविध वर्गों के सह-संबंध, वहाँ की भाषा, संस्कृति और सोच की जानकारी भी इस साहित्य से प्राप्त होती है।

आरंभिक युग

हिंदी साहित्य में अन्य गद्य विधाओं की भाँति ही भारतेंदु-युग से यात्रा-साहित्य का आरंभ माना जा सकता है। उनके संपादन में निकलने वाली पत्रिकाओं में 'हरिद्वार', 'लखनऊ', 'जबलपुर', 'सरयूपार की यात्रा', 'वैद्यनाथ की यात्रा' और 'जनकपुर की यात्रा' आदि यात्रा-साहित्य प्रकाशित हुआ। इन यात्रा-वृत्तांतों की भाषा व्यंग्यपूर्ण है और शैली बड़ी रोचक और सजीव है। इस समय के यात्रा-वृत्तांतों में हम दामोदर शास्त्री कृत 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा' (सन् 1885), देवी प्रसाद खत्री कृत 'रामेश्वर यात्रा' (सन् 1893) को महत्त्वपूर्ण मान सकते हैं किंतु यह यात्रा-साहित्य परिचयात्मक और किंचित स्थूल वर्णनों से युक्त है।

बाबू शिवप्रसाद गुप्त द्वारा लिखे गए यात्रा-वृत्तांत 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' (सन् 1924) को हम आरंभिक यात्रा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दे सकते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता चित्रात्मकता है। इसमें संसार भर के अनेक स्थानों का रोचक वर्णन है। लगभग इसी समय स्वामी सत्यदेव परिव्राजक कृत 'मेरी कैलाश यात्रा' (सन् 1915) तथा 'मेरी जर्मन यात्रा' (सन् 1926) महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने सन् 1936 में 'यात्रा मित्र' नामक

पुस्तक लिखी, जो यात्रा-साहित्य के महत्त्व को स्थापित करने का काम करती है। विदेशी यात्रा-विवरणों में कन्हैयालाल मिश्र कृत 'हमारी जापान यात्रा' (सन् 1931), रामनारायण मिश्र कृत 'यूरोप यात्रा के छः मास' और मौलवी महेशप्रसाद कृत 'मेरी ईरान यात्रा' (सन् 1930) यात्रा-साहित्य के अच्छे उदाहरण हैं।

स्वतंत्रता-पूर्व युग

यात्रा-साहित्य के विकास में राहुल सांकृत्यायन का योगदान अप्रतिम है। इतिवृत्त-प्रधान शैली होने के बावजूद गुणवत्ता और परिमाण की दृष्टि से इनके यात्रा-वृत्तांतों की तुलना में कोई दूसरा लेखक कहीं नहीं ठहरता है। 'मेरी तिब्बत यात्रा', 'मेरी लद्दाख यात्रा', 'किन्नर देश में', 'रूस में 25 मास', 'तिब्बत में सवा वर्ष', 'मेरी यूरोप यात्रा', 'यात्रा के पन्ने', 'जापान, ईरान, एशिया के दुर्गम खंडों में' आदि इनके कुछ प्रमुख यात्रा-वृत्तांत हैं। राहुल सांकृत्यायन के यात्रा-साहित्य में दो प्रकार की दृष्टि को साफ देखा जा सकता है। उनके एक प्रकार के लेखन में यात्राओं का केवल सामान्य वर्णन है और दूसरे प्रकार के यात्रा-साहित्य को शुद्ध साहित्यिक कहा जा सकता है। इस दूसरे प्रकार के यात्रा-साहित्य में राहुल सांकृत्यायन ने स्थान के साथ-साथ अपने समय को भी लिपिबद्ध किया है। सन् 1948 में इन्होंने 'घुम्मकड़ शास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की जिससे यात्रा करने की कला को सीखा जा सकता है। इनका अधिकांश यात्रा-साहित्य सन् 1926 से 1956 के बीच लिखा गया।

स्वातंत्र्योत्तर युग

राहुल सांकृत्यायन के बाद यात्रा-साहित्य में बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि-कथाकार अज्ञेय का नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। अज्ञेय अपने यात्रा-साहित्य को यात्रा संस्मरण कहना पसंद करते थे। इससे उनका आशय यात्रा-वृत्तांतों में संस्मरण का समावेश कर देना था। उनका मानना था कि यात्राएँ न केवल बाहर की जाती हैं बल्कि वे हमारे अंदर की ओर भी की जाती हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद' (सन् 1953) और 'एक बूंद सहसा उछली' (सन् 1960) उनके द्वारा लिखित यात्रा-साहित्य की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद' में उनके भारत भ्रमण का वर्णन है और दूसरी पुस्तक 'एक बूंद सहसा उछली' में उनकी विदेशी यात्राओं को शब्दबद्ध किया गया है। अज्ञेय के यात्रा-साहित्य की भाषा गद्य भाषा को नए मुकाम तक ले जाती है।

आजादी के बाद हिंदी साहित्य में बहुतायत से यात्रा-साहित्य का सृजन हुआ। अनेक प्रगतिशील लेखकों ने इस विधा को समृद्धि प्रदान की। रामवृक्ष बेनीपुरी कृत 'पैरों में पंख बाँधकर' (सन् 1952) तथा 'उड़ते चलो उड़ते चलो', यशपाल कृत 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' (सन् 1953), भगवतशरण उपाध्याय कृत 'कलकत्ता से पेरिंग तक' (सन् 1953) तथा 'सागर की लहरों पर' (सन् 1959), प्रभाकर माचवे कृत 'गोरी नजरोँ में हम' (सन् 1964) उल्लेखनीय हैं।

हिंदी यात्रा-साहित्य के संदर्भ में मोहन राकेश तथा निर्मल वर्मा को भी बड़े हस्ताक्षर माना जाता है। इन्होंने यात्रा-साहित्य को नए अर्थों से समन्वित किया। मोहन राकेश द्वारा लिखित 'आखिरी चट्टान तक' (सन् 1953) में दक्षिण भारत का विस्तार से वर्णन किया गया है। दक्षिण भारतीय जीवन पद्धति के विविध बिम्बों को इसमें लेखक ने यथावत प्रस्तुत कर दिया है। इनके यात्रा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कहानी की-सी रोचकता और नाटक का-सा आकर्षण देखा जा सकता है। निर्मल वर्मा ने 'चीड़ों पर

चाँदनी' (सन् 1964) में यूरोपीय जीवन के चित्रों को उकेरा है। निर्मल वर्मा के यात्रा-साहित्य में न केवल अपने समय का वर्णन रहता है बल्कि इतिहास और संस्कृति के अनेक बिंदुओं को भी इसमें अभिव्यक्ति मिलती है। विदेशी संदर्भों को भी उनके गद्य की सहजता बोझिल नहीं होने देती।

कोई भी लेखक अच्छा लेखक तभी बनता है जब वह जीवन को समीप से देखता है और जीवन को समीप से देखने का सबसे सरल माध्यम यात्रा करना है। रचनात्मक लेखन करने वाला हर लेखक अपने साहित्य में किसी न किसी रूप में यात्रा-साहित्य का सृजन अवश्य करता है। हमने उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण में देखा कि हिंदी में यात्रा विषयक प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। हिंदी गद्य के साथ-साथ इसने भी पर्याप्त विकास किया है। अधिकांश लेखकों ने इस विधा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है।

रिपोर्ताज

'रिपोर्ताज' का अर्थ एवं उद्देश्य—जीवन की सूचनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए रिपोर्ताज का जन्म हुआ। रिपोर्ताज पत्रकारिता के क्षेत्र की विधा है। इस शब्द का उदभव फ्रांसीसी भाषा से माना जाता है। इस विधा को हम गद्य विधाओं में सबसे नया कह सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यूरोप के रचनाकारों ने युद्ध के मोर्चे से साहित्यिक रिपोर्ट तैयार की। इन रिपोर्टों को ही बाद में रिपोर्ताज कहा गया। वस्तुतः यथार्थ घटनाओं को संवेदनशील साहित्यिक शैली में प्रस्तुत कर देने को ही रिपोर्ताज कहा जाता है।

आरंभिक युग

हिंदी खड़ी बोली गद्य के आरंभ के साथ ही अनेक नई विधाओं का चलन हुआ। इन विधाओं में कुछ तो सायास थीं और कुछ के गुण अनायास ही कुछ गद्यकारों के लेखन में आ गए थे। वास्तविक रूप में तो रिपोर्ताज का जन्म हिंदी में बहुत बाद में हुआ लेकिन भारतेंदुयुगीन साहित्य में इसकी कुछ विशेषताओं को देखा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, भारतेंदु ने स्वयं जनवरी, 1877 की 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में दिल्ली दरबार का वर्णन किया है, जिसमें रिपोर्ताज की झलक देखी जा सकती है। रिपोर्ताज लेखन का प्रथम सायास प्रयास शिवदान सिंह चौहान द्वारा लिखित 'लक्ष्मीपुरा' को माना जा सकता है। यह सन् 1938 में 'रूपाभ' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसके कुछ समय बाद ही 'हंस' पत्रिका में उनका दूसरा रिपोर्ताज 'मौत के खिलाफ जिन्दगी की लड़ाई' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। हिंदी साहित्य में यह प्रगतिशील साहित्य के आरंभ का काल भी था। कई प्रगतिशील लेखकों ने इस विधा को समृद्ध किया। शिवदान सिंह चौहान के अतिरिक्त अमृतराय और प्रकाशचंद्र गुप्त ने बड़े जीवंत रिपोर्ताजों की रचना की।

रांगेय राघव रिपोर्ताज की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ लेखक कहे जा सकते हैं। सन् 1946 में प्रकाशित 'तूफानों के बीच में' नामक रिपोर्ताज में इन्होंने बंगाल के अकाल का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। रांगेय राघव अपने रिपोर्ताजों में वास्तविक घटनाओं के बीच में से सजीव पात्रों की सृष्टि करते हैं। वे गरीबों और शोषितों के लिए प्रतिबद्ध लेखक हैं। इस पुस्तक के निर्धन और अकाल पीड़ित निरीह पात्रों में उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता को देखा जा सकता है। लेखक विपदाग्रस्त मानवीयता के बीच संबल की तरह खड़ा दिखाई देता है।

स्वातंत्र्योत्तर युग

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के रिपोर्ताज लेखन का हिंदी में चलन बढ़ा। इस समय के लेखकों ने अभिव्यक्ति की विविध शैलियों को आधार बनाकर नए प्रयोग करने आरंभ कर दिए थे। रामनारायण उपाध्याय कृत

‘अमीर और गरीब’ रिपोर्टाज संग्रह में व्यंग्यात्मक शैली को आधार बनाकर समाज के शाश्वत विभाजन को चित्रित किया गया है। फणीश्वरनाथ रेणु के रिपोर्टाजों ने इस विधा को नई ताजगी दी। ‘ऋण जल धन जल’ रिपोर्टाज संग्रह में बिहार के अकाल को अभिव्यक्ति मिली है और ‘नेपाली क्रांतिकथा’ में नेपाल के लोकतांत्रिक आंदोलन को कथ्य बनाया गया है।

अन्य महत्वपूर्ण रिपोर्टाजों में भदंत आनंद कौसल्यायन कृत ‘देश की मिट्टी बुलाती है’ धर्मवीर भारती कृत ‘युद्धयात्रा’ और शमशेर बहादुर सिंह कृत ‘प्लाट का मोर्चा’ का नाम लिया जा सकता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अपने समय की समस्याओं से जूझती जनता को हमारे लेखकों ने अपने रिपोर्टाजों में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। लेकिन हिंदी रिपोर्टाज के बारे में यह भी सच है कि इस विधा को वह ऊँचाई नहीं मिल सकी जो कि इसे मिलनी चाहिए थी।

रेखाचित्र

रेखाचित्र का अर्थ—‘रेखाचित्र’ शब्द अंग्रेजी के स्कैच शब्द का हिंदी रूपान्तर है। जैसे ‘स्कैच’ में रेखाओं के माध्यम से किसी व्यक्ति या वस्तु का चित्र प्रस्तुत किया जाता है, ठीक वैसे ही शब्द रेखाओं के माध्यम से किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को उसके समग्र रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। ये व्यक्तित्व प्रायः वे होते हैं जिनसे लेखक किसी न किसी रूप में प्रभावित रहा हो या जिनसे लेखक की घनिष्ठता अथवा समीपता हो।

आरंभिक युग

रेखाचित्र को स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित करने का श्रेय पद्म सिंह शर्मा कृत ‘पद्म पराग’ को दिया जा सकता है। ‘पद्म पराग’ में संस्मरणात्मक निबंधों और रेखाचित्रों का संकलन है। इन रेखाचित्रों में समकालीन महत्वपूर्ण लोगों को विषय बनाया गया है। पद्म सिंह शर्मा से प्रभावित होकर श्रीराम शर्मा, हरिशंकर शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने रेखाचित्र लिखने आरंभ किए। श्रीराम शर्मा के रेखाचित्रों का प्रथम संग्रह ‘बोलती प्रतिमा’ शीर्षक से सन् 1937 में प्रकाशित हुआ। इसकी विशेषता यह है कि इसमें समाज के निम्नवर्ग के पात्रों का सजीव चित्रण हुआ है।

बनारसीदास चतुर्वेदी के रेखाचित्रों की शैली सरस और व्यंग्यपूर्ण है। रेखाचित्र के स्वरूप के बारे में इन्होंने सैद्धांतिक विवेचन भी किया है। इनका कथन है कि, “जिस प्रकार एक अच्छा चित्र खींचने के लिए कैमरे का लेंस बढ़िया होना चाहिए और फिल्म भी काफी कोमल या सेंसिटिव, उसी प्रकार साफ चित्रण के लिए रेखाचित्रकार में विश्लेषणात्मक बुद्धि तथा भावुकतापूर्ण हृदय दोनों का सामंजस्य होना चाहिए; पर-दुःखकातरता, संवेदनशीलता, विवेक और संतुलन इन सब गुणों की आवश्यकता है।” निस्संदेह बनारसीदास चतुर्वेदी के लेखन में उपर्युक्त सभी विशेषताएँ हम देख सकते हैं। राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को इनके रेखाचित्रों में देखा जा सकता है। इनके रेखाचित्र ‘हमारे साथी’ और ‘प्रकृति के प्रागंग’ नामक ग्रंथों में संकलित हैं।

उत्कर्ष-युग

रामवृक्ष बेनीपुरी निर्विवाद रूप से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ रेखाचित्रकार माने जाते हैं। इनके रेखाचित्रों में हम सरल भाषा शैली में सिद्धहस्त कलाकारी को देख सकते हैं। परिमाण की दृष्टि से इन्होंने अनेक रेखाचित्रों की

रचना की है। 'माटी की मूर्तें' (सन् 1946) संग्रह से इन्हें विशेष ख्याति मिली। इस संग्रह में इन्होंने समाज के उपेक्षित पात्रों को गढ़कर नायक का दर्जा दे दिया। उदाहरणस्वरूप 'रजिया' नामक रेखाचित्र के माध्यम से निम्नवर्ग की एक बालिका को जीवंत कर दिया गया है। इस संग्रह के अन्य रेखाचित्रों में बलदेव सिंह, मंगर, बालगोबिन भगत, बुधिया, सरजू भैया प्रमुख हैं। इन रेखाचित्रों की श्रेष्ठता का अनुमान मैथिलीशरण गुप्त के इस कथन से लगाया जा सकता है, "लोग माटी की मूर्तें बनाकर सोने के भाव बेचते हैं पर बेनीपुरी सोने की मूर्तें बनाकर माटी के मोल बेच रहे हैं।"

सन् 1950 में रामवृक्ष बेनीपुरी का दूसरा रेखाचित्र संग्रह 'गेहूँ और गुलाब' प्रकाशित हुआ। इसमें इनके 25 रेखाचित्र संकलित हैं। कलेवर की दृष्टि से लेखक ने इन्हें अपने पुराने रेखाचित्रों की अपेक्षा छोटा रखा है। रामवृक्ष बेनीपुरी के रेखाचित्रों की भाषा भावना प्रधान है। कुछ आलोचक तो उनकी भाषा को गद्य काव्य की संज्ञा भी दे चुके हैं। बेनीपुरी के रेखाचित्रों के बारे में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन्हें जीवन में जो भी पात्र मिले इन्होंने अपनी कुशल लेखनी से उन्हें जीवंत कर दिया। विषय की विविधता और शैली की सरसता का इनके यहाँ अपूर्व संयोजन मिलता है।

महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों ने विधा के रूप में संस्मरण और रेखाचित्र की सीमाओं का उल्लंघन किया। उनके लेखन को संस्मरणात्मक रेखाचित्रों की श्रेणी में रखा जा सकता है। 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'पथ के साथी' और 'श्रृंखला की कड़ियाँ' इनके संग्रह हैं। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में समाज के शोषित वर्ग और नारी के प्रति इनकी सहानुभूति प्रकट हुई है। 'पथ के साथी' में इन्होंने अपने साथी साहित्यकारों के चित्रों को लिपिबद्ध किया है।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर को शैली की दृष्टि से रामवृक्ष बेनीपुरी के समान ही सम्मान प्राप्त है। इनके बहुविध विषयों में जीवन की प्रेरणा देने वाले रेखाचित्रों की भरमार है। 'भूले हुए चेहरे', 'बाजे पायलिया के घुंघरू', 'जिन्दगी मुस्काई', 'दीप जले शंख बजे', 'क्षण बोले कण मुस्काए', 'महके आँगन चहके द्वार' और 'माटी हो गई सोना' इनके रेखाचित्रों के संग्रह हैं।

प्रकाशचंद्र गुप्त ने इस विधा को स्थापित करने के लिए 'रेखाचित्र' नाम से ही संकलन प्रकाशित कराया। इनके रेखाचित्रों की विशेषता यह है कि इन्होंने अपने विषयों को मनुष्य की परिधि से बाहर ले जाते हुए पेड़-पौधे तथा पशु-पक्षियों तक को अपने रेखाचित्रों में स्थान दिया है।

विष्णु प्रभाकर के रेखाचित्र 'जाने-अनजाने', 'कुछ शब्द कुछ रेखाएँ' और 'हँसते निर्झर दहकती भट्टी' में संकलित हैं। इनके रेखाचित्रों में विशाल कैनवस पर सामाजिक सजगता के साथ मानवीय चित्र उकरे गए हैं। इनके अन्य समकालीन रेखाचित्रकारों में देवेन्द्र सत्यार्थी, डॉ. नगेन्द्र, विनयमोहन शर्मा, जगदीशचंद्र माथुर आदि का नाम लिया जा सकता है।

समकालीन हिंदी साहित्य में रचनाकारों ने विधा के बंधनों को थोड़ा शिथिल किया है। आज हम परंपरागत मानदंडों पर कसकर कई विधाओं को नहीं देख सकते। रेखाचित्र विधा का भी रूप बदला है। उसको हम कहीं कहानी के भीतर तो कहीं संस्मरण अथवा आत्मकथा के भीतर अन्तर्भुक्त पाते हैं और कहीं स्वतंत्र विधा के रूप में भी देख सकते हैं। हिंदी रेखाचित्र ने अपनी सीमाओं का लगातार अतिक्रमण किया है। यह इस विधा के भविष्य के लिए शुभ संकेत है।

व्यंग्य

व्यंग्य का उद्देश्य

व्यंग्य का जन्म अपने समय की विद्रूपताओं के भीतर से उपजे असंतोष से होता है। विद्वानों में इस बात पर मतभेद लगातार बना रहा है कि व्यंग्य को एक अलग विधा माना जाए या कि वह किसी भी विधा के भीतर 'स्परिट' के रूप में मौजूद रहता है। दरअसल व्यंग्य एक माध्यम है जिसके द्वारा व्यंग्यकार जीवन की विसंगतियों, खोखलेपन और पाखंड को दुनिया के सामने उजागर करता है। जिनसे हम सब परिचित तो होते हैं किंतु उन स्थितियों को दूर करने, बदलने की कोशिश नहीं करते बल्कि बहुधा उन्हीं विद्रूपताओं-विसंगतियों के बीच जीने की, उनसे समझौता करने की आदत बना लेते हैं। व्यंग्यकार अपनी रचनाओं में ऐसे पात्रों और स्थितियों की योजना करता है जो इन अवांछित स्थितियों के प्रति पाठकों को सचेत करते हैं। जैसा कि 'व्यंग्य' नाम से ही स्पष्ट है, इस विधा में सामाजिक विसंगतियों का चित्रण सीधे-सीधे (अभिधा में) न होकर परेक्षतः (व्यंजना के माध्यम से) होता है। इसीलिए व्यंग्य में मारक क्षमता अधिक होती है।

आरंभिक युग

हिंदी में संत साहित्य से व्यंग्य का आरंभ माना जा सकता है। कबीर व्यंग्य के आदि प्रणेता हैं। उन्होंने मध्यकाल की सामाजिक विसंगतियों पर व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रहार किया है। जाति-भेद, हिंदू-मुस्लिमों के धर्मांडंबर, गरीबी अमीरी, रूढ़िवादिता आदि पर कबीर के व्यंग्य बड़े भारक हैं। 'जो तू बामन-बमनी जाया। आन द्वार काहे नहिं आया', 'क्या तेरा साहिब बहरा है', 'कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई चिनाय ता चढ़ि मुल्ला बांगि दे क्या बहरा हुआ खुदाय' आदि अनेक उद्धरण कबीर की व्यंग्य-क्षमता के प्रमाण हैं। लेकिन उत्तर-मध्यकालीन सामंती समाज कबीर आदि संतों के समाज-बोध को समझ पाने में असफल रहा और पूरे रीतिकाल में व्यंग्य रचनाओं की उपस्थिति नगण्य रही।

कबीर के बाद भारतेंदु ने सामाजिक विषमताओं के प्रति व्यंग्य को हथियार बनाया। अंग्रेजों के खिलाफ लिखते हुए वे कहते हैं, "होय मनुष्य क्यों भये, हम गुलाम वे भूप।" इस पंक्ति में औपनिवेशिक भारत की मूल समस्या हमें दिखाई देती है। पराधीन भारत की समस्याएँ वर्तमान भारत से अलग थीं। 'अंधेर नगरी' और 'मुकरियों' में गुलाम भारत की विडंबनापूर्ण परिस्थितियों, अंग्रेजी साम्राज्यवाद और उनकी शोषक दृष्टि के प्रति आक्रोश को देखा जा सकता है। भारतेंदु-युग के अन्य महत्वपूर्ण व्यंग्यकार बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और प्रतापनारायण मिश्र हैं। किंतु प्रेमघन की कृति 'हास्यबिंदु' और प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में व्यंग्य सहायक प्रवृत्ति के रूप में मौजूद है। व्यंग्य इनकी रचनाओं में केंद्रीय भूमिका का निर्वहन नहीं करता है। व्यंग्य का पूर्ण उन्मेष इनके बाद के व्यंग्य रचनाकार बालमुकुंद गुप्त की रचनाओं में दिखाई देता है। 'शिवशंभु के चिट्ठे' नामक अपनी प्रसिद्ध व्यंग्य लेखमाला में इन्होंने समसामयिक परिस्थितियों पर तीव्र व्यंग्य किए। राजनीति और तत्कालीन शासन-व्यवस्था से टकराव इनकी व्यंग्य रचनाओं की आधार सामग्री का काम करते हैं।

स्वतंत्रता-पूर्व युग

युगीन समस्याओं पर व्यंग्य करने की प्रवृत्ति प्रेमचंद में भी बहुत मिलती है। इन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में आम आदमी और कृषक वर्ग की दैनंदिन कठिनाइयों पर करारा व्यंग्य किया है। प्रेमचंद के बाद

के रचनाकारों में निराला साहित्य में इसे देखा जा सकता है। इनकी 'कुकुरमुत्ता' आदि रचनाओं में व्यंग्य की अभिव्यक्ति विद्रूपता फैलाने वाले समाज के खिलाफ चुनौती के रूप में हुई है। इनके अलावा स्वतंत्रता-पूर्व के रचनाकारों में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' और रांगेय राघव का नाम भी लिया जा सकता है लेकिन इन लेखकों में व्यंग्य की वह धार नहीं है जो हमें भारतेन्दु अथवा बालमुकुन्द गुप्त की रचनाओं में दिखाई देती है।

स्वातंत्र्योत्तर युग

सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ और देश की आजादी के साथ ही आम आदमी खुशहाली के सपने देखने लगा। लेकिन विपरीत परिस्थितियों और राजनीतिक अदूरदर्शिता के कारण आम आदमी के ये सपने पूरे नहीं हो सके। स्वतंत्रता के बाद भारत में समाज, राजनीति, धर्म, शिक्षा, आदि सभी क्षेत्रों में असंगतियाँ बढ़ी हैं। सामाजिक-नैतिक मूल्यों का पतन हुआ है। आम आदमी के लिए शांतिपूर्वक जीवन जीने के अवसर कम हुए हैं। सत्य, सदाचरण, ईमानदारी और कर्तव्यनिष्ठा आदि शाश्वत मूल्यों का स्थान अनेक विसंगतियों ने ले लिया है। आजादी पूर्व देखे गए स्वप्न तो बीसवीं शताब्दी के छठे दशक तक आते-आते ही खण्डित हो गए। गुलाम भारत में होने वाले शोषण-अत्याचार आजादी के बाद कम होने के बजाय और अधिक बढ़ गए। व्यक्ति और समाज की आंतरिक जटिलताओं के साथ-साथ अन्तर्विरोध भी बढ़े हैं। व्यक्ति निजी स्वार्थ तक सीमित होकर रह गया है। ये विसंगतियाँ और जटिलताएँ व्यंग्य के लिए आधारभूमि बनीं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में व्यंग्य का पर्याप्त सृजन हुआ है। निरन्तर बढ़ती सामाजिक विषमताओं से विक्षुब्ध होकर करुणापूर्ण व्यंग्य लेखन की एक लम्बी परम्परा मिलती है। **हरिशंकर परसाई** इस परम्परा के प्रतिनिधि रचनाकार हैं।

परसाई की रचनाएँ 'आजाद भारत का सृजनात्मक इतिहास' कही जा सकती हैं। इन रचनाओं का वर्तमान भारत की यथार्थ स्थितियों के संदर्भ में ही आकलन किया जा सकता है। सामान्य सामाजिक स्थितियों को परसाई ने वैचारिक चिन्तन से पुष्ट करके प्रस्तुत किया है। स्वतंत्र भारत के सकारात्मक-नकारात्मक सभी पहलुओं की परसाई ने बखूबी पड़ताल की है। परसाई की रचनाओं में उस पीड़ित भारत की छटपटाहट को महसूस किया जा सकता है जो शोषकों के तिलिस्म में कैद है। शोषक इस तिलिस्म को बनाए रखने के लिए तरह-तरह के छद्म करते हैं। इन छद्मों का खुलासा परसाई करते हैं। अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता और सतर्क वैज्ञानिक दृष्टि के कारण परसाई छद्म के उन सभी रूपों को आसानी से पहचान लेते हैं जिन तक सामान्यतः रूढ़िवादी दृष्टि नहीं पहुँच पाती।

परसाई का रचना संसार बहुत व्यापक है। निजी अनुभूतियों की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति उनके व्यंग्य लेखन की विशिष्टता है। परसाई की सृजनशील दृष्टि निम्नवर्गीय सामान्य आदमी से प्रारम्भ होकर बहुराष्ट्रीय समस्याओं तक को अपने भीतर समेटती है। परसाई व्यंग्य के माध्यम से सृजन और संहार दोनों एक साथ करते हैं। परसाई का व्यंग्य जब शोषक वर्ग होता है तो वह उस वर्ग के प्रति घृणा और आक्रोश उत्पन्न करता है लेकिन जब वही व्यंग्य अभावग्रस्त व्यक्ति पर होता है तो करुणा पैदा करता है।

परसाई के व्यंग्य लेखन की भाषा सप्रयास नहीं है। उनका मानना है कि समाज में रहने के कारण वह हमें अनुभव देता है और विषयानुरूप नई भाषा सिखाता है। यही कारण है कि परसाई की भाषा उनके कथ्य का अनुसरण करती है।

शरद जोशी भी परसाई की ही तरह एक अलग भाषाई तेवर के साथ व्यंग्य लेखन करते हैं। शिल्प की सजगता इनके व्यंग्य लेखन की विशेषता है। भाषा में वक्रता के द्वारा ये शब्दों और विशेषणों का विशिष्ट संयोजन करते हैं।

श्रीलाल शुक्ल का नाम भी स्वातंत्र्योत्तर व्यंग्य लेखन में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। इनके उपन्यास 'रागदरबारी' ने मोहभंग की स्थितियों के यथार्थ को सजीव रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

रवींद्रनाथ त्यागी का लेखन आत्म-व्यंग्य के कारण महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इनके लेखन को हम हास्य और व्यंग्य का संयोजन कह सकते हैं। यह न सिर्फ पाठक को प्रफुल्लित करता है बल्कि उसे सोचने के लिए बाध्य भी करता है।

लतीफ़ घोषी के व्यंग्य में राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ को विषय बनाया गया है। इनके व्यंग्य में मारकता का अभाव है, किंतु इनका कथ्य बहुत व्यापक है। नारी-शोषण, कालाबाज़ारी, भुखमरी, शैक्षिक-साहित्यिक दुनिया की गड़बड़ियाँ आदि विषयों के साथ-साथ इन्होंने आम आदमी की दैनिक परेशानियों को अपने व्यंग्यों में स्थान दिया है। भाषा में उर्दू का पुट है।

सामाजिक मूल्यों के विघटन को केंद्र में रखकर समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में व्यंग्य का लगातार सृजन हो रहा है। वर्तमान महत्त्वपूर्ण व्यंग्य लेखकों में नरेन्द्र कोहली, प्रेम जनमेजय, हरीश नवल, ज्ञान चतुर्वेदी और अशोक शुक्ल आदि का नाम लिया जा सकता है। नरेन्द्र कोहली ने अपने व्यंग्यों में नए प्रयोगों पर विशेष ध्यान दिया है। इनके व्यंग्यों का असंगत शिल्प इन्हें अपने समकालीनों में विशिष्ट बनाता है। आज व्यंग्य को सामाजिक सतर्कता के हथियार के रूप में देखा जाता है।

संस्मरण

संस्मरण और रेखाचित्र में बहुत सूक्ष्म अंतर है। कुछ विद्वानों ने तो इन दोनों विधाओं को एक-दूसरे की पूरक विधा भी कहा है। संस्मरण का सामान्य अर्थ होता है सम्यक् स्मरण। सामान्यतः इसमें चारित्रिक गुणों से युक्त किसी महान व्यक्ति को याद करते हुए उसके परिवेश के साथ उसका प्रभावशाली वर्णन किया जाता है। इसमें लेखक स्वानुभूत विषय का यथावत अंकन न करके उसका पुनर्सृजन करता है। रेखाचित्र की तरह यह वर्णन-विषय के प्रति तटस्थ नहीं होता। आत्मकथात्मक विधा होते हुए भी संस्मरण आत्मकथा से पर्याप्त भिन्नता रखता है।

आरंभिक युग

बालमुकुंद गुप्त द्वारा सन् 1907 में प्रतापनारायण मिश्र पर लिखे संस्मरण को हिंदी का प्रथम संस्मरण माना जाता है। बाद में इस काल की एकमात्र संस्मरण पुस्तक 'हरिऔध' पर केंद्रित गुप्त जी द्वारा लिखित 'हरिऔध' के 'संस्मरण' के नाम से प्रकाशित हुई। इसमें हरिऔध को वर्णन विषय बनाकर पंद्रह संस्मरणों की रचना की गई है।

द्विवेदी युग

हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं ने गद्य विधाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। 'सरस्वती' में स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कई संस्मरण लिखे। उन्होंने अपने साथी लेखकों को नई गद्य विधाओं के

लिए प्रेरित भी किया। इस समय के प्रमुख संस्मरण लेखकों में द्विवेदी जी के अतिरिक्त रामकुमार खेमका, काशीप्रसाद जायसवाल और श्यामसुंदर दास हैं। श्यामसुंदर दास ने लाला भगवानदीन पर रोचक संस्मरण लिखे। अपने समकालीन साहित्यकारों पर उस समय से आरंभ हुई परंपरा आज तक लगातार चल रही है।

छायावादोत्तर युग

रेखाचित्र की तरह ही संस्मरण को गद्य की विशिष्ट विधा के रूप में स्थापित करने की दिशा में भी पद्म सिंह शर्मा (1876-1932) का महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है। इनके संस्मरण 'प्रबंध मंजरी' और 'पद्म पराग' में संकलित हैं। महाकवि अकबर, सत्यनारायण कविरत्न और भीमसेन शर्मा आदि पर लिखे हुए इनके संस्मरणों ने इस विधा को स्थिरता प्रदान करने में मदद की। विनोद की एक हल्की रेखा इनकी पूरी रचनाओं के भीतर देखी जा सकती है।

महादेवी वर्मा ने अपने संस्मरणों में अपने जीवन में आए अनमोल पलों को अपने 'पथ के साथी' में संकलित किया है। अपने समकालीन साहित्यकारों पर इन रेखाचित्रों में अब तक किसी भी लेखक द्वारा लिखी गई सर्वश्रेष्ठ टिप्पणी कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति की बात न होगी।

निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुल्लीभाट' में संस्मरण और रेखाचित्र का अनुपम संयोग हुआ है। इन्हें किसी एक विधा के अन्तर्गत रखना संभव नहीं है लेकिन अपनी सजीवता और व्यंग्य के कारण इन्हें अप्रतिम कहा जा सकता है।

प्रकाशचंद्र गुप्त ने 'पुरानी स्मृतियाँ' नामक संग्रह में अपने संस्मरणों को लिपिबद्ध किया। इलाचंद्र जोशी कृत 'मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियाँ' और वृंदावनलाल वर्मा कृत 'कुछ संस्मरण' इस काल की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग

सन् 1950 के आस-पास का समय संस्मरण लेखन की दृष्टि से विशेष महत्व का है। इस समय अनेक लेखक संस्मरणों की रचना कर रहे थे। बनारसीदास चतुर्वेदी को संस्मरण लेखन के क्षेत्र में विशेष सफलता मिली। पेशे से साहित्यिक पत्रकार होने के कारण इनके संस्मरणों के विषय बहुत व्यापक हैं। अपनी कृति 'संस्मरण' में संकलित रचनाओं की शैली पर इनके मानवीय पक्ष की प्रबलता को साफ देखा जा सकता है। इनके संस्मरण रोचकता के लिए विशेष प्रसिद्ध हुए। शैली वर्णनात्मक है और भाषा अत्यंत सरल है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर अपनी कृतियों 'भूले हुए चेहरे' तथा 'दीप जले शंख बजे' के कारण इस समय के एक अन्य महत्वपूर्ण संस्मरण लेखक हैं। लगभग इसी समय उपेंद्रनाथ अशक का 'मंटो मेरा दुश्मन' प्रकाशित हुआ जिसका साहित्यिक और गैर-साहित्यिक दोनों स्थानों पर भरपूर स्वागत हुआ। जगदीशचंद्र माथुर ने 'दस तस्वीरें' और 'जिन्होंने जीना जाना' के माध्यम से अपने समय के महत्वपूर्ण संस्मरणात्मक चित्र प्रस्तुत किए।

संस्मरण और रेखाचित्रों में कोई भी तात्त्विक भेद नहीं मानने वाले आलोचक डा. नगेन्द्र ने 'चेतना के बिंब' नाम की कृति के माध्यम से इस विधा को समृद्ध किया। प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय और कमलेश्वर इस समय के अन्य प्रमुख संस्मरण लेखक रहे हैं।

समकालीन युग

समकालीन लेखन में आत्मकथात्मक विधाओं की भरमार है। संस्मरण आज बहुतायत में लिखे जा रहे हैं। अपने अतीत को बयान करने की ललक हर आदमी के भीतर होती है और उसकी अभिव्यक्ति करना अन्य विधाओं की तुलना में काफी आसान होता है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा नामवर सिंह पर लिखित संस्मरण 'हक अदा न हुआ' ने इस विधा को नई ताजगी से भर दिया है और इससे प्रभावित होकर कई नए और पुराने लेखक इस ओर मुड़े हैं। इनकी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'नंगातलाई का गाँव' (2004) को उन्होंने स्मृति आख्यान कहा है। वर्तमान समय के संस्मरण लेखकों में काशीनाथ सिंह, कातिकुमार जैन, राजेंद्र यादव, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, अखिलेश का नाम काफी प्रमुखता से ले सकते हैं।

संभावित प्रश्न

1. हिन्दी उपन्यासों के क्रमिक विकास विषय पर एक निबंध लिखिए।
2. भारतेन्दुयुगीन नाटकों की प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
3. स्वातंत्र्योत्तर एकांकी नाटकों के कथ्य और शिल्प की विशेषताएँ बताएँ।
4. प्रेमचंदयुगीन कहानी की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।
5. आत्मकथा के उद्भव और विकास का सामान्य परिचय दीजिए।
6. रेखाचित्र के उद्भव और विकास पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
7. संस्मरण के उद्भव और विकास पर सामान्य टिप्पणी कीजिए।
8. हिंदी रिपोर्ताज परंपरा का सामान्य परिचय दीजिए।
9. 'हिंदी साहित्य में व्यंग्य की एक लंबी परंपरा रही है'— इस कथन के आलोक में हिंदी व्यंग्य साहित्य पर प्रकाश डालिए।
10. हिंदी यात्रा-साहित्य पर एक परिचयात्मक आलेख लिखिए।

1. नमक का दारोगा (प्रेमचंद)

डॉ. विजयबाला तिवारी
पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रेमचंद (असली नाम धनपत राय) का नाम कथा-साहित्य में महत्वपूर्ण है। वर्ग एवं जाति विषमता के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्ष की पृष्ठभूमि में सामाजिक विकास की सांस्कृतिक-आर्थिक प्रक्रिया को उन्होंने व्यापकता से विश्लेषित किया है। उसका जन्म सन् 1880 में बनारस के नजदीक लमही गाँव में हुआ। मृत्यु सन् 1936 ई. में बनारस में हुई। खेती का मुख्य व्यवसाय था और जीवन-स्तर निम्न मध्यवर्ग का था। आठ वर्ष की अवस्था में माता और सोलह वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो गया। उनकी शिक्षा का आरम्भ उर्दू से हुआ। 1903 में धनपत राय नाम से पहला उपन्यास 'असरारे मआविद्' उर्दू में लिखा। उर्दू में लिखी उनकी पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' सन् 1907 में प्रकाशित हुई। उर्दू कहानियों का पहला संग्रह 1908 में 'सोजे वतन' नाम से निकला। उर्दू में नवाब राय के नाम से लिखते थे। अंग्रेज सरकार की धमकियों के बाद 'प्रेमचन्द' नाम से लिखना शुरू किया। 1930 में 'हंस' का प्रकाशन उन्होंने आरम्भ कर दिया। 1936 में उनकी मृत्यु हो गई।

'प्रेमचंद' ने अनेक उपन्यास और कहानियाँ लिखीं। उनके उपन्यास हैं—वरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, प्रेमाश्रय, निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि और गोदान। उनका अन्तिम उपन्यास मंगल सूत्र है, जो अधूरा है। इनके अतिरिक्त 'रूठी रानी' नाम का एक ऐतिहासिक उपन्यास भी उन्होंने लिखा है।

उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमचंद के अनेक कहानी संग्रह भी हैं। इन सबमें तीन सौ के लगभग कहानियाँ हैं। कहानी संग्रह हैं—सप्त सरोज, नवनिधि, प्रेम पूर्णिमा, बड़े घर की बेटी, लाल फीता, नमक का दारोगा, प्रेमपचीसी, प्रेम प्रसून, प्रेम द्वादशी, प्रेम प्रतिभा, प्रेम प्रमोद, प्रेम तीर्थ, पाँच फूल, प्रेम चतुर्थी, प्रेम प्रतिज्ञा, सात सुमन, प्रेम पंचमी, समर यात्रा, प्रेरणा, नवजीवन और पंच प्रसून। प्रेमचंद की लगभग सभी कहानियाँ 'मान सरोवर' नाम के सरस्वती प्रैस, बनारस से आठ भागों में प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रेमचंद ने कुछेक नाटक भी लिखे हैं। संग्राम, कर्बला, प्रेम की वेदी उनके नाटक हैं। वे जीवनी-लेखक भी थे। जीवनियों में 'महात्मा शेख सादी, दुर्गादास' और 'कलम तलवार और त्याग' प्रमुख हैं। उन्होंने अनातोले फ्रांस, टॉल्स्टॉय, गोल्सवर्दी, बर्नाड शॉ आदि लेखकों की रचनाओं का अनुवाद भी किया है।

प्रेमचंद हिन्दी के महान् उपन्यासकार ही नहीं, बल्कि विश्व के श्रेष्ठ कथाकारों में से हैं। उनसे पूर्व हिन्दी साहित्य में यथार्थ चित्रण की सबल परम्परा नहीं थी। प्रेमचंद ने कथा-साहित्य में यथार्थवादी परम्परा के चित्रण का सूत्रपात किया। वे अपने युग के सर्वाधिक जागरूक साहित्यकार थे अतः उनकी रचनाओं में

तत्कालीन समाज का चित्रण अत्यन्त, सूक्ष्मता से हुआ है जिसका आधार तथ्यात्मक है। उनकी रचनाओं में भारतीय समाज के दलित शोषित वर्ग के किसान, मजदूरों और अछूतों का दुःख-दर्द अधिक उभरा है। इसके पहले यह वर्ग साहित्य की परम्परा में उपेक्षित था। उन्होंने मानवीय जीवन के यथार्थ को सामाजिक अनुभवों के आधार पर उद्घाटित किया है। डॉ. रघुवंश ने कहा है कि प्रेमचंद ऐसे रचनाकार हैं, जिन्होंने निरंतर युग जीवन को पूर्णता में ग्रहण करने का प्रयत्न किया है और उनकी महानता इस बात में है कि उन्होंने मात्र वस्तु की रचना नहीं की, चरित्रों का सर्जन नहीं किया, वरन् इनके माध्यम से अपने युग की संपूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया को ग्रहण करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि इस युग में समस्त प्रयत्नों, मूल चेष्टाओं अर्थवत्ताओं विसंगतियों और अतिरंजनाओं को हम उनके कथा-साहित्य में अभिव्यक्त पाते हैं। इनके साथ ही रचनाकार अपने युग की दृष्टि खोजने के प्रयत्न में है। इस प्रकार प्रेमचंद की रचनात्मकता का आधार भारतीय समाज और उसका यथार्थ है और इसीलिए वे विश्वसनीय हैं। उन्होंने जिस भी आदर्श को स्वीकार किया है, वह समाज में ही अन्तर्निहित आदर्श हैं। वे समाज में उन्हीं मूल्यों की स्थापना करने की बात करते हैं, जो समाज की परम्परा से प्राप्त हैं। समाज से स्वीकृत मूल्यों को वे व्यापक स्तर पर स्वीकृत करने का प्रयास करते रहे। इसीलिए उन्हें सामाजिक, आर्थिक संघर्ष के कथाचित्र आत्मीय लगते हैं। प्रेमचंद की इस प्रगतिशीलता के साथ राष्ट्रवादी चेतना की अनुगूँज भी है। उनमें प्रगतिशीलता और राष्ट्रीयता दोनों ही थे। सन् 1930 में उन्होंने विशाल भारत में लिखा—‘इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतंत्रता संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शोहरत का इच्छुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है। मोटर और बैंगले की मुझे हवस नहीं है। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्चकोटि की रचनाएँ छोड़ जाऊँ, लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतंत्रता प्राप्ति हो।’ इस प्रकार प्रेमचंद के साहित्य में सामाजिक स्थितियों में यथार्थवाद के राष्ट्रीय और सामाजिक तत्त्व प्राप्त होते हैं।

कथासार

अंग्रेजों के शासन-काल में ईश्वर प्रदत्त वस्तु नमक पर प्रतिबंध लगा दिया गया और एक नया विभाग बना नमक का। फलस्वरूप निषेध होने के कारण लोग नमक का अवैध व्यापार करने लगे, जिसमें आय बहुत अधिक थी। ऊपरी आमदनी से भरपूर होने के कारण अन्य विभागों के ऊँचे पदों को छोड़-छोड़कर लोग इस विभाग के दारोगा की नौकरी करना चाहते थे। इसके दारोगा पद के लिए तो वकीलों का भी जी ललचाता था। ऐसी परिस्थिति में मुंशी वंशीधर रोजगार की खोज में निकले। उनके पिता व्यावहारिक व्यक्ति थे। उनकी दृष्टि में वह नौकरी अधिक महत्वपूर्ण थी जिसमें ऊपरी आमदनी हो, क्योंकि वेतन मनुष्य देता है इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती। ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है इसी से उसमें बरकत होती है। इसीलिए उन्होंने पुत्र को शिक्षा दी, ‘नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान नहीं देना, यह तो पीर की मजार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर ही रहनी चाहिए।’

पिता से उपदेश और आशीर्वाद लेकर वंशीधर चले गये। भाग्य प्रबल था। अब आते ही आते नमक के विभाग की गुंजाइश में दारोगा का पद मिल गया। इस पद में वेतन भी अच्छा और ऊपरी कमाई भी बहुत थी। पिता को जब यह समाचार मिला तो वह अति प्रसन्न हुए। लेकिन वंशीधर कर्तव्यनिष्ठ और ईमानदार आदमी थे। उनके लिए धैर्य अपना मित्र, बुद्धि अपनी पथ-प्रदर्शक और आत्मावलंबन अपना सहायक था।

उन्होंने थोड़े ही समय में अपनी कार्यकुशलता और उत्तम आचार से अफसरों को प्रसन्न कर दिया। अफसर लोग उन पर बहुत विश्वास करने लगे। कोई छह महीने ही नौकरी करते बीतें होंगे कि एक रात नदी के प्रवाह की जगह गाड़ियों की गड़गड़ाहट तथा मल्लाहों का शोर सुनाई दिया। किसी गोलमाल का भ्रम हुआ। वर्दी पहन कर तमंचा लेकर पुल पर गए। गाड़ियों की एक लंबी कतार पुल के पार जाती हुई दिखाई दी। खोज करने पर पता चला कि उन गाड़ियों के मालिक इस इलाके के सर्वाधिक प्रतिष्ठित जमींदार पंडित अलोपीदीन थे और उन गाड़ियों में नमक के बोरे थे। दारोगा जी ने पंडित अलोपीदीन को घाट पर बुलाया। पंडित जी लक्ष्मी जी को विस्तृत संसार का सूत्रधार समझते थे। उनकी दृष्टि में न्याय और नीति सब लक्ष्मी के खिलौने थे। अतः वे निश्चिंतता के साथ घाट पर आए और रिश्वत देकर दारोगा जी को अपने अनुकूल करना चाहा, लेकिन दारोगा जी उन नमक हरामों में नहीं थे, जो कौड़ियों पर अपना ईमान बेचते-फिरते हैं। अतः उन्होंने पंडित जी को हिरासत में लेने का हुक्म दिया।

पंडित अलोपीदीन जो धन की सार्वभौमिक सत्ता को ही सब कुछ मानकर जीवन के निर्णय कर लेते थे, आहत हो गए किन्तु अभी भी उनमें धन सांख्यिकी शक्ति का भरोसा था अतः रिश्वत की मात्रा और बढ़ा दी।

धन और धर्म में संघर्ष होने लगा जिसमें कर्म अलौकिक वीरता के साथ अविचलित रहा और धन पराजित हो गया।

प्रातः काल सारे शहर में पंडित जी की गिरफ्तारी की चर्चा थी। पंडित जी अभियुक्त होकर हाथों में हथकड़ियाँ, हृदय में ग्लानि और क्षोभ भरे, लज्जा से गर्दन झुकाए अदालत की ओर चले तो सर्वत्र हलचल हो गई।

किन्तु अदालत के अधिकारी उनके भक्त, अगवे उनके सेवक, वकील, मुख्तार उनके आज्ञा-पालक अरदली और चपरासी चौकीदार तो उनके गुलाम थे। न्याय के क्षेत्र में धर्म और धन का युद्ध छिड़ गया। अबकी बार धर्म पराजित हो गया। डिप्टी मजिस्ट्रेट ने लिखा-पंडित अलोपीदीन के विरुद्ध दिये गये प्रमाण निर्बल और भ्रमात्मक हैं। वह एक बड़े भारी आदमी हैं। यद्यपि नमक के दारोगा मुंशी वंशीधर का अधिक दोष नहीं, लेकिन यह बड़े खेद की बात है कि उनकी उद्दंडता और विचारहीनता के कारण एक भलेमानुस को कष्ट झेलना पड़ा।

कर्तव्यपरायणता का दण्ड मिला नौकरी की मुअत्तलवी के माध्यम से। पिता यह समाचार सुनकर धन्य हो गए। उनका क्रोध पुत्र पर अपरिमित था। घर में चाहे अंधेरा हो, मस्जिद में दिया अवश्य जलायेंगे। खेद ऐसी समझ पर, पढ़ना-लिखना सब अकारथ गया। वृद्धा माता को भी दुःख हुआ। पत्नी ने तो कई दिन तक सीधे मुँह बात भी नहीं की।

एक दिन संध्या के समय पंडित अलोपीदीन अपने वैभव का प्रदर्शन करते हुए मुंशी वंशीधर के घर आए। पिता ने अपने कुपुत्र की नासमझी का रोना रोया। किन्तु पंडित जी ने वंशीधर की धर्म परायणता और कर्तव्यनिष्ठा की बहुत प्रशंसा की और उन्हें अपनी सारी सम्पत्ति का स्थायी मैनेजर नियुक्त किया। छह हजार वार्षिक वेतन के अतिरिक्त रोजाना खर्च अलग, सवारी के लिए घोड़े, रहने को बैंगला, नौकर-चाकर। उन्होंने

परमात्मा से प्रार्थना की कि वह वंशीधर को सदैव नदी के किनारे वाला, बेमुरौवत, उद्दण्ड, कठोर धर्मनिष्ठ दारोगा बनाये रखें।

कहानी की साहित्यिक समीक्षा

कथानक-गठन और विकास-‘नमक का दारोगा’ कहानी का कथानक आदर्श रक्षा तथा त्याग से सम्बन्धित है। यह आदर्श-रक्षा अधिकारारूढ़ व्यक्ति की है, नैतिक होते हुए भी यह पद से घनिष्ठ रूप से जुड़ गई है। मुंशी वंशीधर अधिकार-आरूढ़ व्यक्ति हैं और धन के मुकाबले धर्म को महत्त्व देते हैं और इसीलिए जब वे धनपति अलोपीदीन को गिरफ्तार करते हैं तो उसके बहुत रिश्वत का लालच देने पर भी कर्तव्यच्युत नहीं होते। लेकिन अपने प्रभाव और धन के बल पर अभियुक्त अलोपीदीन मुकदमे के दौरान निर्दोष घोषित होता है और मुंशी जी पदमुक्त कर दिये जाते हैं। अन्त में अलोपीदीन उनके त्याग और आदर्श-रक्षा से प्रभावित होता है और उन्हें अपनी स्टेट का प्रबंधक बना देता है। संक्षेप में कहानी का यही कथानक है जिसके अन्त में धन और धर्म के युद्ध में धन की तुलना में धर्म श्रेष्ठ प्रमाणित होता है। यही कारण है कि धन के प्रतीक अलोपीदीन धर्म के प्रतीक मुंशी वंशीधर के सामने झुकते हैं और उन्हें श्रद्धेय स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कथानक का आकार सीमित है। वह अनावश्यक लम्बा नहीं हुआ है।

किसी भी कहानी में उसकी विषय-वस्तु के साथ ही उसका प्रारम्भ और अन्त तथा निर्वाह भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन तत्त्वों से ही कहानी की गतिविधि बनती है, कहानी में जीवन आता है। विकासक्रम की दृष्टि से आरम्भ परिचायक है जो पात्रों और उनकी अवस्था का परिचय देता है, उनकी आर्थिक स्थिति का बोध कराता है और उनके विचारों का परिचय देता है। अनुभवी पिता के द्वारा मुंशी वंशीधर को ऊपरी आमदनी की आवश्यकता और उपयोगिता से परिचित कराया जाता है। इस प्रकार आरम्भ में ही मूल विषय ध्वनित होने लगता है। पंडित अलोपीदीन को सम्मान सहित छोड़ देने और मुंशी वंशीधर को उद्दण्ड और अविवेकी घोषित करने के निर्णय से कथानक में चरम की स्थिति आ जाती है। अन्त में पंडित अलोपीदीन के द्वारा मुंशी जी को जायदाद का मैनेजर नियुक्त किए जाने की घटना से कथानक समाप्त हो जाता है। ऐसा लगता है कि मानो मुंशी वंशीधर अपनी आदर्श-रक्षा के लिए पुरस्कृत हुए हों।

कथानक तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पिता द्वारा अपनी आय की प्रशंसा और महत्त्व स्थापित करने तथा मुंशी जी के नमक विभाग के दारोगा का पद ग्रहण का अंश पहला भाग है। मुंशी जी के द्वारा अलोपीदीन को पकड़ना और उसका अदालत से बरी होना तथा दारोगा जी का पदमुक्त होना दूसरा भाग है। अलोपीदीन के द्वारा धर्म की श्रेष्ठता स्वीकार किया जाना कथानक का अन्तिम भाग है।

कथानक में घटनाओं का निर्वाह अत्यंत उत्कृष्ट है। मुंशी जी का यह जान लेना कि गाड़ी में नमक के ढेले हैं, कहानी की पहली और मुख्य घटना की तैयारी मात्र है। पंडित अलोपीदीन को हिरासत में लेने की घटना कहानी को उत्तेजित करती है और गति देती है और अदालत में वंशीधर के विरोध में उग्रता में कथानक के वेगमय भाव से अग्रसर होने की क्षमता आ गई है। कोर्ट में दारोगा को दोषी ठहराना कहानी का निर्णयात्मक तत्व है। ‘अलोपीदीन ने प्रफुल्ल होकर उन्हें गले लगा लिया।’ इस घटना के साथ कहानी का उपसंहार हो गया है।

कथानक का गुण पाठक की उत्सुकता बनाये रखने से निश्चित होता है। इस कहानी से पाठक अन्तिम पंक्ति तक बंधा रहता है। वस्तुतः कथाकार में कहानी कहने की कुशलता है। घटनाओं की आकस्मिकता के कारण कथानक में उत्सुकता निरंतर बनी रही है।

इस प्रकार सहज रूप में कथानक का गठन और विकास कहानी में दिखाई पड़ता है।

पात्र और चरित्र चित्रण—‘नमक का दारोगा’ कहानी में कथाकार की दृष्टि चरित्र-रचना पर केन्द्रित नहीं रही है। पात्र प्रतीकात्मक हैं। वे जीवन के यथार्थ को, उसकी सच्चाई को व्यक्त करते हैं। मुंशी वंशीधर नामक पात्र धर्म का प्रतीक है। पंडित अलोपीदीन नाम का चरित्र धन का प्रतिनिधित्व करता है। मुंशी जी के अनुभवी पिता का चरित्र समाज के एक ऐसे वर्ग को कहानी में वाणी देता है जो अपने पूरे जीवन में ऊपरी आय को महत्त्वपूर्ण मानते हुए रिश्वत लेता है। उसे रिश्वत लेने में कोई बुराई दिखाई नहीं पड़ती, बल्कि वह तो इसकी प्रशंसा भी करता है। ‘नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर की मजार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चाहिए। ऐसा काम ढूँढ़ना जहाँ कुछ ऊपरी आय हो।’ इस कहानी में समाज की यथार्थ स्थिति का चित्रण प्रमुख है। स्थिति-विशेष में किये गये कृत्य महत्त्वपूर्ण हैं अतः पाठक की सहानुभूति चरित्रों तक न पहुँचकर कृत्यों तक ही रह जाती है। हमारी दृष्टि अलोपीदीन के व्यक्तित्व (हृदय और मस्तिष्क से संचरित और सुसंबद्ध) तक नहीं जाती, उनके विविध आचरण तथा कृत्य ही हमारे सामने प्रमुख हो जाते हैं। फलस्वरूप पात्रों में चरित्रगत भेद नहीं रह जाता, वे घटना या आचार से अलग होकर पहचाने जाते हैं।

कहानी में मुंशी वंशीधर और पंडित अलोपीदीन दो मुख्य पात्र हैं। वंशीधर के पिता, जमादार बदलूसिंह मजिस्ट्रेट आदि सहायक पात्र हैं। वंशीधर की माँ और पत्नी संकेतित पात्र हैं।

मुंशी वंशीधर कथानायक हैं। उनके व्यक्तित्व में आदर्श, रक्षा और त्याग का भाव है। ‘इस विस्तृत संसार में उनके लिए धैर्य अपना मित्र, बुद्धि अपना पथ-प्रदर्शक और आत्मावलंबन ही अपना सहायक है।’ उनका संकल्प ईमानदारी का है। परिस्थितियों का चक्र उन्हें अपने संकल्प के मार्ग पर चलने नहीं देता। लेकिन वे इन परिस्थिति चक्रों से हारते नहीं, अड़ जाते हैं। मानवीय धर्म के अनुसार अपने संकल्प की रक्षा होनी ही चाहिए और वे छटपटाते हैं अपनी ईमानदारी की रक्षा के लिए। चालीस हजार रुपये की रिश्वत को वे अस्वीकार कर देते हैं अपने आदर्श की रक्षा के लिए, संकल्प के निर्वाह के लिए। वे कहते हैं कि ‘हम उन नमक हरामों में नहीं हैं, जो कौड़ियों पर अपना ईमान बेचते फिरते हैं। एक हजार नहीं, एक लाख भी मुझे सच्चे मार्ग से नहीं हटा सकता। वस्तुतः वंशीधर के चरित्र में लोच नहीं है। वे टूट जाने के लिए तत्पर हैं, लेकिन झुकने के लिए नहीं। समझौता भी नहीं करना चाहते। उनमें अपने आचरण पर दृढ़ रहने का साहस है।

पंडित अलोपीदीन दूसरे मुख्य पात्र हैं। वे इलाके के सर्वाधिक प्रतिष्ठित जमींदार हैं। लाखों रुपयों का लेन-देन वे करते हैं। छोटा-बड़ा कोई ऐसा नहीं है, जो उनका ऋणी न हो। कथाकार ने भ्रष्ट पूँजीपति के रूप में उनका चित्रण किया है। उनका प्रभाव अपने धन के बल पर कोर्ट तक में है। इसलिए डिप्टी मजिस्ट्रेट उनके लिए लिखता है—‘वह एक बड़े भारी आदमी हैं। यह बात कल्पना से बाहर है कि उन्होंने थोड़े से लाभ के लिए ऐसा दुस्साहस किया हो। यद्यपि नमक के दारोगा मुंशीधर का अधिक दोष नहीं है, लेकिन यह बड़े खेद की बात है कि उनकी उद्दंडता और अविचार के कारण एक भले मानुस को कष्ट

झेलना पड़ा।' बाद में पंडित अलोपीदीन का हृदय परिवर्तन हो जाता है और मुंशी जी की कर्तव्यनिष्ठा और आदर्श से वे प्रभावित होकर कहते हैं—'आप जैसे कीर्तिमान सज्जन पुरुष की सेवा करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है।'

इस प्रकार कहानी की पात्र-योजना कथ्य के अनुकूल है।

भाषा शिल्प—प्रेमचंद की कहानियों के भाषा-शिल्प जनसामान्य के नितांत निकट और अपनत्व से भरा हुआ है। उनकी भाषा का रूप सामान्य हिन्दी का ही जिसमें आम जीवन में प्रचलित शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि हैं। भाषा की यह सहजता प्रेमचंद की कहानियों को अधिक आकर्षक और अधिक माननीय बना देती है। भाषा में गहरी सद्भावना है।

'नमक का दारोगा' कहानी की भाषा भी सरल और आकर्षक है। भाषा का रूप व्यावहारिक हिन्दी का है। वह (भाषा) गहरे संवेदनों, व्यंग्यार्थ और कलात्मक सौन्दर्य को लेकर चलती है। उसका संबंध हृदय से है। कलात्मक होते हुए भी कृत्रिमता का पूर्ण अभाव है। कहानी में लेखक सीधे-सीधे ढंग से अपनी बात पाठकों तक पहुँचाता है। भाषिक स्तर पर इस कहानी की विशेषता इसकी मुहावरेदार भाषा है जो बोलचाल की जवान का महत्त्वपूर्ण तत्व है। मुहावरों के कारण भाषा आकर्षक और व्यंजक हो गई है। वस्तुतः भाषा को प्रभावी बनाने में जनसामान्य में प्रचलित मुहावरों के प्रयोगों की आवश्यक भूमिका होती है। प्रेमचंद इस बात के प्रति सतर्क थे, इसीलिए उनकी भाषा में बोलचाल की बोली में पायी जाने वाली सूझ और आत्मीयता है। सुप्रसिद्ध कथाशिल्पी श्री भीष्म साहनी ने प्रेमचंद की भाषा के संदर्भ में लिखा है, 'मुझे प्रेमचंद की जवान प्रभावित करती है, उसमें मुहावरा है, लोच है, बोलचाल की जवान में पायी जाने वाली सूझ है, दानशमंदी है। प्रेमचंद के बाद ऐसी जवान किसी ने नहीं लिखी, क्योंकि भाषा के प्रति जो खुलापन प्रेमचंद में था और जैसा रचनात्मक प्रयोग वह कर गए और भाषा की जैसी पकड़ उनमें थी, वैसी बाद में देखने को नहीं मिली।' 'नमक का दारोगा' कहानी में भी भाषा की वह सूझ और पकड़ है। मुहावरों का प्रयोग प्रतिपाद्य का संप्रेष्य बनाने में सहायक रहा है। उदाहरण के लिए एक प्रसंग है जब वंशीधर के पिता उन्हें रिश्वत का महत्त्व समझाते हैं। इस शिक्षा के समय भाषा में अनेक मुहावरों का और लोकोक्तियों का प्रयोग है जैसे लड़कियों का घास-फूस की तरह बढ़ना, कगारे पर का वृक्ष, पीर की मजार, वेतन जो पूर्णमासी का चाँद है, ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है जिससे सदैव प्यास बुझती है, आदि। इस तरह अंश के वाक्यों में पूर्ण भाषिक सौन्दर्य है।

शब्द-समूहों की दृष्टि से कहानी में अधिकांशतः देशज और तद्भव शब्द हैं। उर्दू के शब्दों, जैसे मजार, मुख्तार, निगाह, कायदे, ईमान, ओहदेदार, तनखाह आदि का आवश्यकतानुकूल प्रयोग हुआ है। संस्कृत के तत्सम् शब्द भी प्रयुक्त हैं जैसे सूत्रपात, दुर्दशा, प्राबल्य, प्रेम वृत्तांत आदि।

कहानी में संवाद-योजना कथा, पात्रों तथा अवसर के अनुकूल है। संवादों के माध्यम से पात्र विशेष का चरित्र अधिक उभरा है। उदाहरण के लिए अलोपीदीन को गिरफ्तार करते समय वंशीधर और अलोपीदीन के बीच में जो कथोपकथन हुआ है वह दोनों ही पात्रों के चारित्रिक गुणों को स्पष्ट करता है। कहीं-कहीं संवाद-योजना सूक्तियाँ बन गई हैं जैसे वंशीधर के पिता का यह कहना, 'मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चाँद

है, जो एक दिन दिखाई देता है और फिर घटते-घटते लुप्त हो जाता है।' या 'ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है जिससे सदैव प्यास बुझती है।'

कहानी की शैली वर्णनात्मक है। उसमें रचनात्मक क्षमता, ऋजुता और सरलता है। शैली में स्वाभाविक प्रवाह है, कहानी कहने की कुशलता है।

इस प्रकार भाषाशिल्प की दृष्टि से 'नमक का दारोगा' कहानी महत्त्वपूर्ण हो गयी है।

नामकरण—कहानी का नामकरण कथानायक के चरित्र में स्थित है। कहानी का प्रतिपाद्य नमक के दारोगा से ही संबंधित है। कहानी का आरम्भ नमक के विभाग के परिचय से होता है। इस विभाग में ही नमक के दारोगा का पद है जिसके लिए वकीलों का भी जी ललचाता है। वंशीधर नमक के दारोगा हैं, जो अपने पद के प्रति पूर्ण निष्ठावान हैं। नमक की चोरी पकड़ना और बड़े-से-बड़े लालच और भय में भी कर्तव्य के च्युत न होना उत्तरदायित्व है दारोगा पद को ध्यान में रखकर किया गया है, जिससे प्रतिपाद्य अधिक संवेद्य हो गया है।

प्रतिपाद्य

'नमक का दारोगा' कहानी का मूल प्रतिपाद्य अधिकारारूढ़ व्यक्ति के आदर्श और समाज में धन के बल पर, प्रतिष्ठित व्यक्ति के द्वंद्व का है। स्पष्टतया कहानी में धन और धर्म का संघर्ष चित्रित है। धन और धर्म के इस संघर्ष में कथाकार एक आदर्श की स्थापना करता है, जो अधिकारारूढ़ व्यक्ति का आदर्श है। यह आदर्श नैतिक तत्त्वों से भरा हुआ है। वस्तुतः आदर्श का पालन न करना अधिकार या पद से विश्वासघात करना है। धन के समक्ष आदर्श को न झुकने देना एक श्रद्धा का भाव जगाता है।

कहानी में धन का प्रतिनिधित्व करते हैं समाज के धनी मानी और समर्थ व्यक्ति पंडित अलोपीदीन और धर्म के प्रतिनिधि हैं मुंशी वंशीधर जो नमक विभाग के दारोगा हैं। 'दारोगा' के पद पर नियुक्त होने के छह महीने के अन्दर-ही-अन्दर मुंशी वंशीधर के गाँव के सर्वाधिक प्रतिष्ठित जमींदार पंडित अलोपीदीन को जिसका अखंड विश्वास लक्ष्मी जी पर था और जो मानते थे कि न्याय और नीति सब लक्ष्मी के ही खिलौने हैं, गिरफ्तार कर लिया। पंडित अलोपीदीन ने धन की सांख्यिकी शक्ति का पूरा भरोसा करते हुए चालीस रुपये की रिश्वत देनी चाही जिसे दारोगा जी ने स्वीकार नहीं किया और धर्म ने धन को कुचल डाला। लेकिन बाद में स्थिति बदल गयी। पंडित अलोपीदीन पर मुकदमा चला। अदालत के अधिकारी वर्ग से लेकर चौकीदार तक उनके भक्त और गुलाम थे अतः वकीलों की एक बड़ी सेना तैयार हो गई उनके लिए और न्याय के मैदान में धर्म और धन का युद्ध शुरू हो गया। डिप्टी मजिस्ट्रेट ने फैसला सुनाया जिसमें पंडित अलोपीदीन निर्दोष बताए गए और मुंशी वंशीधर उद्दण्ड, दुस्साहसी, विचारहीन और अविवेकी।' भविष्य में उन्हें होशियार रहने की चेतावनी दी गई। एक सप्ताह बीतते-बीतते ही उनकी मुअत्तली का आदेश भी हो गया। कर्तव्यपरायणता का पुरस्कार उन्हें मिला। व्यावहारिक बुद्धि वाले पिता ने उनकी प्रताड़ना की, 'हम तो तलवार और कसाई के तगादे सहें, बुढ़ापे में भगत बनकर बैठें और वहाँ बस वही सूखी तनख्वाह! आप ईमानदार बनने चले हैं।' एक दिन पंडित अलोपीदीन मुंशीजी के घर पहुँचे और उन्हें अपनी सारी जायदाद का

स्थायी मैनेजर नियुक्त किया और परमात्मा से मुंशीजी को सदैव नदी के किनारे वाला, बेमुरौवत, उद्दंड कठोर परन्तु धर्मनिष्ठ दारोगा बनाए रखने की प्रार्थना की। इस प्रकार धन धर्म के समक्ष नतमस्तक हो गया।

कहानी में प्रेमचंद ने एक आदर्श स्थिति का निर्माण किया। मुंशी वंशीधर ने अपने नौकरी के दौरान कर्तव्यपरायणता से काम किया और रिश्वत के आगे नहीं झुके, जबकि अमीर बनने की लालसा में रिश्वतखोरी समाज का, जीवन का एक अंग बन चुकी थी (आज भी है)। कदम-कदम पर पदारूढ़ व्यक्तियों को इसका सामना करना पड़ता था। मुंशीजी ने भी किया, लेकिन स्वीकारात्मक रूप में नहीं बल्कि निषेधात्मक रूप में। और इसीलिए उनका आदर्श अलौकिक वीरता के साथ 'धन की बहुसंख्यक सेना के सम्मुख अकेला पर्वत की भाँति अटल अविचलित खड़ा' रहा।

प्रेमचंद जीवन-सत्य का अनुसरण करने वाले कलाकार हैं। उन्होंने एक अत्यंत उच्च धरातल पर आसीन होकर जीवन के मूल तत्वों और सत्य का सामंजस्यपूर्ण से अनुसंधान किया। वे विविध सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक समस्याओं के बीच में मानवता खोजते हैं। पात्रों की दुर्बलताओं और सरलताओं के बीच उन्होंने उनमें छिपा हुआ मानव तलाशा है। पंडित अलोपीदीन धर्म के द्वारा धन की निरादर करने की उद्दंडता सहन नहीं कर पाते और इसलिए 'धर्म की बुद्धिहीन दृढ़ता' को वैभव के बल पर परास्त करते हैं। लेकिन अन्त में उनकी छिपी हुई मानवीयता उभर कर सामने आती है और वे ईश्वर से मुंशी जी की धर्म निष्ठ बनाए रखने का अनुरोध करते हैं। उनमें मुंशी जी के प्रति पूरी निष्ठा और आस्था उत्पन्न हो चुकी है। इस प्रकार धन और धर्म के संघर्ष में धन धर्म के आदर्श को स्वीकार करता है।

इस कहानी में गाँधीवादी विचारधारा का प्रभाव है। गाँधीजी का सिद्धान्त सत्य, अहिंसा और कर्तव्य का है। मुंशी वंशीधर गाँधीवादी विचार का पूर्ण रूप से पालन करते हैं। इस दौरान उन्हें कष्ट मिलता है। लेकिन वे उसे झेलते हैं और अपने मार्ग से च्युत नहीं होते। इस प्रकार एक मानवीय सद्भावना उजागर होती है। जो अन्त में धन के प्रतीक अलोपीदीन को भी प्रभावित करती है। प्रस्तुत कथा में परोक्षतः एक संकेत और भी छिपा हुआ है। कथाकार ने हमारी न्याय-व्यवस्था की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। न्याय प्रणाली को नीर-क्षीर पृथक् करने में समर्थ होना चाहिए। परन्तु वह आधारित है वकीलों द्वारा प्रस्तुत गलत-सही प्रमाणों और गवाहों के झूठे-सच्चे वचनों पर। जिन्हें आसानी से खरीदा जा सकता है। फलतः न्याय की तुला पर धन का पलड़ा धर्म की अपेक्षा अधिक झुक जाता है और धन के सम्मुख धर्म पराजित हो जाता है। लेखक ने पंडित अलोपीदीन के माध्यम से पूँजीवादी वर्ग की व्यावहारिक बुद्धि को भी उजागर किया है। वे धन के बल पर पुलिस, गवाह, वकील सबको खरीदने की सामर्थ्य रखते हैं और खरीदते भी हैं, परन्तु अपनी जमींदारी के मैनेजर के रूप में मुंशीधर जैसे कर्तव्यपरायण व्यक्ति की नियुक्ति करते हैं। यह नियुक्ति उनका हृदय परिवर्तन भी हो सकती है और व्यावहारिक सूझ-बूझ भी।

संभावित प्रश्न—

1. 'नमक का दारोगा' के आधार पर प्रेमचंद की कहानी-कला की समीक्षा कीजिए।
2. 'नमक का दारोगा' कहानी की मूल संवेदना पर प्रकाश डालिए।

2. गुण्डा (जयशंकर प्रसाद)

डॉ. भवानी दास
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

(1) लेखक-परिचय

आधुनिक काल के जिन साहित्य-सर्जकों ने खड़ी-बोली की श्रीवृद्धि के साथ मौलिक साहित्य का सृजन कर उसे सार्वभौमिक, सार्वदेशिक और सार्वकालिक स्तर का बनाया, उनमें प्रतिभावान जयशंकर प्रसाद जी का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

श्री जयशंकर का जन्म माघ शुक्ल दशमी संवत् 1946 (सन् 1889) को सुँघनी साहु नाम से प्रसिद्ध काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ था। पारिवारिक कठिनाइयों के कारण इनकी स्कूली शिक्षा अधिक नहीं हो सकी। इन्होंने आठवीं कक्षा तक अंग्रेजी की शिक्षा स्कूल में प्राप्त की और हिन्दी, उर्दू, संस्कृत आदि भाषाओं का अध्ययन घर पर ही किया। इनके परिवार में प्रारंभ से ही साहित्यिक वातावरण था। पिता देवी प्रसाद जी साहित्य-प्रेमी थे। अतः घर पर ही साहित्यिक-गोष्ठियाँ किया करते थे, जिससे शैशवावस्था से ही उनमें साहित्य अभिरुचि जागृत हो गई थी। आगे चलकर उन्होंने वेद, पुराण, इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। यही कारण है कि इनके साहित्य में सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बहुत पुष्ट है।

कहा जाता है कि आठ-नौ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने 'अमरकोश' और 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' को कंठस्थ कर लिया था, जो इनकी असाधारण प्रतिभा का परिचायक है और आठ-नौ वर्ष की ही अल्पायु में इन्होंने बृज-भाषा में प्रथम सवैया लिखा। संवत् 1963 में 'भारतेन्दु' पत्रिका में पहली बार इनकी कविता प्रकाशित हुई। बाद में 'इन्दु' पत्रिका में इनकी कविता, कहानी, नाटक और निबन्ध आदि प्रकाशित होने लगे।

साहित्य-सर्जन में इनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। वे एक साथ महाकवि, श्रेष्ठ कथाकार, मौलिक एवं सुलझे हुए निबन्धकार संस्कृति-चेता, विचारक एवं इतिहास के उद्धारक थे। इसीलिए इन्होंने इतिहास, पुराण, मनोविज्ञान, प्रेम व राष्ट्र, समाज एवं जीवन की समस्याओं की पृष्ठभूमि पर अपने साहित्य का सृजन किया। शुरू में इन्होंने ब्रजभाषा में रचना आरम्भ की, लेकिन बाद में खड़ी बोली में रचना करने लगे। इनके काव्य-ग्रंथों में 'चित्राधार', 'काननकुसुम', 'झरना', 'आँसू', 'लहर' तथा 'कामायनी' प्रमुख हैं। 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'जनमेजय' का नागयज्ञ, 'विशाख', 'राज्यश्री' इनकी नाट्य कृतियाँ हैं। 'एक घूँट' तथा 'कामना' इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं। 'कंकाल', 'तितली', 'इरावती' इनकी औपन्यासिक कृतियाँ हैं। इनकी कहानियाँ 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी', 'इन्द्रजाल' में संग्रहित हैं। इसके अतिरिक्त 'इन्दु', 'हँस' और 'जागरण' पत्रिकाओं का भी इन्होंने सम्पादन किया।

धीर, गम्भीर प्रकृति के रससिद्ध कवि प्रसाद में एक अपूर्व बात यह थी कि इन्होंने साहित्य की जिस भी विधा पर अपनी लेखनी चलाई, उसे एक नई दिशा दी। वे एक ओर छायावादी नवीन विचारधारा के जागरूक कवि थे, तो दूसरी ओर अपने नाटकों, कहानियों आदि के माध्यम से अपने देश के अतीत को साकार करते हुए सामयिक और राजनैतिक जागरण में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान किया। वास्तव में अगर देखा जाए तो साहित्य-क्षेत्र में प्रसाद जी का आगमन उस समय हुआ, जब स्वतंत्रता-संग्राम का जुनून सर्वत्र छाया हुआ था। लोग विदेशी-सत्ता की जड़ें उखाड़ फेंकने का अवसर ढूँढ़ रहे थे। लोगों में नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना और अपने स्वर्णिम अतीत के प्रति आकर्षण जागना आरम्भ हो चुका था। प्रसाद जी ने अपनी साहित्यिक-कृतियों के माध्यम से जन-मानस में भारत के स्वर्णिम अतीत के प्रति विश्वास तथा गौरव का भाव जगाया, और यही अतीत का गौरवपूर्ण पुनः आख्यान और नवीन मानवीय-मूल्यों की स्थापना उनके साहित्य का मूल स्वर बना।

अन्त में, अपनी अमूल्य कृतियों से हिन्दी के भण्डार को सम्पन्न करने वाले तथा जन-जन के कानों में नवजागरण का मंत्र फूँकने वाले इस महानायक की अल्पावस्था (सन् 1937) में मृत्यु हो गई। उनका साहित्य हमारे लिए एक अद्भुत प्रेरणा स्रोत है।

(2) 'गुण्डा' : सारांश

'इन्द्रजाल' कहानी-संग्रह में संगृहीत जयशंकर प्रसाद जी की कहानी 'गुण्डा' हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में स्थान रखती है। इस कहानी की कथा वाराणसी के परिवेश पर आधारित है। ईसा की अठारहवीं शती के अन्तिम भाग में समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्र-बल के समक्ष परास्त होते देख एक नवीन सम्प्रदाय (वर्ग) की सृष्टि का प्रसाद जी ने उल्लेख किया है, जिन्हें काशी के लोग 'गुण्डा' समझते हैं। उनका धर्म वीरता था जिसका प्रदर्शन वे अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध निर्बलों और असहायों की रक्षार्थ करते थे। ऐसे ही एक पात्र नन्हकू सिंह का इस कहानी में जिक्र है, जो काशी के प्रतिष्ठित जमींदार बाबू निरंजन सिंह का वीर पुत्र है। जीवन की किसी 'अलभ्य अभिलाषा' के पूर्ण न होने पर वह मानसिक चोट से घायल हो जाता है, परन्तु स्वाभिमान के साथ निर्भय होकर अपने साथियों को लेकर काशी की गलियों में घूमता रहता है। वहीं की एक तवायफ की लड़की-दुलारी से नन्हकू के राजमाता-पन्ना के प्रति मधुर सम्बन्धों का पता चलता है, जो अपने पुत्र राजा चेतसिंह के साथ काशी के आतंकपूर्ण, भय और सन्नाटे के माहौल में कैद कर ली गई हैं। जब दुलारी के माध्यम से नन्हकू सिंह को इस बात की जानकारी मिलती है, तो उसका मन अधीर हो उठता है। वह अपनी जान पर खेलकर अपने साथियों के साथ उन्हें उस कैद से आजाद करने के लिए निकल पड़ता है। वहाँ पहुँचकर वह अपने प्रयत्न में सफल होता है। वह स्वयं फिरंगों की संगीनों के सामने चट्टान सदृश खड़ा होकर अविचलित भाव से तलवार चलाता हुआ राजमाता और राज परिवार की रक्षा करता हुआ अपने प्राणों की आहुति दे देता है।

सजग साहित्यकार प्रसाद जी ने इस कहानी के माध्यम से काशी के गुण्डों की विशेषताओं को रेखांकित करने की कोशिश की है, जिनमें आजादी की ललक है, जो मानवीय भावनाओं से पूर्ण है।

(3) मुख्य विचार-बिन्दु

- (1) ईसा की अठारहवीं शती के अन्तिम भाग में काशी नगरी में समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्रबल के सामने झुकते देख एक नवीन सम्प्रदाय की सृष्टि का लेखक ने उल्लेख किया है, जिन्हें वहाँ के लोग गुण्डा समझते थे। उनका धर्म वीरता था जिसे वे अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध निर्बलों और असहायों की रक्षा करने में व्यक्त करते थे। ऐसे ही एक पात्र नन्हकू सिंह का जिक्र है, जो जमींदार बाबू निरंजन सिंह का वीर पुत्र है।
- (2) नन्हकू सिंह 'पन्ना' से प्रेम करता था, पर राजा बलवन्त सिंह द्वारा बलपूर्वक उसके रानी बनाए जाने पर वह मानसिक चोट से घायल हो जाता है। अव्यक्त-प्रेम की कसक और असफल प्रेम का प्रतिशोध उसकी जीवन-धारा का रुख बदल देती है। वह नन्हकू से 'गुण्डा' नन्हकू सिंह बन जाता है। पर उसे अफसोस इस बात का है कि राजा बलवन्त सिंह से बदला लेने के लिए वह गुण्डा तो बना, लेकिन वह उसके 'कलेजे में बिछुवा न उतार' सका।
- (3) बलवन्त सिंह से तो वह प्रतिशोध नहीं ले पाता लेकिन अपनी सम्पत्ति को पानी की तरह बहाता है, क्योंकि उसे सम्पत्ति और उस सम्पत्ति पर टिके समाज से सख्त नफरत है। संगठित शक्ति के मुकाबले संगठित विकल्प (प्रतिरोध) न होने के कारण प्रतिशोध की भावना 'एण्टी हीरो' को जन्म देती है। नन्हकू सिंह को अपराधी बनाने वाली शक्तियों का समाज पर प्रभुत्व है। राजा बलवन्त सिंह की जबरदस्ती, हेस्टिंग्स और उसके प्रशासकों-सहयोगियों के अत्याचार एक वर्ग की संस्कृति हैं। उनके अपराध राज्य और कानून की दृष्टि में अपराध नहीं हैं। इस निरंकुश-सत्ता के अपराधों का संगठित प्रतिवाद न होने की स्थिति में जीने और उनसे लड़ने के लिए यह सम्प्रदाय (गुण्डा) कटिबद्ध है।
- (4) अत्याचार संगठित है और वैधानिक है। वह अमानवीय समाज को जन्म देता है, जो मनुष्य की भावना और इच्छा का सम्मान नहीं करता। दुलारी से नन्हकू सिंह का जिक्र (गुणगान) सुनकर पन्ना अन्यमनस्क हो जाती है और राजा बलवन्त सिंह द्वारा बलपूर्वक महारानी बनाए जाने के पहले की एक 'सम्भावना' को सोचने लगती है कि 'काश! उसका ब्याह नन्हकू सिंह से हो जाता'। उस 'सम्भावना' की कसक महारानी पन्ना के मन में अब भी है, पर कभी उसे व्यक्त नहीं कर पायीं, पर नन्हकू सिंह जब पन्ना को छुड़ाने शिवालय घाट पर पहुँचा, तब 'एक क्षण' के लिए चारों आँखें मिलीं, जिनमें—'जन्म-जन्म का विश्वास ज्योति की तरह' जल रहा था। 'एक क्षण' की यह कौंध उस समूचे कल को निरर्थक बना देती है, जो मनुष्य की 'सम्भावना' को कुचलता है। यहीं 'एक क्षण' कहानी की संवेदना का वह बिन्दु है, जहाँ एकाएक 'जन्म-जन्म का विश्वास' बनकर सामने आ जाता है। इसी एक क्षण में पहले की सारी कोमल भावनाएँ यथार्थ के उस क्रूर सत्य से टकराती हैं जो शक्ति के संस्थानों की अमानवीयता उद्घाटित कर देता है। 'फाटक बलपूर्वक खोला जा रहा था'। इस संकट में पन्ना की रक्षार्थ 'जन्म-जन्म के' जिस विश्वास और अनुराग से नन्हकू सिंह वहाँ पहुँचा था, वह एक क्षण में उसे 'गुण्डा' से 'सेवक' बना देता है। और स्वयं को दाँव पर लगाकर पन्ना को बचा लेता है, जो प्रसाद जी की रोमांटिक संवेदना का एक खास गुण है।

- (5) इस प्रकार अमानवीय शक्ति-स्थानों की टकराहट में प्रतिनायक के मानवीय गुण उभरकर सामने आते हैं। बोधिसिंह से जुए के दौरान भयंकर झगड़ा, मनमुटाव रहने के बावजूद भी नन्हकू सिंह उसके लड़के की बारात लेकर जाते हैं, सारा खर्चा उठाते हैं। वे दुलारी से गाने की फरमाइश करते हैं, पर कोठे की सीढ़ियाँ नहीं चढ़ते। दुलारी जो कि एक उपेक्षित नारी है, पर उसमें मानवीयता है, खुद्दारी है, नन्हकू के प्रति दबा सा अनुराग रखती है। सुम्भा नाले पर नन्हकू का मन बेचैन है। रात में दुलारी उनके पलंग पर आ जाती है, 'दुलारी, जीवन में आज यह पहला ही दिन है कि एकांत रात में एक स्त्री मेरे पलंग पर आकर बैठ गई है, मैं चिरकुमारा।' बन्दी पन्ना और चेतसिंह को उसके विश्वासी लोग या तो धोखा देते हैं या हताश होकर बैठ जाते हैं, तब नन्हकू सिंह जान देकर राजमाता और राजपरिवार को बचाते हैं। इस तरह उनके चारित्रिक गुण सामाजिक खलनायक से लड़ने वाले व्यक्ति नायक के गुण हैं। वे सामाजिक प्रतिरूप नहीं।
- (6) 'गुण्डा' कहानी सामंती और साम्राज्यवादी सत्ता-विमर्श में स्त्री की यातना की कहानी भी है। पन्ना 'असवर्णता' और 'वैधव्य' का दोहरा अभिशाप झेलती है। छोटी होने के कारण 'पटरानी' है और पुत्रवती होने के कारण सम्मान पाती है। लेकिन उसकी यातना की अनेक परतें हैं। उसने बलवन्त सिंह से स्वेच्छा से विवाह नहीं किया। उसकी इच्छा की बलवन्त सिंह के सामने कोई कीमत नहीं। उसकी इच्छा, भावना, विश्वास इस तरह दब जाते हैं, जिन्हें वह एकांत में भी प्रकट नहीं कर सकती; पटरानी बनने के बाद वह अन्य रानियों की डाह से मुक्त नहीं रहती; विधवा होने के बाद उसके अपमान का अन्त नहीं है। यह उसकी स्त्री अस्मिता है। स्त्री होने के कारण वह उत्पीड़न की सबसे सहज शिकार है। बलवन्त सिंह उसे बलपूर्वक रामनगर की रानी बनाते हैं और हेस्टिंग्स के आदेश पर इस्टार भी उसे 'बलपूर्वक' कलकत्ता भेजने पर अमादा हैं। इस तरह सामंती और साम्राज्यवादी सत्ता की दोहरी यातना से ग्रस्त पन्ना का जीवन कई अर्थछायाएँ प्रदान करता है।
- (7) 'गुण्डा' कहानी का देशकाल सुनिश्चित है। प्रसाद लिखते हैं—“16 अगस्त, 1781 को काशी डावांडोल हो रही थी। शिवालय घाट में राजा चेतसिंह इस्टार पहरे में थे। नगर में आतंक था। कूटनीति का दौर बीत चुका था, दमन और आतंक के बल पर अंग्रेजी राज अपने पाँव फैला रहा था। इस तरह, काशी हिन्दुस्तान का प्रतीक बन जाती है, निश्चित देशकाल का चित्र बृहत्तर ऐतिहासिक यथार्थ की झलक देने लगता है। देशी सामंत अपने-अपने राग-रंग के लिए प्रजा पर अत्याचार करते थे। साम्राज्यवादी शासन पहले दौर में सामंतों को भी बेदखल कर रहा था। जनता से अलगाव के कारण यह सामंत वर्ग अपनी रक्षा खुद नहीं कर सकता था, इस तरह सामाजिक जीवन में काफी उथल-पुथल थी। 'गुण्डा' के पास संकल्प, साहस और चारित्रिक गुण हैं पर जागृत सामाजिक चेतना नहीं है, संगठित शक्ति नहीं है। वह उत्पीड़न की प्रक्रिया से पैदा हुआ है, इसीलिए साम्राज्यवादी उत्पीड़न के क्षण में वह ऐतिहासिक भूमिका अदा करता है। लेकिन उसकी यह भूमिका सीमित है। इसलिए पन्ना और चेतसिंह को खिड़की के रास्ते नदी में खड़ी डोंगी में उतारकर खुद संगीनों का प्रहार अपने शरीर पर झेलता है। उसके शौर्यपूर्ण जीवन के साथ उसकी ऐतिहासिक भूमिका भी खत्म हो जाती है। 'गुण्डा' की मृत्यु वैयक्तिक नायकत्व वाली रोमांटिक संवेदना की मृत्यु है। वह एक संदेश है कि संगठित सत्ता का विरोध संगठित माध्यम से ही हो सकता है। यह संदेश 1781 के भारत से ज्यादा प्रसाद के भारत के लिए है।

- (8) पराधीन जाति अपने स्वर्णिम अतीत से अपनी वर्तमान दशा की तुलना कर एक चेतना जगाने की कोशिश करती है। प्रसाद ऐसी तुलना के लिए खासतौर से प्रसिद्ध हैं। 'गुण्डा' में इस प्रवृत्ति की झलक है—“ईसा की अठारहवीं शती के अन्तिम भाग में वही काशी नहीं रह गई थी, जिसमें उपनिषद् के अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिए विद्वान ब्रह्मचारी आते थे।” इत्यादि।
- (9) यह कहानी एक और महत्वपूर्ण बात की तरफ संकेत करती है—अंग्रेजी-जुल्म के समय हिन्दू-मुस्लिम आपस में लड़ें, साम्प्रदायिक प्रश्न खड़े हों, मौलवी कुबरा और हिम्मत सिंह जैसे लोग अंग्रेजों की सहायता करें—प्रसाद जी इस वस्तु स्थिति को सामने रखकर राष्ट्रीय-चेतना के लिए जमीन तैयार करते हैं।

इस प्रकार 'गुण्डा' कहानी के ताने-बाने में बहुत से सूत्र पिरोए हुए हैं— सामंती उत्पीड़न, साम्राज्यवादी निरंकुशता, नन्हकू सिंह जैसे (बहिष्कृत) चरित्र के प्रेम और उत्सर्ग का उत्कृष्ट रूप, उसका शौर्य, उसकी आजादी के प्रति ललक, बनारस का सांस्कृतिक जीवन, धनी वर्ग की कायरता और गद्दारी, दुलारी जैसे उपेक्षित चरित्रों की मानवीयता और खुद्दारी, भारतीय समाज का ऐतिहासिक संक्रमण, साम्प्रदायिक प्रश्न, स्वर्णिम अतीत से वर्तमान की तुलना, राष्ट्रीय जागरण की भावना को जगाने का प्रयत्न इत्यादि।

(4) अनुच्छेद : वस्तुपरक प्रश्न

ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वही काशी नहीं रह गयी थी, जिसमें उपनिषद् के अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिए विद्वान् ब्रह्मचारी आते थे। यहाँ तक कि पवित्रता और छुआछूत में कट्टर धर्म भी उस विश्रृंखलता में, नवागन्तुक धर्मोन्माद में अपनी असफलता देखकर काशी में अघोर रूप धारण कर रहा था। उसी समय समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्र-बल के सामने झुकते देखकर काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन ने, एक नवीन सम्प्रदाय की सृष्टि की। वीरता जिसका धर्म था। अपनी बात पर मिटना, प्राण-भिक्षा माँगनेवाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वन्दी पर शस्त्र न उठाना, सताये निर्बलों को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिए घूमना, उसका बाना था। उन्हें लोग काशी में गुंडा कहते थे।

(गद्य-प्रबोध, संपादक – डॉ. स्नेह चड्ढा, डॉ. शशि सरदाना, पृष्ठ-30)

प्रश्न 1. अठारहवीं शती के काशी की सामाजिक और धार्मिक स्थिति क्या थी?

उत्तर – धार्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से काशी भारत की बहुत ही महत्वपूर्ण नगरी है। अठारहवीं शती के अन्तिम चरणों में काशी पूरी तरह बदल गई थी। पहले यहाँ अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिए अनेक विद्वान ब्रह्मचारी आया करते थे। गौतमबुद्ध व शंकराचार्य के धर्म-दर्शनों में अभिव्यक्त सिद्धान्तों के खिलाफ खूब वाद-विवाद होते थे। इसका कारण था – आततायियों द्वारा मन्दिरों व मठों का ध्वंस तथा तपस्वियों का निरंतर वधा। वहाँ अब पहले जैसी पवित्रता नहीं रह गई थी। समाज में भयंकर विश्रृंखलता फैली हुई थी। वैष्णव धर्म विकृत हो रहा था। 'धर्मोन्माद' ने काशी में भयंकर रूप धारण कर लिया था। ज्ञानार्जन के उद्देश्य से आने वाला अध्येता अपने उद्देश्य-प्राप्ति से वंचित हो जाता। दरअसल, बुद्धिवाद शस्त्रबल के समक्ष झुका जा रहा था। इस तरह वहाँ की स्थिति डावांडोल थी।

प्रश्न 2. धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से 'काशी नगरी' के महत्त्व पर प्रकाश डालिए?

उत्तर - धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से काशी भारत की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण नगरी है। गंगा के सुरम्य तट पर बसी हुई इस नगरी को मन्दिरों का शहर भी कहा जाता है, क्योंकि यहाँ मन्दिरों की संख्या अनगिनत है, जिनमें 'काशी विश्वनाथ' का मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है। कहते हैं काशी में मरने वालों को 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है। पहले उपनिषद् के अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिए विद्वान ब्रह्मचारी यहाँ आया करते थे। वैष्णव-धर्म के लोग यहाँ जमे हुए थे। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी धर्म-दर्शनों के अनुयायी व प्रचारक यहाँ पहले भी आते थे और अब भी आते रहते हैं। शास्त्रार्थ होता है। मान्यताएँ, नियम आदि बनाए व तोड़े जाते हैं। विभिन्न धर्म-दर्शनों के प्रवर्तक यहाँ आकर अपने-अपने धर्म-दर्शनों की श्रेष्ठता सिद्ध करने की कोशिश करते हैं व प्रचार करते हैं। यह एक बहुत ही पवित्र नगरी मानी जाती है। अतः अठारहवीं शती के अन्त में जब यहाँ अराजकता फैली तब उसे रोकने के लिए एक नवीन सम्प्रदाय उभरकर आया।

प्रश्न 3. गुण्डा वर्ग काशी के किस सम्प्रदाय की ओर संकेत करता है और उसकी मुख्य विशेषता क्या थी?

उत्तर - ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में काशी नगरी में समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्रबल के सामने झुकते देखकर एक नवीन सम्प्रदाय की सृष्टि का लेखक ने उल्लेख किया है, काशी के लोग जिन्हें गुण्डा कहते हैं। उनका धर्म वीरता था, जिसे वे अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध निर्बलों और असहायों की सहायता करने में व्यक्त करते थे। यह वर्ग संघर्षशील था और उनमें आजादी की ललक थी।

प्रश्न 4. निम्नलिखित शब्दों एवं पदों के अर्थ बताइए—

परिषद्, वाद-विवाद, ध्वंस होना, वध, विश्रृंखलता, अंतिम भाग नवागन्तुक, शस्त्र, प्राणों को हथेली पर लेकर घूमना आदि।

उत्तर - परिषद् = सभा, अन्तिम भाग = अन्तिम चरण, वाद-विवाद = तर्क-वितर्क (चर्चा-परिचर्चा), वध = हत्या, ध्वंस होना = नष्ट होना, विश्रृंखलता = उद्दंडता बिखराव, नवागन्तुक = नया आने वाला, शस्त्र = हथियार, प्राणों को हथेली पर लेकर घूमना = जान जोखिम में डालकर घूमना।

(5) अनुच्छेद : विश्लेषण

छोटे से मंच पर बैठी, गंगा की उमड़ती हुई धारा को पन्ना अन्यमनस्क होकर देखने लगी। उस बात को, जो अतीत में एक बार, हाथ से अनजाने में खिसक जाने वाली वस्तु की तरह गुप्त हो गयी हो; सोचने का कोई कारण नहीं। उससे कुछ बनता-बिगड़ता भी नहीं है; परन्तु मानव-स्वभाव हिसाब रखने की प्रथानुसार कभी-कभी कह बैठता है, "कि यदि वह बात हो गयी होती तो? ठीक उसी तरह पन्ना भी राजा बलवंत सिंह द्वारा बलपूर्वक रानी बनायी जाने के पहले की एक संभावना को सोचने लगी थी। सो भी बाबू नन्हकू सिंह का नाम सुन लेने पर। गेंदा मुँहलगी दासी थी। वह पन्ना के साथ उसी दिन से है, जिस दिन से पन्ना बलवंत सिंह की प्रेयसी हुई। राज्य भर का अनुसन्धान उसी के द्वारा मिला करता। और उसे न जाने कितनी जानकारी भी थी। उसने दुलारी का रंग उखाड़ने के लिए कुछ कहना आवश्यक समझा।

(गद्य-प्रबोध, संपादक, डॉ. स्नेह चडढ़ा, डॉ. शशि सरदाना, पृष्ठ-35)

प्रश्न 1. दिए गए अनुच्छेद में मुख्य बात क्या है। स्पष्ट कीजिए।

उत्तर - दिए गए अनुच्छेद में मुख्य बात है – राजमाता पन्ना द्वारा राजा बलवन्त सिंह द्वारा बलपूर्वक रानी बनायी जाने के पहले की एक 'सम्भावना' पर विचार करना। दुलारी के द्वारा नन्हकू सिंह का नाम सुनकर पन्ना को अपने ब्याह की आरम्भिक चर्चा का स्मरण हो आता है। गंगा के किनारे एक छोटे से मंच पर बैठी पन्ना अन्यमनस्क होकर सोचने लगती है। यदि उनका विवाह बाबू नन्हकू सिंह से हो गया होता तो शायद उनका जीवन इतना यातनापूर्ण न होता, वरन् एक सुखी जीवन होता, क्योंकि दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति प्रेमभाव था।

प्रश्न 2. मनुष्य स्वभाव हिसाब रखने की प्रथानुसार कभी-कभी यह कह बैठता है कि "यदि यह बात हो गयी होती तो" इसको प्रथम या सिद्धान्त वाक्य मानकर इस पर एक अनुच्छेद लिखिए?

उत्तर - मनुष्य स्वभाव हिसाब रखने की प्रथानुसार कभी-कभी यह कह बैठता है कि "यदि यह बात हो गयी होती तो?" हाँ, व्यक्ति ऐसा सोचता है। ठीक इसी तरह पन्ना भी राजा बलवन्त सिंह द्वारा जबरदस्ती रानी बनायी जाने के पहले की एक 'सम्भावना' को सोचने लगती है, वह भी दुलारी के मुख से नन्हकू सिंह का नाम सुनकर। गंगा के किनारे एक छोटे से मंच पर बैठी पन्ना, गंगा की उमड़ती हुई धारा को अन्यमनस्क होकर देखने लगी थी और सोचने लगी थी अपने अतीत को और अतीत की उस बात को जो उसके जीवन में उसी तरह गुम हो गई थी, जैसे व्यक्ति के हाथ से कोई वस्तु फिसलकर गुम हो जाती है। उस अतीत की घटना को सोचने का जबकि कोई कारण न था। क्योंकि उस घटना को सोचने से कोई परिणाम निकलने वाला नहीं था, फिर भी स्वभाव के अनुसार वे यह सोचने लगी थीं कि 'अगर यह बात हो गई होती तो' अर्थात् उनका ब्याह बलवन्त सिंह से न होकर नन्हकू सिंह से हो जाता तो, शायद उनको इतनी यातनाओं का सामना न करना पड़ता और जीवन खुशियों से पूर्ण होता।

प्रश्न 3. गेंदा कौन थी? राजमाता पन्ना उसे क्यों पसंद करती थीं?

उत्तर - गेंदा राजमाता पन्ना की एक मुँहलगी दासी थी। वह उनके साथ उसी दिन से रह रही थीं, जिस दिन से राजमाता पन्ना राजा बलवन्त सिंह की प्रेयसी बनी। गेंदा को राजमाता बहुत पसन्द करती थीं। वह उनकी हर बात को मानती थी, उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखती थी और राज्य भर की खबर राजमाता पन्ना को लाकर देती थी। उसे राज्य भर की बातों की जानकारी रहती थी।

प्रश्न 4. दिए गए वाक्यों का पदक्रम ठीक कीजिए।

- (1) वाक्य - ऊपर था वर्ष पचास से।
- (2) वाक्य - उसका चिकना और चमकीला साँप की तरह साँवला रंग था।
- (3) वाक्य - उसकी धज थी, यह चौड़ी धार का गड़ांसा टिका हुआ कंधे पर ऊँचे।
- (4) वाक्य - धर्म वीरता था जिसका।
- (5) वाक्य - निकला जुआखाने से वह वंशी के अभी था।
- (6) वाक्य - कितनी दी हुई धोती से अपना विधवाएँ तन ढकती हैं उनकी।
- (7) वाक्य - जाना खोजने पड़ता है मरने के लिए भी कहीं।

उत्तर - पदक्रम ठीक करना-

- (1) वह पचास वर्ष से ऊपर था।
- (2) उसका साँवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था।
- (3) ऊँचे कंधे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गड़ांसा था, यह थी उसकी धज।
- (4) जिसका धर्म वीरता था।

(6) 'गुण्डा' : लघूत्तरात्मक प्रश्न

- (1) 'गुण्डा' नन्हकू सिंह के व्यक्तित्व का निरूपण कीजिए।
- (2) क्या आप इस बात से सहमत हैं कि नन्हकू सिंह एक 'गुण्डा' था? युक्तियुक्त उत्तर दीजिए।
- (3) काशी नगरी में अराजकता क्यों फैली और उसे रोकने के लिए कौन सा सम्प्रदाय आगे आया? स्पष्ट कीजिए।
- (4) नन्हकू सिंह ने बोधिसिंह के बेटे की बारात को क्यों रोक दिया? स्पष्ट कीजिए।
- (5) दुलारी कौन थी?
- (6) राजमाता पन्ना काशी में क्यों रहने लगीं?
- (7) रेजिडेण्ट मार्कहम द्वारा राजा को दिए गए पत्र में क्या लिखा हुआ था?
- (8) 16 अगस्त, 1781 के काशी की राजनीतिक स्थिति क्या थी।
- (9) राज परिवार के लिए नन्हकू सिंह ने क्या किया।
- (10) संगठित सत्ता का विरोध, संगठित माध्यम से ही हो सकता है - गुण्डा कहानी के माध्यम से इसे स्पष्ट कीजिए?
- (11) 'यह 'गुण्डा' कहानी राष्ट्रीय जागरण के लिए भूमि तैयार करती है - क्या आप इस कथन से सहमत हैं? अगर सहमत हैं तो अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।
- (12) निम्नलिखित शब्दों के अर्थ बताइए - अलभ्य, हेकड़ी, मलिन, असर्वणता अन्यमनस्क, अनुसंधान, सशंक, आहट, रमणी, मन्त्रणा, सचेत, गैरिक, बाना आदि।
- (13) निम्नलिखित वाक्यों का पदक्रम ठीक कीजिए-
 - (i) राजमहल में हुआ ही करता उसका गाना-बजाना।
 - (ii) पहर की शहनाई पहले बजने लगी।
 - (iii) बड़ी बुरी दशा है सरकार। आजकल नगर की।
 - (iv) कुबरा पूरी न हो सकी थी बात अभी वहाँ पहुँचा मौलबी।
 - (v) गुण्डा था एक-एक अंग कटकर काशी का वहीं गिरने लगा।

नोट - ये प्रश्न अभ्यासार्थ दिये गये हैं। पाठ की सहायता से इन्हें तैयार कर लें।

3. पक्षी और दीमक (गजानन माधव मुक्तिबोध)

डॉ. राजहंस कुमार
एसोसिएट प्रोफेसर
महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

3.1 प्रस्तावना

‘पक्षी और दीमक’ स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानियों में से एक प्रतिनिधि कहानी है। इसके रचयिता गजानंद माधव मुक्तिबोध हैं। यह कहानी 1963 में ‘कल्पना’ नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई। मुक्तिबोध जी ने साठ-सत्तर के दशक में भारतीय राजनीति एवं पूँजीवादी सत्तातंत्र के गठजोड़ से उपजे अँधेरे को अपनी रचनाओं में उद्घाटित किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय के मूल्यों में अब बड़ी तेजी से बदलाव हो रहा था। देश का शहरी मध्यम वर्ग भौतिक सुविधाओं के लिए स्वतंत्रता की प्रक्रिया में अर्जित मूल्यों से समझौता कर रहा था। अपने समय के इसी नंगे यथार्थ को उद्घाटित करने का प्रयास मुक्तिबोध ने अपनी इस कहानी में किया है। यह कहानी आज के छत्तीसगढ़ और तब के मध्य प्रदेश राज्य से जुड़ी है। यह कहानी विद्यालय एवं अकादमिक जगत में मौजूद भ्रष्टाचार के इर्द-गिर्द घूमती है। स्वयं लेखक कैसे अपनी छोटी-छोटी सुविधाओं के लिए उस भ्रष्टतंत्र का हिस्सा बन चुका था, इसकी आत्म-स्वीकृति ही इस कहानी की केन्द्रीय वस्तु है।

3.2 अधिगम का उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के पश्चात् विद्यार्थियों को—

- अपने उच्च आदर्शों एवं नैतिक मूल्यों के प्रति सचेत रहने की प्रेरणा प्राप्त होगी।
- भ्रष्टाचार के दीमक एवं अपने समय की विद्रूपता की पहचान एक खास ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्राप्त होगी।
- अपने आदर्शों एवं कोमल मनोभावों से ऊर्जा ग्रहण कर जीवन के कठोर यथार्थ से संघर्ष करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।
- एक खास किस्म की भाषा दक्षता का विकास होगा जिससे उनमें जटिल मनोभावों को अभिव्यक्त करने का भाषाई सामर्थ्य विकसित होगा।
- स्वातंत्र्योत्तर नयी कहानी के पाठ और वाचन की क्षमता विकसित होगी।

3.3 लेखक परिचय

गजानंद माधव मुक्तिबोध आधुनिक साहित्य के शीर्ष रचनाकारों में जाने जाते हैं। सामाजिक संरचनाओं में बदलाव के लिए प्रतिबद्ध मुक्तिबोध मूलतः मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित थे। उन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी की

लगभग सभी विधाओं में अपनी रचनात्मकता को प्रमाणित किया है। कविता, कहानी, निबंध, इतिहास, आलोचना, डायरी, उपन्यास सभी विधाओं में व्यक्ति-सत्य और सामाजिक सरोकारों को तलाशते एवं मध्यवर्गीय अंतर्द्वंद्वों से जूझते उनके स्वर हिन्दी साहित्य को नई ऊँचाईयों तक पहुँचाते हैं।

मुक्तिबोध का जन्म 13 नवम्बर 1917 में ग्वालियर के 'शयोपुर' नामक स्थान पर हुआ। इनकी माँ पार्वतीबाई बुंदेलखंड के समृद्ध किसान परिवार से थी। औपचारिक शिक्षा कम होने के बावजूद उनमें गहरा साहित्यानुराग था। मुक्तिबोध के पिता का नाम माधवराव मुक्तिबोध था। धर्म और दर्शन में रुचि रखनेवाले माधवराव पुलिस की नौकरी में थे। वे उज्जैन की सेंट्रल कोतवाली के कोतवाल थे। गाँधी और तिलक से प्रेरित माधव पुलिस की नौकरी में रहते हुए भी ईमान की प्रतिमूर्ति माने जाते थे। कम लोगों को ये पता है कि वे लाजवाब कथावाचक थे। फुर्सत के क्षणों में उनके पसंदीदा कार्यों में से एक था कथा सुनाना। ऐसे साहित्यानुरागी माँ और कर्तव्यपरायण न्यायनिष्ठ पिता का संस्कार लेकर पैदा होने वाले मुक्तिबोध अपने माता पिता की तीसरी संतान थे। इनके एक छोटे भाई भी थे, शरतचंद्र मुक्तिबोध जो आगे चलकर मराठी साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार हुए। दुर्भाग्यवश मुक्तिबोध से पूर्व की दो संतानों की मृत्यु अल्प उम्र में ही हो गयी थी जिसकी वजह से मुक्तिबोध को माता पिता का वात्सल्य कुछ ज्यादा ही प्राप्त हुआ। जाहिर सी बात है बचपन की सुख सुविधा, शानो शौकत, स्नेह, लाड ने उन्हें 'बाबू साहब' बना दिया। बचपन में उन्हें घर में इसी नाम से पुकारा जाता था। बाबू साहब कब जिद्दी और हठी स्वभाव के हो गए परिवार को पता ही नहीं चला। पिता की पुलिस की नौकरी और जिद्दी स्वभाव ने जल्द ही बालक मुक्तिबोध को औपचारिक शिक्षा दीक्षा में असफलता का स्वाद चखाना प्रारंभ कर दिया। वे सन 1930 में दी गयी मिडिल की परीक्षा में फेल हो गए। मुक्तिबोध ने स्वयं एक जगह स्वीकार किया है कि यह असफलता उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटना थी जिसने किशोर मन पर अमिट छाप छोड़ी और धीरे-धीरे मुक्तिबोध का व्यक्तित्वांतरण प्रारम्भ हो गया। सन् 1938 में उन्होंने बी.ए. की डिग्री हासिल की एवं सन् 1954 में एम.ए. की परीक्षा पास की। इस बीच उन्होंने स्कूलों में अध्यापन का कार्य किया। एम.ए. करने के पश्चात् राजनांदगांव के दिग्विजय कॉलेज में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। मुक्तिबोध जितने बेहतरीन अध्यापक थे उतने ही बेहतरीन छात्र। इसलिए अध्यापन का कार्य करते हुए अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी भाषा साहित्य एवं अपने समकालीन ज्ञान विज्ञान का गहराई से अध्ययन भी किया। उनकी रचना संसार में मौजूद ज्ञान की गहराई और सूचना-व्यवस्था इसी अध्ययन का परिणाम है। आजीवन अपने समय की सामाजिक संरचना में बदलाव लाने को गतिशील रहने वाले मुक्तिबोध को जिन्दगी ने अपने बटुवे से कम समय दिया। मात्र 47 वर्ष की उम्र में 'सिजोफ्रेनिया' और 'पक्षाघात' से संघर्ष करते हुए सितम्बर 1964 को उनका देहांत हो गया। इतने कम जीवन में ही मुक्तिबोध का रचना-संसार एवं उनकी सामाजिक राजनीतिक क्रियाशीलता इतनी विस्तृत हो गयी कि वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक विवादास्पद व चर्चित लेखक के रूप में याद किये जाते हैं।

रचना संसार : मूल रूप से मुक्तिबोध की प्रसिद्धी का कारण उनकी कवितायें हैं। वे स्वतंत्रता पूर्व से ही मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थक रहे हैं। पर मुक्तिबोध की सबसे बड़ी खासियत ये है कि जीवन सत्य को और उसके द्वंद्वों को ईमानदारीपूर्वक उद्घाटित करने में उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता भी पीछे छूट जाती है। इसीलिए उनकी रचनात्मकता छायावाद से लेकर नई कविता तक और शायद अपने समय से भी आगे तक की लम्बी यात्रा है। वे अज्ञेय सम्पादित 'तारसप्तक' के प्रथम कवि हैं तो 'नई कविता' को स्थापित करनेवाले

भी है। वे 'प्रगतिवाद' के केन्द्रीय कवि हैं तो अस्तित्वादी कविताओं के सिरमौर भी। इसलिए उनकी तमाम रचनाएँ साहित्य इतिहास द्वारा सृजित किसी वाद या समय के वर्गीकरण में फिट नहीं बैठती। मुक्तिबोध की अधिकांश रचनाएँ भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन से छपी हैं, पर दुर्भाग्यवश उनके जीते जी उनका एक भी काव्य-संग्रह नहीं छप पाया।

3.3.1 प्रमुख रचनाएँ—

'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (काव्य-संग्रह) 1964, काठ का सपना (कहानी-संग्रह) 1967, नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध (निबंध-संग्रह) 1964, विपात्र (उपन्यास) 1970, एक साहित्यिक की डायरी (निबंध-संग्रह) 1964, मुक्तिबोध रचनावली (सम्पादक-नेमीचन्द्र जैन छह भाग, राजकमल प्रकाशन) 1980।

3.4 कथावस्तु

यह कहानी आधुनिक भाव-बोध से संपृक्त आत्मकथात्मक शैली में लिखी गयी है। मुक्तिबोध ने अपनी अधिकांश कहानियों में इसी शैली को अपनाया है। आत्मकथात्मक शैली में लेखक अपने आप को ही केंद्र में रखकर या नायक बना कर जीवन की किसी घटना, आस-पास के समाज, परिवेश या विचार को पाठकों के समक्ष रखता है। वह अपने अंतर्जगत को बहिर्जगत से जोड़ता है या स्वयं को नायक बना आत्म-विश्लेषण करता है। इस कहानी के केंद्र में भी मुक्तिबोध स्वयं हैं। कथावस्तु का संबंध व्यवस्था में मौजूद भ्रष्टाचार, नायक की इसमें लिप्तता, आत्म-स्वीकृति एवं इस लिप्तता से बाहर निकल आने के संकल्प से है। कहानी का आरम्भ छत्तीसगढ़ के एक विद्यालय के आवासीय परिसर के क्वार्टर से होता है। दोपहर का समय है। बाहर तेज चिलचिलाती गरमी है। घर के अन्दर दो लोग हैं—एक नायक, स्वयं लेखक जो उसी स्कूल में शिक्षक है और दूसरी—उसकी प्रेमिका श्यामला। श्यामला भरी दोपहरी में कमरे के भीतर शांत भाव से उपन्यास पढ़ रही है और लेखक अपने मनोजगत में विचरण कर रहा है। अपने इस कमरे में वह बाहर की ओर कभी-कभी खुलने वाली खिड़की, खिड़की पर मौजूद झाड़ियों और बाहर मौजूद तालाब के बारे में सोच रहा है। उसके मनोजगत में अपनी प्रेमिका का व्यक्तित्व-विश्लेषण, अपने वयस्क प्रेम का औचित्य एवं प्रेमिका की सौन्दर्यानुभूति जैसे भाव चल रहे हैं। बीच में स्मृति में खिड़कियों के रास्ते आये जहरीले साँप और उसके रोमांचक अंत की कहानी भी आ जाती है। ये सारी चर्चा लेखक स्वयं से ही कर रहा है। आरंभिक चर्चा से इतना स्पष्ट हो जाता है कि श्यामला एक पढ़ी-लिखी आधुनिक चेतना से संपन्न एवं दृढ़ व्यक्तित्व की महिला है जबकि नायक 'मैं' अंतर्द्वंद्व से घिरा चिंतनशील, अहिंसक पर दुल-मुल एवं व्यावहारिक निर्णय हेतु प्रेमिका का आश्रय ढूँढ़ता प्रेमी है। कहानी आगे बढ़ती है, श्यामला के आग्रह करने पर दोनों बाहर घूमने निकलते हैं। श्यामला लेखक को शाम में 'विद्यालय के मैदान को समतल करने से सम्बंधित' होने वाले संचालक-मंडल की बैठक में शामिल होने की याद दिलाती है। लेखक उस मंडल का एक सदस्य है। वह उसके आलसीपन को इंगित कर उसे उत्तरदायित्व का एहसास कराती है और यहीं से कहानी का मूल विषय खुलना आरम्भ होता है। लेखक विद्यालय के अनेक संचालक-मंडलों का सदस्य है। उसे पता है कि ऐसे सभी संचालक-मंडलों की नीति जो भी रहे नीयत में भ्रष्टाचार है। वह स्वयं भी उस भ्रष्टाचार में शामिल है। विद्यालय में व्यवस्थित तरीके से विकास के नाम पर सरकारी सचिवालय से खर्च की ग्रांट मंजूर करवाई जाती है। फर्जी तरीके से बगैर खर्च किये ग्रांट का खर्चा कागजों पर दिखा दिया जाता है

और सरकारी सचिवालयों से लेकर स्कूल शिक्षकों तक में आबंटन की बन्दर-बाँट हो जाती है। इस सारी व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने वाला एक व्यक्ति है जिसके इशारों पर लेखक सहित सभी नाचते हैं, बकौल लेखक—

“वह मेरा नेता है, संस्था का सर्वे-सर्वा है। उसकी खयाली तस्वीर देखते ही मुझे अचानक दूसरे नेताओं की और सचिवालय के उस अँधेरे गलियारे की याद आती है, जहाँ मैंने इस नाटे-मोटे भगवे खदर कुर्ते वाले को पहले पहल देखा था।”

लेखक श्यामला के साथ चहल-कदमी करते करते अपनी स्मृतियों में पुनः विचरण कर रहा है। उसकी स्मृतियाँ उसके अन्दर बैठे अपराध-बोध को कुरेद रही हैं। वह अपने अन्दर के इस अपराध बोध से छुटकारा चाहता है। वह अपने भ्रष्ट नेता के चंगुल से बाहर आना चाहता है। बाहर की प्रकृति और लेखक की अंतः प्रकृति में घुटन है। वह अपनी प्रेमिका की नजर में गिरना नहीं चाहता—

“मैं उसकी आँखों से गिरना नहीं चाहता, उसकी नजर में और-और चढ़ना चाहता हूँ। उसका प्रेमी जो हूँ; अपने व्यक्तित्व का सुन्दरतम चित्र उपस्थित करने की लालसा भी तो रहती है।”

इसलिए लेखक अपने अन्दर छिपे भ्रष्टाचार के राज को प्रेमिका के समक्ष खोलने की हिम्मत जुटाता है। वह श्यामला को बड़े रचनात्मक तरीके से भ्रष्टाचार में फंसने की कहानी सुनाता है। उसकी अपनी लालच से भरी छोटी-छोटी भौतिक आकांक्षाओं ने कैसे उसके व्यक्तित्व के सुन्दरतम मूल्यों और सामाजिकता का अपहरण कर लिया, कैसे वह भ्रष्टाचार के ऐसे दुश्चक्र में फंस गया जहाँ से निकलना असंभव है, इस की अभिव्यक्ति के लिए लेखक पंचतंत्र की शैली में एक प्रतीकात्मक कहानी गढ़ता है। तत्काल श्यामला को सुनाई गयी यह कथा उसकी आत्म-स्वीकृति और उसका पश्चात्ताप भी है। लेखक द्वारा श्यामला को सुनाई गयी इसी व्यथा कथा पर मुक्तिबोध की इस कहानी का शीर्षक ‘पक्षी और दीमक’ भी रखा गया है। सुनाई गयी कहानी कुछ इस प्रकार है।

एक नौजवान पक्षी था। वह अपने सम्पूर्ण परिवार के साथ नीले ऊँचे आकाश में स्वतंत्र भाव से उड़ता रहता था। खाते-पीते मौज-मस्ती की उड़ान भरते उस पक्षी के पास दूर-दृष्टि भी थी। आकाश की ऊँचाइयों से एक दिन उसने जमीन पर एक गाड़ी वाले को दीमक बेचते देखा। दीमक बेचने वाला—‘दो दीमकें लो एक पंख दो’ की आवाज लगा रहा था। पक्षी को दीमक पसंद था। उसे यह सौदा आसान लगा। पिता के लाख समझाने पर भी वह नहीं माना। पिता ने समझाया कि दीमक हमारा स्वाभाविक आहार नहीं है, पर नौजवान अपने लालच के वशीभूत था। अपने परिवार समाज को छोड़ वह ऊँचाइयों से जमीन पर उतर आया। अपना एक पंख नोच कर उस गाड़ी वाले को दे डाला और दीमक का स्वाद लेने लगा। इसके बाद उसने बार-बार दीमकों के लिए ऐसा ही किया। धीरे-धीरे उसके पंख कम होने लगे। उसे अहसास भी हुआ पर तब तक दीमक उसकी आदतों में शुमार हो चुका था। पंख इतने कम हो गए कि वह ऊँचाइयों पर उड़ने में अक्षम हो गया। फिर भी वह दीमक के बगैर नहीं रह पाता था। एक दिन उसने जमीन पर उतर खुद ही दीमकों को ढूँढ़ना शुरू किया। धीरे-धीरे उसने खूब दीमक जमा कर लिए। अब उसकी आकांक्षा अपने पंखों को वापस पाने की हुई। उसने गाड़ी वाले को बताया कि उसके पास बहुत सारे दीमक हैं, वह उसके दीमक लेकर पंख लौटा दे। गाड़ी वाला ठठा कर उसकी मूर्खता पर हँसने लगा और उससे कहा कि “बेवकूफ, मैं दीमक के

बदले पंख लेता हूँ, पंख के बदले दीमक नहीं!”³ पक्षी अपने पंखों को खो कर अफसोस करता रह गया। अब वह उड़ भी नहीं सकता था। एक दिन एक काली बिल्ली ने उसे दबोच लिया और उसका अंत हो गया। इस तरह खून के निशान धरती पर छोड़ती उस पक्षी की आकाशी उड़ान खत्म हो गयी।

कहानी सुनाने के बाद नायक की अपेक्षा थी कि शायद उसकी पश्चात्ताप से भरी प्रतीकात्मक आत्म-स्वीकृति के बाद नायिका श्यामला उसे माफ कर दे। वह सोचता है की संभव है वह उस के चरित्र के यथार्थपरक काँटों को किसी ‘जंगली बेल’ की तरह लपेट कर ढँक ले और जीवन उसकी खिड़कियों पर मौजूद बनैले हरियाले सौन्दर्य से भर उठे। सामने कुछ स्थानीय लोग एक विषैले साँप को मार कर डंडे पर लटकाए लिए जा रहे हैं। पर लेखक के सोचे अनुसार श्यामला की प्रतिक्रिया नहीं आती। श्यामला गाँधीवादी आदर्शों में पली-बढ़ी युवती है। वह अमिश्रित सत्य की पक्षधर है। कहानी को अच्छी बताते हुए वह भी नायक को एक प्रतीकात्मक सलाह दे आगे बढ़ जाती है। वह कहती है कि साँप जहाँ भी दिखे, उसे उसी वक्त मार डालना चाहिए। यानी भ्रष्टाचार साँप की तरह है वह कहीं भी, कभी भी घुस सकता है, उसे उसी वक्त इन स्थानीय आदिवासियों की तरह ही दुश्मन भाव से मार डालना चाहिए। अंत में नायक को आत्म बोध होता है और वह अपने द्वंद्व से बाहर निकलता है। आत्मा में छुपी उसकी संकल्प-शक्ति बाहर आती है। वह तय करता है कि जीवन के छोटे-छोटे संघर्षों से डर कर समाज की नजर में अपनी झूठी आभिजात्य हैसियत बनाने के लिए, थोड़ी सी भौतिक सुविधा पाने के लिए अपनी आत्मा को नहीं कुचलेगा। चाहे आर्थिक हैसियत उसकी सामाजिक हैसियत को तात्कालिक रूप से कितना भी निम्न बना दे, सुविधाओं के बगैर जीवन जीना कितना भी मुश्किल हो वह नैतिकता और ईमानदारी के आकाश से नीचे नहीं उतरेगा। कहानी इसी आदर्श संकल्प के साथ समाप्त होती है।

3.4.1 अभ्यास-प्रश्नावली

1. ‘पक्षी और दीमक’ कहानी में पक्षी कौन है?
2. कहानी में दीमक किसका प्रतीक है?
3. इस कहानी में यह कहानी किसने किसे सुनाई?
4. दीमक की लालच ने पक्षी की क्या दुर्गति की?
5. इस कहानी का भूगोल क्या है?

3.5 पक्षी और दीमक कहानी की मूल संवेदना /कथ्य

आधुनिक भावबोध से संचालित यह कहानी ‘नयी कहानी’ कि प्रतिनिधि कहानियों में से एक है। इसकी मूल संवेदना सत्तर के दशक में मौजूद राजनीतिक भ्रष्टाचार के इर्द-गिर्द घूमती है। तत्कालीन भारतीय राजनीति में मौजूद भ्रष्टाचार का दीमक किस तरह हमारी अकादमिक संस्थाओं और पढ़े-लिखे बौद्धिक वर्ग की नैतिक नींव तक संधमारी कर रह था इसी का खुलासा इस कहानी का मूल कथ्य जान पड़ता है। पर इस मूल कथ्य के साथ आये कई और विचार भी हैं जो इस कहानी की मूल संवेदना को पुष्ट करते हैं।

कहानी बार-बार नायक के अंतर्द्वंद्व को पाठकों के सामने रखती है। कहानी में नायक के ‘मैं’ के अंतर्मन का संघर्ष भ्रष्ट होने या नैतिक होने भर का नहीं है। बल्कि वह इससे आगे का है। वह भ्रष्टाचारी, भगवा

खद्दरधारी नेता से और उसके द्वारा रची गयी भ्रष्टाचारी व्यवस्था से बाहर तो आना चाहता है पर भ्रष्टाचार से अर्जित अपनी सुविधाओं की दुनिया से बाहर नहीं निकलना चाहता वह। यथा स्थितिवाद का समर्थक दिखता है। वह मध्य वर्ग की उस मानसिकता से परेशान है जिसके तहत आज भी एक साधारण मध्यवर्गीय इंसान अपनी झूठी-मूठी हैसियत व रोज के छोटे-छोटे लालचों की पूर्ति के लिए अपनी नैतिक स्वतंत्रता को गिरवी रख देता है। रोज किसी सचिवालय के अँधेरे कॉरिडोर में या रेस्तराँ के टेबल पर इस मध्यवर्गीय इंसान की नैतिकता और आत्मगौरव की बोली लगती है। हमारी राजनीतिक व्यवस्था ने ऐसा चक्रव्यूह रच रखा है जिसमें इस आम आदमी के लिए लालच भी है और भय भी। यथार्थ की दुनिया उसके लिए इतनी कठोर है कि उसके समक्ष उसके आदर्श और मूल्य दम तोड़ जाते हैं। इसलिए नैतिक आदर्श और जीवन के कठोर यथार्थ का द्वंद्व भी इस कहानी की मूल संवेदना का एक पक्ष है।

इस कहानी में प्रेम में मौजूद नैतिक उन्नयन की क्षमता को भी अभिव्यक्ति मिली है। प्रेम प्राथमिक स्तर पर तो व्यक्ति को भावुकता की गीली मिट्टी पर ले जाता है पर मूलतः वह उसे नैतिक और मजबूत होना सिखाता है। चमकते मानवीय मूल्यों और सामाजिक उत्तरदायित्व से मुँह चुराने वाले लोग प्रेम जैसे उज्वलतम उपहार नहीं पा सकते। लेखक भी भ्रष्टाचार से सम्बंधित अपनी आत्म-स्वीकृति को सार्वजनिक करने एवं भ्रष्टाचार का विरोध करने की हिम्मत अपनी प्रेमिका श्यामला की नजरों में गिरने से बचने के लिए ही जुटा पाता है। कहानी के अंत में नायक का आदर्श-पक्ष में खड़ा होने को संकल्पबद्ध होना, प्रेम के उस पारस गुण का प्रतीक है जिसके सम्पर्क में आकर हर कुछ स्वर्ण में परिवर्तित हो जाता है, नैतिक हो जाता है।

कहानी में भ्रष्टाचार से निजात पाने के लिए आत्मशक्ति पर जोर दिया गया है। लेखक अन्ततः अपनी आत्मशक्ति से ही अपने तमाम उलझनों से बहर निकलता है। वह पक्षी की मौत नहीं मरने का निर्णय करता है - “नहीं मुझमें अभी बहुत कुछ शेष है, बहुत कुछ। मैं उस पक्षी जैसा नहीं मरूँगा। मैं अभी भी उबर सकता हूँ। रोग अभी असाध्य नहीं हुआ है। ठाठ से रहने के चक्कर से बंधे हुए बुराई के चक्कर तोड़े जा सकते हैं। प्राणशक्ति शेष है, शेष!”

कहानी में भ्रष्टाचार की पहुँच साँप की तरह हर जगह होने की बात भी स्वीकार की गयी है। छोटी-से-छोटी सुविधा के रूप में यह किसी भी समाज के बीच कभी भी घुस सकता है। यहाँ तक कि आपसी नितांत निजी संबंधों की भावुक कमजोरियों के रास्ते भी यह प्रवेश पा सकता है। इसकी सार्वभौमिक उपस्थिति की क्षमता कहानी में समस्या की गंभीरता को विशिष्ट बनाती है। पर एक विशिष्टता कहानी में दिए गए समाधान की भी है। यह समाधान नायिका श्यामला के द्वारा बड़े प्रतीकात्मक ढंग से दिया गया है— “नाग की तो दवा भी निकली है, करेट की तो कोई दवा नहीं है। अच्छा किया, मार डाला। जहाँ साँप देखो, मार डालो; फिर, वह पनियल साँप ही क्यों न हो।”⁵ साँप जहाँ भी दिखे उसे वहीं मार देना चाहिए, श्यामला द्वारा प्रस्तावित यह गंवाई और थोड़ा हिंसक समाधान ही भ्रष्टाचार को समूल नष्ट कर सकता है। प्राथमिक चरण में ही अपनी लालच को पहचानना एवं आत्मनियंत्रण ही इसका मौलिक समाधान है। इस तरह कहानी प्रतीकात्मक रूप में पाठकों के समक्ष यह प्रस्तावित करती है कि भ्रष्टाचार का समाधान सिर्फ राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तन से नहीं हो सकता बल्कि आत्मसाक्षात्कार, आत्मनियंत्रण एवं सकर्मक संकल्प भी उतना ही आवश्यक है। इस अर्थ में यह कहानी और भी प्रासंगिक जान पड़ती है क्योंकि कहानी में उठाई गयी समस्या और उसका समाधान दोनों ही वर्तमान के संदर्भ में भी उतने ही सत्य और उपयोगी हैं।

संक्षेप में कहानी की मूल संवेदना /कथ्य को निम्न बिंदुओं द्वारा समझा जा सकता है—

1. सत्तर के दशक में भारतीय राजनीति और अकादमिक जगत में मौजूद भ्रष्टाचार का उद्घाटन
2. व्यवस्थित भ्रष्टाचार की सामाजिक स्वीकृति का उद्घाटन
3. नैतिक आदर्श और जीवन के कठोर यथार्थ के संघर्ष की अभिव्यक्ति
4. प्रेम में मौजूद नैतिक उन्नयन की क्षमता का उद्घाटन
5. मनुष्य के अंदर छुपी संकल्पशक्ति एवं जिजीविषा के माध्यम से खोई नैतिकता को पुनः प्राप्त करने की प्रक्रिया का उद्घाटन

3.5.1 अभ्यास प्रश्नावली—

- 'पक्षी और दीमक' कहानी का मूल कथ्य क्या है?
- कहानी में लेखक ने किसे कहानी सुनाई है? कहानी सुनाने का उद्देश्य क्या है?
- कहानी में भ्रष्टाचार का समाधान क्या बताया गया है?
- प्रेम में नैतिक उन्नयन की क्षमता होती है। कैसे? कहानी के आधार पर बताएँ।

3.6 कथाशिल्प

किसी भी कहानी की संवेदना का संबंध यदि उसके कथ्य या उसमें मौजूद विचार से होता है तो शिल्प का संबंध उसकी संरचना से होता है। संरचना की विशिष्टता उस कहानी की प्रस्तुति की विशेषता होती है। एक ही कहानी को अलग-अलग कथाकार अलग-अलग तरीके से कह सकता है। मुक्तिबोध से पहले भ्रष्टाचार को केन्द्रीय विचार बनाकर लिखी गयी कुछ मशहूर कहानियों में से मुंशी प्रेमचंद की 'नमक का दारोगा' शीर्षक कहानी भी है। आजादी से पूर्व लिखी गयी इस कहानी में भी भ्रष्टाचार की सामाजिक स्वीकृति, यथार्थ और आदर्श का द्वंद्व और अंत में आदर्श की स्थापना है। दोनों की भाषा औपचारिक रूप से खड़ी बोली हिन्दी है। पर प्रेमचंद की भाषा अलग है और मुक्तिबोध की अलग। प्रेमचंद का अंदाजे बयौं अलग है और मुक्तिबोध का अलग। इसीलिये एक विषय होने के बावजूद दोनों कहानियाँ अलग अलग हैं। अतः मूल रूप से यह शिल्प ही है जो हर कहानी की अद्वितीयता का बोध पाठकों को कराती है।

मुक्तिबोध की कहानी 'पक्षी और दीमक' भी अपनी शिल्पगत विशिष्टता की वजह से अद्वितीयता का बोध कराती है। कहानी के प्रारम्भ से ही स्पष्ट है कि यह कहानी आत्मकथात्मक शिल्प में लिखी गयी है। 'मैं' को नायक बनाकर लेखक अधिकांश समय स्वयं से ही वार्तालाप करता दिखता है। वह निजी अंतर्द्वंद्व को अपने आसपास के परिवेश से जोड़कर धीरे-धीरे इसे देश की सबसे बड़ी समस्या के साथ जोड़ देता है। लेखक के व्यक्तिगत अंतर्द्वंद्व का यह साधारणीकरण कहानी की शैल्पिक क्षमता का द्योतक है।

मुक्तिबोध की रचनात्मकता में अंतर्जगत की खोज अत्यंत महत्त्वपूर्ण टेकनिक है। मानव मनोविज्ञान के गहन अन्तस्तल तक पहुँच उसमें छिपे सत्य को निकाल लाना यह मुक्तिबोध की भाषाई ताकत रही है। इस

कहानी के शिल्प में भी यह विशिष्टता देखने को मिलती है। लगातार 'मैं' के मनोजगत में चल रहे हलचल को अपनी भाषा में उतारकर मध्यवर्गीय जन के साथ जोड़ देने की टेकनीक इस कहानी की महत्वपूर्ण शिल्पगत ताकत है।

इस कहानी की सबसे बड़ी शिल्पगत विशेषता है इसमें मौजूद प्रतीकात्मकता। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं की तरह ही इस कहानी में भी प्रतीकों का भरपूर उपयोग किया है। यहाँ तक कि पूरी की पूरी कहानी ही प्रतीक प्रस्तुति है। कहानी का शीर्षक ही प्रतीकात्मक है। कहानी में मौजूद 'पक्षी' लेखक या नायक का प्रतीक है। नायक जब अपनी प्रेमिका को 'पक्षी और दीमक' की कहानी सुना रहा होता है तो उसमें मौजूद लालची पक्षी स्वयं ही है। पर कहानी की शैल्पिक अद्वितीयता यह है कि भाषा में मौजूद प्रतीकार्थ यहीं नहीं रुकता। कहानी के आगे बढ़ते ही 'पक्षी' उस मध्यवर्ग का प्रतीक बन जाता है जो अपनी लालचपूर्ण कमजोरियों की वजह से भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था का सहयोगी और शिकार बन जाता है। उसके द्वारा नोंच-नोंच कर दिए गये 'पंख' उसकी उस आत्मशक्ति और स्वतंत्रता का प्रतीक हैं जिसके दम पर वह नैतिकता और आदर्श के ऊँचे आकाश में उड़ता है। इसी तरह 'दीमक' भ्रष्ट व्यवस्थातंत्र द्वारा दिखाई गयी वह सुविधा और अतिरिक्त भौतिक उपलब्धि है जिसे देखकर हर मध्यवर्गीय नौजवान आकर्षित हो सकता है। अपनी सामाजिक हैसियत और निजी आकांक्षाओं के लिए वह समझौतापरस्त हो जाता है। पर एक बार यदि उसके पंख यानि उसकी नैतिकता, उसके आदर्श, उसके मूल्य उससे छिन गए तो फिर धन के बदले उसे प्राप्त करना नामुमकिन है। कहानी में बार बार 'साँप' की उपस्थिति और उसके मारे जाने की घटना भी प्रतीकात्मक है। प्रारम्भ में लेखक अपनी स्मृति से बताता है कि कैसे उसके कमरे में साँप घुस आया था जिसे उसने किसी तरह काबू किया और डरते डरते मार पाया। कहानी के अंत के ठीक पहले भी खतरनाक 'करेट' साँप की चर्चा साभिप्राय ही है जिसे कुछ गंवई किस्म के आदिवासी लोग मार कर ले जा रहे हैं। दरअसल साँप भी इस कहानी में उस भ्रष्टाचार का प्रतीक है जो जहाँ भी मौका मिले घुस आता है। समाज के हर वर्ग, हर व्यक्ति की नैतिकता में दरार पाते ही वह अंदर प्रवेश कर जाता है।

कहानी में मौजूद प्रकृति भी प्रतीकात्मक अर्थ रखती है। लेखक की खिड़की के ऊपर मौजूद काँटेदार बेंत की झाड़ियाँ लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है जबकि उसके ऊपर लिपटी बेल उसकी प्रेमिका के व्यक्तित्व को प्रदर्शित करती है। इस प्रकार कहानी का शीर्षक, कहानी में मौजूद घटनाएँ, उसमें उपस्थित प्रकृति, उसके पात्र सभी प्रतीकात्मक हैं। इसलिए यह कहानी प्रतीकात्मक शिल्प का सशक्त उदाहरण है।

'कहानी में कहानी सुनाने की टेकनीक' भी इस कहानी के शिल्प को विशिष्टता प्रदान करती है। दरअसल यह टेकनीक एक ओर तो भारतीय परम्परा में मौजूद कहानी सुनाने की 'पंचतंत्र शैली' से प्रेरित दिखती है तो दूसरी ओर आधुनिक फिल्मी टेकनीक से प्रभावित। कहानी में फिल्म की तरह लगातार एक ही 'लोकेशन' पर अलग अलग कोणों से 'शॉट' लगाकर प्रभाव उत्पन्न करने की कोशिश की गयी है। इस सन्दर्भ में इस कहानी का शिल्प अपने समय से आगे का जान पड़ता है।

कहानी में प्रयुक्त भाषा कथ्य के अनुकूल है। खड़ी बोली हिन्दी में मराठी, छत्तीसगढ़ी बोली एवं अंगरेजी लहजे का प्रयोग भाषा को विशिष्ट बनाता है। मानसिक अंतर्द्वंद्व को अभिव्यक्त करते हुए कई बार वाक्य संरचनाएँ दुरूह होती दिखाई देती हैं और उनमें व्याकरणिक जटिलता का बोध भी होता है पर समझने की जरूरत है कि अंतर्जगत और बहिर्जगत को भाषा में सहजता से जोड़ पाना इतना आसान काम नहीं है। इसके

लिए विशिष्ट भाषा की जरूरत होती है। एक ऐसी भाषा जिसमें शब्द, प्रतीक, वाक्य संरचना, शब्द विराम, मौन, लोकोक्ति, मुहावरे, विविध भाषाई-चिह्न सभी एक तारतम्य में साथ बजें या अपनी अर्थवत्ता प्रदान करें। प्रस्तुत कहानी में मुक्तिबोध ने ऐसी ही सशक्त भाषा को अर्जित किया है। इसलिए भाषाई धरातल पर भी इस कहानी का शिल्प अद्वितीय है।

3.6.1 अभ्यास प्रश्नावली-

- 'पक्षी और दीमक' कहानी की दो शिल्पगत विशेषता बताएँ।
- कहानी में मौजूद प्रमुख प्रतीकों एवं उनके निहितार्थ की सूची बनाएँ।
- इस कहानी की भाषा कई बार दुरूह क्यों हो जाती है?
- कहानी की भाषा में किन बोलियों का प्रभाव दिखाई देता है?

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-3, पक्षी और दीमक, संपादक-पण्डित नेमिचंद्र जैन, पृष्ठ-144
2. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-3, पक्षी और दीमक, संपादक-पण्डित नेमिचंद्र जैन, पृष्ठ-143
3. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-3, पक्षी और दीमक, संपादक-पण्डित नेमिचंद्र जैन, पृष्ठ-150
4. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-3, पक्षी और दीमक, संपादक-पण्डित नेमिचंद्र जैन, पृष्ठ-150
5. मुक्तिबोध रचनावली, भाग-3, पक्षी और दीमक, संपादक-पण्डित नेमिचंद्र जैन, पृष्ठ-151

1. निबंध : ईमानदारी (बालकृष्ण भट्ट)

डॉ. राजकुमारी शर्मा
गेस्ट टीचर,
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

1.1 प्रस्तावना

बालकृष्ण भट्ट भारतेंदु युगीन परम्परा के निबंधकार हैं। भट्ट जी के निबंध अधिकतर समाज और सामाजिक यथार्थ की भाव-भूमि के निकट ही रहे हैं। उनके निबंध निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं पर आधारित होते हैं। छोटे-छोटे विषयों पर लिखे जाने वाले निबंधों में भी कोई-न-कोई जीवन-मूल्य अवश्य आ जाता है, जो हमारे मन-मस्तिष्क को झकझोर देता है। इन्होंने न केवल सामाजिक वरन ऐतिहासिक और पौराणिक आदि विषयों पर निबंध लिखे। वे निबंधों के माध्यम से समाज की विसंगतियों को जन-जीवन के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं। निबंध 'ईमानदारी' में 'रोजगार' और 'व्यापार' की गतिविधियों पर इन्होंने तीखा व्यंग्य किया है। इसमें लेखक ने समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार और विषमता आदि के खिलाफ अपना गहरा रोष प्रकट किया है जो समय और बदलते जीवन के अनुसार तर्कसंगत प्रतीत होता है।

1.2 अधिगम का उद्देश्य

इस निबंध को पढ़कर आप निम्नलिखित कार्य कर सकने में सक्षम हो जाएँगे—

1. बालकृष्ण भट्ट के जीवन-साहित्यिक परिचय पर विचार कर सकेंगे।
2. 'ईमानदारी' निबंध में उल्लेखित मूल्यों को जान सकेंगे।
3. 'ईमानदारी' निबंध के माध्यम से मूल संवेदना पर विचार कर सकेंगे।
4. 'ईमानदारी' निबंध को पढ़कर आप ईमानदारी के महत्त्व को जान सकेंगे।

1.3 लेखक परिचय

बालकृष्ण भट्ट आधुनिक हिंदी निबंधकारों में एक सशक्त हस्ताक्षर माने जाते हैं। उन्होंने निबंध, नाटक, उपन्यास और पत्रकारिता आदि अनेकानेक विधाओं में लिखकर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। पंडित बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग के आहियापुर में 23 जून 1844 ई. में हुआ। इनकी आरंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। भट्ट की स्मरण शक्ति तीव्र होने के कारण बारह वर्ष की अल्प आयु में ही संस्कृत के 'अमरकोश' तथा 'लघु सिद्धांत कौमुदी' कंठस्थ कर ली थी। बाद में इन्होंने नियमित रूप से मिशनरी स्कूल में प्रवेश पाकर आगे की शिक्षा प्राप्त की। बालकृष्ण भट्ट ने अपनी प्रतिभा के बल पर अंग्रेज़ छात्रों से एक

कदम आगे ही रहें। इनके शिक्षा-व्यवहार से प्रभावित होकर वही के अंग्रेज़ पादरी बालकृष्ण को ईसाई बनाने के लिए निरंतर दबाव देते रहे। इन्होंने ईसाई धर्म के प्रति अपनी अनिच्छा को व्यक्त करते हुए वहाँ से त्याग-पत्र दे दिया। बालकृष्ण भट्ट ने इलाहाबाद में भारत भवन पुस्तकालय की स्थापना की और 1 सितंबर 1877 ई. को 'हिंदी प्रदीप' के संपादक के रूप में कार्य किया।

बालकृष्ण भट्ट एक साधारण परिवार में उत्पन्न हुए। पिता बेनी प्रसाद भट्ट इन्हें बचपन में ही छोड़कर चले गए थे। माता गंगा देवी ने अपने पीहर में रहकर ही दोनों भाइयों का भरण-पोषण किया। भट्ट जी को कोई भी व्यवसाय बाँध नहीं सका और न ही नौकरी में ज्यादा दिन कहीं भी टिक पाये। सन् 1888 में प्रयाग में 'कायस्थ पाठशाला कॉलेज' में संस्कृत के प्रोफेसर के रूप में नौकरी की, जो सन् 1908 तक चली। बालकृष्ण भट्ट ने स्वाधीनता आंदोलन में भागीदारी लेने के लिए अपनी इच्छा से नौकरी का त्याग किया। नौकरी छूटने के कारण पारिवारिक दृष्टि से कई समस्याएँ उत्पन्न होने लगी। ऐसी स्थिति में 'हिंदी प्रदीप' के प्रकाशन पर खतरा लगातार मंडराने लगा। इस समस्या की ओर संकेत करते हुए उनके पुत्र डॉ. लक्ष्मीकांत भट्ट ने कहा है कि "जिस हिंदी की बदौलत आज लोगों की कोठियाँ खड़ी हैं, प्रेस चल रहे हैं, पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं और कार-बार चल रहा है, वहाँ एक हिंदी प्रेमी बच्चों का पेट काटकर सारी तनख्वाह प्रेस में दे आता है-यह बात जान लेना चाहिए कि निःस्वार्थ सेवा ऐसी हुआ करती है।"

रचनाएँ

बालकृष्ण भट्ट बहुमुखी प्रतिभा संपन्न निबंधकार माने जाते हैं। उन्होंने निबंध, नाटक और उपन्यास आदि की रचना करने के साथ-साथ संपादन कार्य भी किया। इनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

निबंध संग्रह- 'साहित्य-सरोज', 'साहित्य सुमन', 'भट्ट निबंधावली भाग एक और दो'।

उपन्यास- 'नूतन बर्हचारी', 'सौ अजान एक सुजान', 'रहस्यकथा'।

नाटक- 'बालविवाह', 'दमयंती स्वयंवर', 'वेणी संहार', 'पद्मावती', 'रेल का विकट खेल', 'चन्द्रसेन', 'जैसा काव्य वैसा परिणाम', 'नई रोशनी का विष', 'आचार विड़बन'।

बालकृष्ण भट्ट निबंध कला के प्रवर्तक के रूप में जाने जाते हैं क्योंकि इन्होंने ही सर्वप्रथम निबंध मौलिक रूप में लिखना आरंभ किया था। उन्होंने एक हजार के लगभग निबंध लिखे जिसमें सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, मनोविज्ञान, भक्ति, ज्ञान, गृहस्थ जीवन, शिक्षा और वाणिज्य आदि विषयों पर भी निबंध लिखे। इन निबंधों में लेखक ने सहज और स्वाभाविक भाषा में विषय का प्रतिपादन बड़ी निपुणता से किया। भट्ट जी के अपने निबंधों में शाश्वत मूल्यों के अंकन के आधार पर सबसे महत्वपूर्ण बात यह उभर कर आई है कि भारतीय समाज में आर्थिक, राजनीतिक और पारिवारिक सभी क्षेत्रों में व्यक्तिवादिता का प्रभाव देखने को मिलता है। इनके सामान्य निबंधों में भी गहरा अध्ययन देखने को मिलता है। भट्ट जी की भाषा विषय के अनुसार रही है और वह अपने युग के सशक्त और प्रभावशाली निबंधकार रहे हैं।

1.3.1 प्रश्नों की स्वयं जाँच कीजिए-

1. कोष्टक में दिए गए शब्दों को चुनकर सही/गलत पर निशान लगाइए-

क. बालकृष्ण भट्ट का जन्म कहाँ हुआ था? [अहियापुर / बिलासपुर]

ख. भट्ट जी की शिक्षा किस भाषा में हुई थी? [उर्दू / संस्कृत]

ग. 'हिंदी प्रदीप' की स्थापना कब हुई? [1/9/ 1877 या 5/9/1877]

2. सही शब्द चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

क. बालकृष्ण भट्ट विचारों के निबंधकार थे। [सामाजिक/मनोवैज्ञानिक]

ख. लेखक ने की आयु में अमरकोश और लघु सिद्धांत कौमदी कंठस्थ कर ली थी। [नौ वर्ष / बारह वर्ष]

1.4 निबंध का सार

'ईमानदारी' एक भाव-विचार प्रधान निबंध है जिसमें लेखक ने अपने विचारों के तहत लोगों को सत्य के मार्ग पर चलने का परामर्श दिया है। 'ईमानदारी' एक गुणवत्ता है मन की। व्यक्ति अपने जीवन में कार्य के लिए समर्पित एवं ईमानदार होता है। इससे व्यक्ति को मानसिक सुख की अनुभूति प्राप्त होती है। वह व्यवसाय एवं रोजगार में जीवन के हरेक पहलू में अपना काम ईमानदारी के साथ करना चाहता है जिससे समाज तथा परिवार में उसे मान-सम्मान प्राप्त हो सके। 'ईमानदारी' इंसान की सकारात्मक मानसिकता है जिसके कारण वह अपने कर्तव्य को पूर्ण निष्ठा और सच्चाई से करता है। लेखक ने कहावत के माध्यम से कहा है कि "ईमानदारी रोजगारियों में ही पाई जाती है" अर्थात् 'नौकरी करना अथवा सेवा प्रदान' करने वाले व्यक्ति के लिए ईमानदार होना अति आवश्यक होता है। इसी से उसकी सफलता का प्रमाणिक रूप प्राप्त होता है। रोजगार में ईमानदारी का अर्थ—“अपने कार्य स्थल पर समय पर पहुँचकर” अपने काज को पूर्ण निष्ठा एवं लगन के साथ करना। लेखक ने कुछ ऐसे लोगों पर भी व्यंग्य कसा है, जो अपना काम पूरी ईमानदारी से नहीं करते तथा कार्य करने में असमर्थता का भाव एवं समय बर्बाद करते हैं। उन्हें कभी भी ईमानदार नहीं कहा जा सकता। समाज में कुछ ऐसे लोगों की ओर भी लेखक ने संकेत किया है जिन्हें कुछ नहीं आता और जो सिफारिश के बल पर अपना कार्य किए हुए है और भौतिक सुख-सुविधा का लाभ उठाकर अपने जीवन का क्रम व्यवस्थित किए हुए हैं। लेखक ने निबंध में ईमानदारी से जुड़े पहलुओं को भी दिखाया है और माना है कि समाज में कुछ ऐसे अपवाद भी हैं जो दूसरों की गलतियों को भी नजरअंदाज कर उन्हें आगे बढ़ाते हैं। भट्ट जी ने कहा है कि ईमानदारी का भाव जिन व्यक्तियों के मन में होता है वह जीवन में हर कदम में सफल होते हैं। व्यापार एवं रोजगार उन्हीं के बल और विश्वास पर आगे बढ़ रहा है। समाज में कुछ ऐसे भी महकमे हैं जहाँ भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता में लोग पूर्ण रूप से लिप्त रहते हैं। व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति करते समय कर्तव्यों का अहित करने से भी नहीं हिचकिचाते। ऐसे व्यक्ति समाज और परिवार दोनों के लिए घातक होते हैं। लेखक इस भ्रष्टाचार और नैतिकता के विरुद्ध अपनी आत्मवेदना को व्यक्त कर रहे हैं। अनैतिकता और अमानवीयता के तरीकों का नाम लेकर अपना व्यापार और रोजगार बनाए जा रहे हैं। जब उनसे कोई इस धन और विकास के विषय में पूछता है तो वह अपनी अभिव्यक्ति ईमानदारी, गतिशील एवं आत्मनिर्भर होकर सिद्ध करते हैं अर्थात् इस धन, मान-सम्मान को कमाने के लिए उन्होंने स्वयं पर विश्वास कर कड़ा परिश्रम किया है। निबंध में संबंधों के प्रति भी दिन-प्रतिदिन कड़वाहट उत्पन्न होती जा रही है जिससे समाज में भाई-भाई और बाप-बेटे के रिश्तों में छल-कपट का भाव बढ़ता जा रहा है। स्वार्थ में व्यक्ति अँधा होकर अपनी मान-मर्यादा को भी भूलता जा रहा है। बालकृष्ण भट्ट ने निबंध

‘ईमानदारी’ में कहा है कि भारतीय संस्कृति में व्यापार में कमी का एक महत्वपूर्ण कारण कानून को भी माना है। कानून की नीतियों में आये दिन फेरबदल कर उसमें बदलाव लाया जाता है। जिससे व्यापार के नियमों में भी परिवर्तन आने से उनका क्रम ही बदल जाता है। समाज में ऐसी कितनी ही नौकरियाँ हैं जो शिक्षित-अशिक्षित व्यक्ति को योग्यता के आधार पर दी जा रही हैं। एक पढ़ा-लिखा युवक अपनी बौद्धिकता के आधार पर कार्य करने में सक्षम है। उसे कई बार ऐसे रोजगार का चयन करना पड़ता है जो उसके अनुकूल नहीं है। ऐसी नौकरी करने पर समाज में उसे वह मान-सम्मान नहीं मिलता जो मिलना चाहिए। झूठ, बेईमानी और चोरी करना किसी भी काम में कभी-भी हितकर नहीं समझा जाता। इसमें व्यक्ति को शुरू में तो लाभ मिलेगा लेकिन बाद में केवल निराशा ही मिलेगी। स्वार्थ हेतु किए गए काम में केवल व्यक्ति को दुःख, भर्त्सना और विरोध आदि ही झेलना पड़ता है। ईमानदारी से किया गया कार्य व्यक्ति को ऊँचाइयों तक पहुँचा देता है। प्रसिद्ध धर्मशास्त्री मनु महाराज ने कहा है कि ईमानदारी से किया गया कार्य छोटा या बड़ा नहीं होता अपितु उसमें किसी का अहित नहीं होना चाहिए। ऐसा काम हर दृष्टि से पवित्र और स्वच्छ होता है, जिसमें ईमानदारी और नैतिकता को बढ़ावा मिलता है। इससे लोगों के मन में शांति, परोपकार और सुख की भावनाओं का विकास होता है। समयानुसार व्यक्ति यदि बेईमानी का निर्वाह नहीं करता है तो इससे केवल अपना ही नहीं अपितु समाज एवं लोगों का भी भला करता है।

लेखक का मानना है कि व्यक्ति यदि ईमानदारी के मार्ग पर चलता है तो उसे उस राह में आत्म सुख की प्राप्ति होती है। सत्य के पथ पर चलना मुश्किल होता है लेकिन मन को शुद्धता और स्पष्टता की सुखद अनुभूति मिलती है। स्थिति-परिस्थितियों और घटनाओं के बीच फंसा व्यक्ति यह तय नहीं कर पाता कि वह सही दिशा की ओर जा रहा है या नहीं। ईमानदारी का स्वभाव स्थिर नहीं है। व्यक्ति द्वारा स्थिरता प्रदान की जाती है। जो व्यक्ति अपने कार्य में एकनिष्ठ होता है वह समस्याओं से घबराता नहीं, समाधान कर अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है। लेकिन बेईमानी से प्राप्त किया गया कार्य या धन भी उसे मिट्टी के समान ही लगेगा। लेखक ने विदेशी संस्कृति में रचे-बसे लोगों के विषय में कहा है कि उन्होंने अपने जीवन की शुरुआत में ‘मोची’ और ‘चमार’ का कार्य किया। अपनी कड़ी मेहनत के द्वारा ईमानदार रहकर ऊँचे पद को हासिल किया। लेखक ने निबंध में ऐसे कई उदाहरण दिए हैं- हुल्कर, संधिया और गायकवाड़ जिन्होंने अपना पूर्ण जीवन ईमानदारी से जिया। आज के समय में उनके उत्तराधिकारी हिंदुस्तान पर शासन कर रहे हैं। प्रतिष्ठित राजा-महाराजा से भी बढ़कर उनका मान-सम्मान है। परिश्रम, ईमानदारी और उत्साह आदि गुणों का होना अति आवश्यक माना गया है। लेखक ने कुछ ऐसे व्यक्तियों का भी जिक्र किया जो केवल अपनी बदकिस्मती को ही रोते-कोसते दिखाई देते हैं। वे परिश्रम करने के पक्ष में नहीं अपितु लापरवाही से अपना जीवन कष्टमय बना लेते हैं। वे कठिन मेहनत से घबरा कर संयम खो बैठते हैं जिसके कारण अपना कर्म नहीं करते और कार्य के प्रति शिथिल पड़ जाते हैं। लेखक ने इस बात को समझाने के लिए अंग्रेजी कहावत पर जोर दिया है और कहा है कि यहाँ पर उन व्यक्तियों पर भी व्यंग्य कसा है जो सारी योग्यताएँ होते हुए भी अपने कार्य के प्रति निष्ठावान और ईमानदार नहीं होते। वे अपनी झूठी शान-शौकत और मिथ्या के भ्रम में अपना कर्म करने से लगातार पीछे हटते रहते हैं। ऐसे समय में अपने कार्य के प्रति सजग, परिश्रम और लग्न से करने वाला ईमानदार व्यक्ति अधिक सशक्तपूर्ण होता है। व्यक्ति फिर चाहे कितना भी कम पढ़ा-लिखा, निर्बल एवं छोटा हो। वह अपने किसी भी कार्य में छोटी से छोटी बातों का ध्यान रखेगा। जब

व्यक्ति परिश्रम करने से नहीं घबराता तब वह हर स्थिति-परिस्थिति में अपना कार्य कर निश्चित रूप से सफल होगा और उसका विकास भी होगा।

लेखक का मानना है कि नौकरी पेशा व्यक्ति जीवन में प्रत्येक कार्य को क्रमबद्धता से करने का प्रयास करता है। वे अपनी जरूरत की चीजों को संभाल के रखते हैं। जो व्यक्ति अपना काम व्यवस्थित रूप से करता है। वह जीवन में कभी रुकेगा-घबराएगा नहीं। अपना काम कुछ ही अवधि में समाप्त कर उन्नति की ओर अग्रसर होगा। व्यवसाय में व्यक्ति इन बातों का ध्यान रखेगा तो सफल होगा। व्यापार में ईमानदारी का भाव नहीं होगा तो व्यक्ति झूठ और मिथ्या में ही घिरा रहने के कारण भौतिक सुख तो प्राप्त कर लेगा पर जीवन में वास्तविक सुख से परे होगा। कहा जाता है कि बुराई का अंत बुराई से ही होता है। ईमानदारी से की गई कमाई में मुश्किलें तो हैं पर सुख और शांति भी बहुत है। बेईमानी से धन तो बहुत एकत्र कर लेंगे पर उसके परिणाम अच्छे नहीं होंगे अर्थात् कर्मों के मायाजाल से कोई नहीं छुट पाया है जैसे बीज बोया है वैसा ही उसका फल भी भोगना होगा। लेखक ने कहा है कि पूर्वजों ने अपने सत कर्मों से राजाओं की तरह जीवन जिया पर लडकों ने महल को झोपडी बनाने में क्षण नहीं लगाया। आधुनिक काल में समाज में ऐसे लोग कम ही हैं जो देवता समान पूज्य हो। ऐसे देवताओं को मैं शत-शत प्रणाम करता हूँ।

1.4.1 प्रश्नों की स्वयं जाँच कीजिए-

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक पंक्ति में दीजिए-

- निबंध में लेखक ने किस भावाभिव्यक्ति को व्यक्त किया है?
- बालकृष्ण भट्ट ने निबंध 'ईमानदारी' में जीवन के किन पहलुओं को दर्शाया है?
- 'ईमानदारी' निबंध में किन अवगुणों का जिक्र किया है?

2. कोष्ठक में दिए गए शब्दों में रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए-

- निबंध 'ईमानदारी' गुणवत्ता है। [मन की / तन की]
- 'ईमानदारी' निबंध में लेखक ने की ओर संकेत दिया है। [भ्रष्टाचार / आत्मनिर्भरता]

1.5 निबंध का प्रतिपाद्य

लेखक बालकृष्ण भट्ट ने 'ईमानदारी' निबंध में अनेक विचार-बिंदु प्रस्तुत किए हैं। उनके निबंधों में एक आशा का भाव भी सर्वथा विद्यमान रहता है। प्रत्येक बदलाव के साथ उनकी भावनाएँ तथा संवेदनाएँ उनके निबंधों को बहुत प्रभावित करती हैं। नियमों के अनुसार किया गया कार्य ही ईमानदारी कहलाता है। भट्टजी ने 'ईमानदारी' निबंध में 'ईमानदारी' के विभिन्न रूपों की चर्चा है जो इस प्रकार हैं-

- ईमानदारी का महत्त्व-** 'ईमानदारी' निबंध में लेखक ने ईमानदारी के महत्त्व को अनेक अर्थों में बताने का प्रयास किया है। उनके अनुसार एक ईमानदार व्यक्ति में सच्चाई, अनुशासन, दया, शांति और अखंडता आदि अच्छे गुणों का होना अति आवश्यक होता है। 'ईमानदारी' निबंध में लेखक ने समय-समय पर विद्वानों द्वारा कही गई कहावतों और मुहावरों में ईमानदारी को सबसे अच्छी नीति माना है अर्थात् व्यक्ति को अपने कार्य में सफल होने के लिए ईमानदारी का गुण होना अत्यंत

आवश्यक है। ईमानदारी से अर्थ—‘तन-मन, वचन और कर्म की शुद्धता’ से है। व्यक्ति में यदि यह गुण नहीं होगा तो कार्य में सफलता और जीवन में सम्मान नहीं मिलेगा। व्यक्ति अपने भीतर बदलाव करने में सक्षम है और यही परिवर्तन लाकर वह ईमानदारी के मार्ग में आगे बढ़ सकता है। नैतिक व्यवहार के कारण सभी कार्य सरलता और सहजता से बन जाते हैं। जीवन में विभिन्न समस्याएँ तथा प्रतिकूल परिस्थितियाँ प्रायः सभी के साथ हैं, किंतु ईमानदार व्यक्ति इनमें कभी-भी घबराता नहीं है। ऐसा व्यक्ति जीवन में बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान करने की क्षमता रखता है। धैर्य और सहनशक्ति के द्वारा अपना तथा दूसरों का भला करने में अपना संपूर्ण जीवन लगा देता है। यही ईमानदार व्यक्ति की पहचान है।

2. **व्यवहार में नैतिकता का भाव**— समाज और नैतिक व्यवहार एक-दूसरे के पूरक हैं। नैतिक व्यवहार जन्मजात होता है। समाज के बीच व्यक्ति का औपचारिक-अनौपचारिक ढंग से व्यवहार करना नैतिक व्यवहार के अंतर्गत है। ‘ईमानदारी’ निबंध में लेखक ने कहा है कि नैतिक व्यवहार को दो रूपों में चित्रित किया जा सकता है। बाहरी और आंतरिक नैतिकता के आधार पर। बाहरी नैतिकता—जो समाज संस्कृति, धर्म और क्षेत्र के आधार पर अपने भावों को अभिव्यक्त करती है तथा दूसरी आंतरिक—जो व्यक्ति के अनुभव, अंतर्दृष्टि और विवेक के द्वारा अभिव्यक्त होती है। ऐसे में व्यक्ति का व्यवहार अपने स्वार्थ के अनुसार बढ़ता ही जा रहा है। निबंध में लेखक ने कहा है कि व्यवहार में कमी होने के कारण रिश्तों में पवित्रता और शुद्धता निरंतर समाप्त होती जा रही है। भौतिकता और अनैतिकता को निरंतर बढ़ावा मिल रहा है जिससे व्यक्ति में व्यवहार और नैतिकता का पतन होता जा रहा है। मन की शुद्धता और परिश्रम की नींव डालने से प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज अपने कार्य का निर्वहन सतर्कता से कर सकता है। समाज में प्रचलित नैतिक व्यवहार की प्रकृति निराकार होती है जिसका संबंध व्यक्ति की आंतरिक शक्ति से होता है। व्यक्ति को वही व्यवहार करना चाहिए जो समाज द्वारा निर्धारित किए गए मूल्यों पर आधारित होता है।
3. **परिश्रम**— परिश्रम एक जन्मजात गुण है। किसी भी कार्य को ईमानदारी से किया जाए तो कभी भी बेकार नहीं जाता। व्यक्ति के मन में दृढ़ इच्छाशक्ति और परिश्रम के साथ कार्य में सफलता प्राप्त की जा सकती है। व्यक्ति का जीवन समस्याओं से घिरा हुआ है। उसका समाधान परिश्रम रूपी हथियार से ही दूर किया जा सकता है। लेखक ने निबंध में ऐसे बहुत से कथन प्रस्तुत किए हैं—हुल्कर, सेंधिया और गायकवाड़ ने अपना कार्य पूर्ण परिश्रम से कर समाज में अपनी पहचान बनाई। परिश्रम तथा ईमानदारी के बिना व्यक्ति अपनी नौकरी और व्यवसाय में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। लेखक ने माना है कि जो व्यक्ति कठिन परिश्रम करने से घबराता नहीं है। वह जीवन के किसी मार्ग में रुकता नहीं बे-टोक आगे बढ़ता चला जाता है और जो परिश्रम करने से डर गया। वह जीवन में कहीं भी नहीं पहुँच पाता अर्थात् सोने के महल को भी मिट्टी में मिला देगा।
4. **क्रमबद्धता**— लेखक ने निबंध में क्रमबद्धता का आधार प्रस्तुत किया है। जीवन में बिना नियमों और सिद्धांतों के नहीं जिया जा सकता। भट्ट जी ने निबंध में कई ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जिसमें व्यक्ति को अपने कार्य में क्रमबद्धता का आधार होना अति आवश्यक है। जब हम नियम के अनुरूप अपने आपको नियंत्रित करते हैं तो हम आलस्य या अन्य प्रवृत्तियों के प्रभाव में नहीं आते, जो हमें

अपने जीवन के उद्देश्यों को पूरा करने से रोकती है। क्रमबद्धता व्यवहार के अनुरूप व्यक्ति अपने कार्यों में संलग्न होता है—ज्ञानवर्धक और आत्मानुशासन के द्वारा सकारात्मक विचारों को हासिल करता है।

1.6 निबंध से प्रेरणा

‘ईमानदारी’ निबंध में लेखक ने व्यक्ति के कार्य में निष्ठा, उत्साह, परिश्रम और क्रमबद्धता का आधार प्रस्तुत किया है। इस निबंध में भट्ट जी के द्वारा मुहावरों तथा लोकोक्तियों के माध्यम से ईमानदारी के महत्त्व को समझाया गया है साथ ही मानवीय मूल्यों के आधार पर व्यक्ति को जीवन जीने की प्रेरणा भी दी है।

1.7 निबंध-शैली

बालकृष्ण भट्ट द्वारा रचित निबंध ‘ईमानदारी’ भाव, मूल्य और विचारात्मक निबंध है। विचारात्मक तथा मूल्यात्मक निबंध में एक विशेष प्रकार की भावात्मकता सभी स्थलों में देखने को मिलती है। ‘ईमानदारी’ निबंध में लेखक ने विषय की गंभीर एवं विस्तृत विवेचना की है जो अत्यंत प्रभावशाली है। बालकृष्ण भट्ट ने निबंध में सांस्कृतिक और मानवीय भावबोध को किस प्रकार अभिव्यक्त किया है। उनके निबंध के विषय का विवेचन करने और अपने मन के द्वारा उसकी पुष्टि करना निबंध की कला है। उनके निबंध की एक अलग ही विशेषता है जिसका परिचय उन्होंने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

1. **वर्णनात्मक शैली**— भट्ट जी के निबंधों में वर्णनात्मक शैली का भाव है। ‘ईमानदारी’ निबंध में कल्पना-तत्त्व की प्रधानता है जिसके माध्यम से लेखक ने जीता-जागता चित्र प्रस्तुत किया है। लेखक वर्णन करता है कि “विलायत में बहुत से ऐसे लोग हो गए और भी मौजूद हैं जिन्होंने शुरू में मोची और चमार की नौकरी तथा पेशा इख्तियार कर गाढ़ी मेहनत के द्वारा ईमानदार रह जो कुछ लाभ उन्हें हुआ उसी में बराबर उद्यम करते हुए अंत में ऊँचे-ऊँचे पद पर पहुँचे।”
2. **भावात्मक शैली**— इस प्रकार के निबंधों में भावों की प्रधानता होती है, उसके पश्चात् कल्पना के साथ और विचार-तत्त्व का स्थान होता है। ‘ईमानदारी’ में लेखक ने उदाहरण देते हुए कहा है—“मनुष्य को अपने काम में कृतकार्य होने के लिए कौन-कौन से उत्तम गुण प्राप्त करने चाहिए तो व्यवहार में सफाई या ईमानदारी पहली बात होगी। बिना इसके रोजगारी अपने कारोबार में किसी तरह प्रतिष्ठा या सरसब्जी नहीं हासिल कर सकता।”
3. **विचारात्मक शैली**— बालकृष्ण भट्ट ने निबंध ईमानदारी में विचारात्मक शैली का प्रयोग किया है। इस शैली का प्रयोग लेखक ने इस प्रकार किया है— “नीचे से नीचा काम ईमानदारी से किया जाए कभी बुरा नहीं है।”
4. **सूत्र शैली**— लेखक सूत्र शैली में अपने विचार प्रस्तुत करता है। सूत्र शैली का उदाहरण देते हुए कहा है कि “सर्वेषामेवशैचानामर्थशोचं परं स्मृतम।”
5. **व्यंग्यात्मक शैली**— बालकृष्ण भट्ट ने ‘ईमानदारी’ में व्यंग्य शैली का प्रयोग किया है जिससे उनके विनोदी स्वभाव का परिचय मिलता है। विषयानुरूप व्यंग्य कही मार्मिक और तीक्ष्ण हो गया है। इसका प्रयोग उर्दू भाषा के शब्दों में ज्यादा देखने को मिलता है।

6. **भाषा-शैली**— बालकृष्ण भट्ट के निबंध 'ईमानदारी' में भाषा का एक अलग रूप देखने को मिलता है। इन्होंने भाषा की दो कोटियों का प्रयोग किया है— प्रथम 'तत्सम' भाषा से युक्त तथा दूसरी संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अपने निबंधों में किया है। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी आकर्षक रूप में देखने को मिलता है। काव्यात्मकता भाषा का आकर्षण अलंकारिकता ही है जो उनके भावात्मक निबंधों में देखने को मिलता है। भट्ट जी ने अपने निबंध 'ईमानदारी' में नियमों और सिद्धांतों के आधार पर पृष्ठभूमि तैयार की है। निबंध में भाव और विचार मिलकर भाषा को प्रभावशाली बनाते हैं। उनकी शैली में विविधता होने के कारण संवाद का रूप धारण करते हुए प्रतीत होते हैं।

1.7.1 प्रश्नों की स्वयं जाँच कीजिए—

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक वाक्य में दीजिए—

क. 'ईमानदारी' निबंध में लेखक ने किस मूल्य की प्रधानता पर जोर दिया है?

ख. लेखक ने निबंध में किस भाषा-शैली का प्रयोग किया है?

2. सही / गलत पर निशान लगाइए—

क. बालकृष्ण भट्ट ने निबंध में किस प्रकार की शैली का प्रयोग किया है। [वर्णनात्मक / भावात्मक शैली]

ख. 'ईमानदारी' निबंध में लेखक ने किस प्रकार की पृष्ठभूमि तैयार की है। [सिद्धांतों पर आधारित / व्यावहारिकता पर आधारित]

1.8 व्याख्या-भाग

1. "ईमानदारी रोजगारियों ही में पाई जाती है। जो अपनी बात बनाये है वह बिना कुछ लिखे-पढ़े हजारों लाखों जब चाहे तब केवल बात पर ले सकता है और लोग बिना किसी मीनमेख के खुशी से उसे दे देते हैं। सच पूछो तो यहाँ का खनिज अब तक इसी ईमानदारी के भरोसे चलता रहा। ज्यों-ज्यों सरकारी कानून में बारीकी और हिंदी की चिंदी निकलती गई विश्वास उठता गया, लेन-देन में जाल और फेरब के फरोग होता गया। यहाँ तक कि भाई-भाई और बाप-बेटे शुद्ध नहीं हैं।"

शब्दार्थ— रोजगारियों—व्यवसायी या व्यापारी। मीनमेख—असमंजस या सोच-विचार। खनिज—पहाड़ या जमीन से निकले बहुमूल्य पदार्थ। जाल—धोखा या छल। फेरब—चालाकी या ठगी। फरोग—रोशनी।

प्रसंग— प्रस्तुत अवतरण 'ईमानदारी' निबंध से लिया गया है। इस निबंध में लेखक बालकृष्ण भट्ट ने ईमानदारी की राह पर चलने की प्रेरणा दी है क्योंकि इसी से व्यक्ति, समाज और देश का विकास हो सकता है।

व्याख्या— लेखक का मानना है कि व्यापार ईमानदारी से ही चलता है। लेकिन समाज में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो अपने काम बनाने के लिए केवल बातों की ही खाते हैं। अर्थात् जो सिफारिश के बल पर हजारों-लाखों रुपये कमा रहे हैं। ऐसे लोगों का साथ लोग बिना किसी सोच-विचार के दे भी रहे हैं। लेकिन

समाज में कुछ ऐसे लोगों की भी चर्चा की है जो ईमानदारी से अपने कार्य कर रहे हैं। किस भी प्रकार का व्यापार विश्वास के सहारे ही आगे बढ़ता है जहाँ पर लोग पढ़े-लिखे न होने पर भी अपना कारोबार ईमानदारी से आगे बढ़ाते हैं बिना किसी अवरोध के। लेकिन जब से सरकारी महकमे का इनमें हस्तक्षेप हुआ है तब से भ्रष्टाचार और अनैतिकता ने पैर पसार लिए हैं। कारोबार में लेन-देन होने से लोगों के मन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो गए हैं। व्यवसाय में भाई और बाप-बेटे के रिश्ते भी पवित्र नहीं रह गए हैं। रिश्तों में विश्वास और ईमानदारी के स्थान पर स्वार्थ और छल ने ले ली है।

विशेष—1. लेखक ने व्यापार में ईमानदारी, विश्वास और उत्साह के महत्त्व को समझाने की कोशिश की है।

2. सामाजिक बुराइयों तथा संबंधों में रिक्तता के भाव को लेखक ने ईमानदारी के मार्ग में बाधक माना है।

3. भाषा सहज तथा उर्दू शब्दावली से युक्त है। शैली भावात्मक एवं विचारात्मक है।

2. “मिट्टी और जल से जो पवित्रता होती है वह पवित्रता नहीं है। हाथ पाँव आदि अंग जल से शुद्ध और साफ होते हैं पर मन केवल सत्य से शुद्ध होता है। मन जिसका दूढ़ है और डिगा नहीं वहाँ अपनी गाढ़ी मेहनत की कौड़ी को अपनी करके मानेगा। वह बेईमानी से अनुचित लाभ को सोना भी है तो मिट्टी का ढेला मानता है।”

शब्दार्थ— दूढ़-पक्का या मजबूत। डिगा-बदलना या हिलाना। बेईमानी-कपट या मिथ्या।

प्रसंग— पूर्ववत।

व्याख्या— बालकृष्ण भट्ट ने मुख्य अवतरण में कहा है कि व्यक्ति अपने आपको को मिट्टी और जल से साफ कर समझता है कि पवित्र हो गया है। अर्थात् बुरे काम कर गंगा के जल से साफ कर अपने आपको शुद्ध समझ लेते हैं। पर ऐसा नहीं है मनुष्य अपने शरीर के अंगों को स्वच्छ कर मान लेता वह शुद्ध और पवित्र हो गया है पर मन की शुद्धता के लिए ईमानदारी का होना भी आवश्यक है और मन केवल सच बोलने पर ही शुद्ध हो सकता है। जो व्यक्ति कड़ी मेहनत से कभी भी पीछे नहीं हटता अर्थात् जी-तोड़ परिश्रम कर अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। वह मिट्टी को सोने में बदलने की ताकत रखता है। छल से कमाया धन चाहे वह सोने का भी है तो वह उसे मिट्टी करने में पल नहीं लगाता। लेखक ने शरीर की शुद्धता से मन की शुद्धता और पवित्रता को महत्त्व दिया है।

3. “जो ईमानदार हैं वो अपने जितने काम और बर्ताव हैं सब में स्वच्छता और सफाई रखने में नहीं चूकते और समाज में छोटे से छोटे और बड़े-बड़े लोगों के बीच जैसा विश्वासपात्र वे होते हैं वैसा बड़ा रुपये वाला और बड़ा विद्वान नहीं हो सकता यदि व्यवहार में सच्चा नहीं है। ईमानदार रहकर थोड़ी आमदनी से हम किसी तरह बड़ी कठिनाई से अपना दिन काटते हों तो यह उससे अच्छा है कि हम ईमानदारी को छप्पड़ पर रख बेईमान हो बहुत रुपया बटोर गुलछर्रे उड़ावें। सच मानो एक दिन परिणाम उसकी बेईमानी का इतना बुरा होगा कि जितना उसने अपने इस नीच कर्म से सुख भोगा है वह सुख भोगने का पलरा दुःख भोगने के बराबर का हो जायेगा। न उस पर उस बेईमानी का फल हुआ तो औलाद पर होगा।”

शब्दार्थ— बर्ताव-चाल-चलन या व्यवहार। छप्पड़-कुटीर या शय्या। गुलछर्रे-भोग-विलास या मौज-मस्ती।
प्रसंग— पूर्ववत।

व्याख्या— लेखक बालकृष्ण भट्ट ने माना है कि ईमानदार व्यक्ति अपने कार्य और व्यवहार में शुद्धता और सफाई रखने में कभी भी भूल नहीं करते अर्थात् समय पर अपना काम पूर्ण कर लेते हैं। ईमानदार व्यक्ति अपने काम में कोई लापरवाही नहीं करते जिससे समाज में छोटे या बड़े लोगों के बीच अपना विश्वास पूर्ण रूप से जमा लेते हैं। ऐसा विश्वास कोई अमीर या विद्वान नहीं जमा पाता। यदि व्यवहार में सच्चाई नहीं है तो काम में सफलता और स्वच्छता का भाव व्यक्त नहीं हो सकता। समाज में उसका दर्जा चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो। ईमानदारी का सहारा लेकर जीवन की समस्त समस्याओं को दूर किया जा सकता है। बेईमानी से कमाया गया धन उसी रूप में बाहर निकलता है जिस तरह से उसे प्राप्त किया गया होता है। कहा जाता है कि बुरे काम से प्राप्त धन का परिणाम अकसर बुरा ही होता है। ऐसा धन या तो बीमारी के रूप में भोगना होता है या संतान के रूप में।

इस प्रकार से हिंदी साहित्य में बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का अपना एक महत्त्व है। इनके निबंधों में समय, परिवेश और जीवन-मूल्य से बहुत गहरा एवं संश्लिष्ट संबंध होता है। ईमानदारी निबंध में लेखक ने जीवन की विसंगतियों और विषमताओं में व्यक्ति किस तरह अपने मूल्यों को जीवित रख पाता है। ईमानदारी जीवन का सर्वोच्च तत्त्व है। ईमानदारी मानव हृदय की शाश्वत एवं अनिर्वचनीय अनुभूति है जो किसी व्यक्ति, वस्तु के प्रति सहज ही उत्पन्न हो जाती है।

1.8.1 लघुतीय प्रश्न—

1. ईमानदारी किसका प्रतीक है? स्पष्ट कीजिए।
2. ईमानदारी निबंध में भट्ट जी ने किन गुणों एवं अगुणों की चर्चा की है?
3. ईमानदारी के पक्ष में न होने पर क्या परिणाम हो सकते हैं?

विवेचनात्मक प्रश्न

1. 'ईमानदारी' नामक निबंध का सार स्पष्ट कीजिए।
2. ईमानदारी में लेखक ने किस निबंध-शैली का विवेचन किया है? विस्तार से बताइए।
3. भट्ट जी ने आधुनिक समाज की किन समस्याओं पर व्यंग्य किया है? स्पष्ट कीजिए।

संदर्भ-सूची

1. लक्ष्मीकांत भट्ट— बालकृष्ण भट्ट की जीवनी, पृ. 35
2. हिंदी साहित्य का इतिहास— आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 8 संस्करण, पृ. 442
3. भारतेंदु युग— डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 164
4. हिंदी प्रदीप जिल्द— 10, संख्या-1, पृ.15

2. वैष्णवता और भारतवर्ष (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

डॉ. रणजीत यादव
दिल्ली विश्वविद्यालय

2.1 प्रस्तावना

निबंध आधुनिक काल की नवीन विधा है। इसमें भावों और विचारों को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। इसी वजह से निबंध को “गद्य की कसौटी” कहा गया है। तथ्य, कथ्य, भाव-भाषा, शिल्प-संवेदना तथा अभिव्यक्ति कौशल की वैचारिक परख इसमें संभव है। आधुनिक काल को ‘गद्य काल’ की संज्ञा दी गई है। यहाँ से साहित्य की विविध विधाओं की विकास यात्रा, व्यवस्थित रूप से आरंभ हुई। निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक, रेखाचित्र, जीवनी, संस्मरण, आलोचना, यात्रावृत्तांत, डायरी, एकांकी, जैसी विधाएँ नवीन अर्थबोध के साथ अस्तित्व में आईं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित निबंध ‘वैष्णवता और भारतवर्ष’, उनके व्यापक अध्ययन, मनन एवं चिंतन का भविष्योन्मुखी भारत के वैचारिक एवं सांस्कृतिक धरोहर है। इसमें एक तरफ विशाल हिंदू जाति के प्राकृत धर्म वैष्णवता के उद्भव, विकास और उसके विश्वव्यापी प्रसार का विवेचन-विश्लेषण है, वहीं दूसरी तरफ तत्कालीन समय, समाज और राष्ट्र में बढ़ते संकीर्णता, रूढ़िवाद, जाति-पाति, द्वेष, अकर्मण्यता, आलस्य, बेरोजगारी, भूखमरी की चिंता है साथ ही राष्ट्रीय एकता, तथा सांस्कृतिक उत्थान का ओजस्वी उद्घोष भी है।

2.2 अधिगम का उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के पश्चात् विद्यार्थी निम्नलिखित करने में सक्षम हो सकेंगे—

- निबंधकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बहुमुखी प्रतिभाशाली व्यक्तित्व और उनके महान साहित्यिक योगदान से परिचित हो सकेंगे।
- निबंध ‘वैष्णवता और भारतवर्ष’ के सारांश/प्रतिपाद्य को समझ सकेंगे।
- वर्तमान प्रासंगिकता की कसौटी पर निबंध को परख सकेंगे।
- ‘वैष्णवता और भारतवर्ष’ निबंध के मूल उद्देश्य से परिचित हो सकेंगे।
- ‘वैष्णवता और भारतवर्ष’ निबंध की भाषाशैली तथा निबंधकार के भाषिक-कौशल को समझ सकेंगे।
- निबंधकार के वैचारिक प्रगतिशीलता को परख सकेंगे।
- राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक उत्थान के कारकों से परिचित हो सकेंगे।

2.3 लेखक परिचय

साहित्य संसार में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक ‘युग प्रवर्तक’ साहित्यकार हैं। जीवन के अल्पकाल में इन्होंने विपुल साहित्य की रचना की। ‘स्वत्व निज भारत गहे’ से ‘निजभाषा उन्नति अहे’, तक की इनकी यात्रा

अविस्मरणीय है। इनका जन्म काशी के एक संपन्न परिवार में 9 सितम्बर 1850 ई. में हुआ। इनके पिता का नाम गोपाल चंद गिरधर दास तथा माता पार्वती देवी हैं। इनके पिता एक अच्छे कवि थे। काव्य-संस्कार इन्हें अपने पिता से मिला। सच ही कहा गया है 'पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते हैं' और 'होनहार विरवान के होत न चिकने पात' वाली कहावत पूर्णतः इन पर चरितार्थ होती है। मात्र अट्ठारह वर्ष की आयु में ही इन्होंने विद्यासुंदर नाटक का बांग्ला से हिंदी में अनुवाद किया। 'कविवचन सुधा' नामक पत्रिका निकाली। साहित्य में अनेक विधाओं की विधिवत शुरुआत और विकास में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। वास्तविक अर्थों में आधुनिकता के आगाज़ का श्रेय भारतेन्दु को ही दिया जाता है। कविता को 'सुरा-सुराही और सुंदरी' के वृत्त से निकाल कर आधुनिकता के आँगन में लाना, अपने आप में श्रम-साध्य साधना है। इन्होंने भारतेन्दु मंडल बनाया जिसमें बालकृष्ण भट्ट, लाला श्री निवासदास बदरीनारायण चौधरी प्रेमधन, प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, अंबिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी तथा राधाकृष्ण दास शामिल थे। साहित्य में समाजिकता को केन्द्रीय भूमिका मिली। भाषा परिष्कार और साहित्य संवर्धन में उल्लेखनीय योगदान के कारण इन्हें 'युग द्रष्टा, पथ प्रदर्शक' और 'नवजागरण का अग्रदूत' कहा जाता है। निबंध मानव मन के भाव और विचार को अभिव्यक्त करने वाली श्रेष्ठ विधा है। इस अर्थ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित निबंध वैष्णवता और भारतवर्ष, सांस्कृतिक चिंतन तथा वैचारिक जागृति में सहायक है।

इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं-

1. **काव्य-** प्रेममाधुरी, प्रेमसरोवर, प्रेमतरंग, प्रेमाश्रुवर्षण, प्रेममालिका, प्रेमप्रताप, दानलीला।
2. **नाटक-** भारतेन्दु के नाटकों को दो श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है- (1) मौलिक तथा (2) अनूदित। मौलिक वे रचनाएँ हैं जिसे उन्होंने स्वयं लिखा है तथा अनूदित वे हैं जिसका अनुवाद उन्होंने किया है। मौलिक नाटक हैं- वैदिक हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली विषस्य विषमौषधम भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेरे नगरी।
3. **अनूदित नाटक** - विद्या सुंदर, पाखंड विडंबन, धनंजय विजय, कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस, सत्यहरिश्चन्द्र, भारत जननी।
4. **उपन्यास** - चंद्रप्रभा, पूर्ण प्रकाश
5. **इतिहास एवं पुरातत्व संबंधी-** कश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास, रामायण का समय, अग्रवालों की उत्पत्ति, बूँदी का राजवंश, चरितावली।
6. **निबंध-** कश्मीर कुसुम, उदय-पुरोदय, कालचक्र, बादशाह दर्पण, लेवी प्राण लेवी, तदीय सर्वस्व, जातीय संगीत, नाटकों का इतिहास, वैद्यनाथ की यात्रा, स्वर्ग में विचार, सभा का अधिवेशन, जाति विवेचनी सभा, पाँचवें पैगम्बर, अंग्रेज स्तोत्र, वैष्णवता और भारतवर्ष, हिंदी भाषा, सूर्योदय, एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न, भ्रूण हत्या, रामायण का समय, काशी, मणिकर्णिका, संगीतसार, भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है।
7. **पत्रिका-** कविवचन सुधा, हरिश्चंद्र मैगजीन

निबंध और नाटक में उल्लेखनीय भूमिका की निर्वाह की वजह से ही इन दोनों विधाओं के युगपुरुष के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम लिया जाता है। युग का नाम निर्धारित हुआ-(1) भारतेन्दुयुगीन निबंध

तथा (2) भारतेन्दुयुगीन नाटक।

निबंध साहित्य की परिष्कृत विधा है जिसमें भावों और विचारों को उन्मुक्त आकाश अभिव्यक्ति के लिए मिल जाता है। पद्य में इतनी स्वतंत्रता नहीं मिलती। वहाँ भाव-विचार को कम शब्दों में, काव्य की परिधि में ही व्यक्त करना पड़ता है। निबंध को 'कवियों की कसौटी' माना गया है।

भारतेन्दु का सबसे बड़ा योगदान साहित्य में समाज की संवेदनाओं की कुशल अभिव्यक्ति है। उन्होंने विविध विधाओं को स्वयं की श्रम साधना से तराश कर आगे का मार्ग प्रशस्त किया। उनमें अतीत के प्रति अनुराग और आधुनिकता का आग्रह दोनों है। वे बहुमुखी (Multy Various) प्रतिभा संपन्न व्यक्तित्व थे। उनमें एक साथ सुकवि, लेखक, निबंधकार, नाटककार, अनुवादक, कलाकार, समाज सुधारक, देशभक्त के दर्शन किए जा सकते हैं। इन्हीं वजह से उन्हें आधुनिक साहित्य का 'जनक' कहा गया है। वे स्रष्टा और द्रष्टा दोनों थे। आज साहित्य में गद्य विधाओं को जो गौरव प्राप्त है उसकी नींव (आधारशिला) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के द्वारा रखी गई। समृद्ध साहित्य संसार सदैव उनका ऋणी रहेगा और उनके प्रति कृतज्ञ भी।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

1. भारतेन्दु का जन्म कब और कहाँ हुआ?
2. 'गद्य की कसौटी' किसे कहा गया है?
3. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किस पत्रिका का संपादन किया?
4. आधुनिक साहित्य का 'जनक' किसे कहा जाता है?
5. भारतेन्दु गद्य में किस भाषा का प्रयोग करते हैं?
6. 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो' के निबंधकार कौन हैं?
7. वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध किस विषय से संबंधित है?

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें-

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा अनूदित विद्यासुंदर..... है। (कहानी/नाटक)
2. भारतेन्दु ने लेखकों का एक समूह तैयार किया था जिसे कहा जाता है। (द्विवेदी मंडल / भारतेन्दु मंडल)
3. निबंध को की कसौटी कहा गया है। (लेखकों/कवियों)
4. आधुनिक काल को कहा जाता है। (कविता काल / गद्य काल)

2.4 'वैष्णवता और भारतवर्ष' निबंध का प्रतिपाद्य

वैष्णवता और भारतवर्ष 1884 ई. में लिखा गया निबंध है। यह 'रामायण का समय' में उल्लेखित है। वैष्णव धर्म भारत का सबसे प्राचीनतम धर्म है। इसकी जड़ें काफी गहरी हैं। इसकी शाखाएँ प्रशाखाएँ काफी फैली हुई हैं। अन्य कई धर्मों के स्रोत भी यहाँ मिल जाते हैं। तीन देवी-देवता से तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं की यात्रा, इस निबंध में तार्किक ढंग से की गई है। किस प्रकार वैष्णव धर्म से, कई धर्मों की विकास यात्रा

आरंभ हुई इसकी पड़ताल की गई है।

आरंभ में सूर्य, अग्नि और पवन को देवता माना गया फिर ब्रह्मा, विष्णु और महेश हुए। एक से दो, दो से तीन और तीन से तैंतीस करोड़ देवी-देवता हुए। किस प्रकार खंड-खंड में कई धर्मों का उदगम और विकास हुआ है, कैसे अलग-अलग जातियाँ, सम्प्रदाय, मजहब अस्तित्व में आते गए, कैसे उनके कर्मकांड एक दूसरे से टकराने लगे, किस प्रकार लोक समाज में मत-मतांतर पैदा होते चले गए और आपस में द्वेष, नफरत, वैमनस्य के भाव बढ़ने लगे, निबंधकार इसका तार्किक वर्णन करते हैं।

धर्म का कार्य विखंडन और बिखराव नहीं है। बल्कि सबको एक सूत्र में पिरोना है। वैष्णव धर्म का फलक काफी व्यापक है। उपासना, पूजा, अर्चना, इबादत की पद्धति अलग-अलग हो सकती है। यह वैयक्तिक स्वतंत्रता का विषय है कि कौन किसे मानता है? यह उसके अपने विवेक और चयन पर निर्भर करता है कि वह किसे चुनता है? इसमें किसी प्रकार की बंदिश नहीं होनी चाहिए। लेकिन जहाँ तक धर्म का नहीं बल्कि 'परमधर्म' का प्रश्न है तो वहाँ सबसे पहले प्राथमिकता मानव धर्म को दिया जाना चाहिए। क्योंकि यह प्राचीनतम नहीं बल्कि प्रकृत (वास्तविक) धर्म है।

यह निबंध जिस समय लिखा गया, उस समय देश परतंत्र था। अंग्रेजों के शोषण, शासन और षड्यंत्र से देश त्रस्त था। पाश्चात्य प्रभाव में आकर लोग अपने मूल से अलग-थलग पड़ने लगे थे। उनकी मनोवृत्ति परिवर्तित होने लगी थी। गरीबी, बेरोजगारी, भूखमरी की समस्या विकराल रूप धारण करती जा रही थी। ऐसे 'करालकाल' में अपने पंथ, प्रथा, कर्मकांड, संकुचित भाव का त्याग करना जरूरी था। हमारा वास्तविक धर्म है—परस्पर सहयोग, सद्भाव, वैचारिक शुद्धता, सबसे ऊपर होना चाहिए। छापा-तिलक, कंठी-माला से ऊपर उठकर मानवधर्म के बारे में गंभीरता से विचार कर उसका पालन करना चाहिए। निबंध के आदि और मध्य तक वैष्णवता की परिधि में भारतवर्ष को देखा गया है जबकि आखरी अनुच्छेद में भारतवर्ष में वैष्णवता की दशा-दिशा का दिग्दर्शन है। इसमें धर्म की चिंता की जगह उसके चिंतन पर विशेष बल दिया गया है। देश समाज की ज्वलंत समस्या पर गंभीरता से विचार किया गया है। आधुनिक समय में शिक्षा, रोटी-रोजगार के बिना धर्म का प्रचार-प्रसार संभव नहीं है। इसलिए अधिक से अधिक श्रम, शिक्षा और सतत संघर्षशील रहने का आह्वान किया गया है।

भारतेन्दु आधुनिक हैं। उनकी दृष्टि में वर्तमान की समस्या को दूर किए बिना भविष्य की समस्याओं का हल नहीं किया जा सकता। वे तार्किक हैं। अपने मत को पुष्ट करने हेतु जो प्रमाण देते हैं वे विचारणीय हैं। वैष्णवता ही भारतवर्ष का आधारभूत धर्म है इसके पक्ष में उनके द्वारा दिए गए प्रमाण पर्याप्त हैं—'कृस्तान, ब्राह्म, मुसलमान आदि के धर्म में भक्ति की प्रधानता से ये सब वैष्णवों के सदृश हैं। इंजील में वैष्णवों के ग्रंथ से बहुत सा विषय लिया गया है और ईसा के चरित्र में श्रीकृष्ण के चरित्र का सादृश्य बहुत है।' इतना ही नहीं विभिन्न पंथ, अवतार, स्त्री-पुरुष के नाम, ग्रंथ, काव्य, पुराण में भारत-भागवत वाल्मीकि रामायण, व्रत में एकादशी, मेले त्योहार, लीला, तीर्थ स्थान, अयोध्या, मथुरा, काशी, वृंदावन, द्वारका, हरिद्वार, नदियों में गंगा-यमुना-सरस्वती, का संबंध भी वैष्णव धर्म की कथा से जुड़ा हुआ है। जीवन तो जीवन, मृत्यु के पश्चात् भी लोग 'राम नाम सत्य है' कहते हुए पाए जाते हैं। राम और कृष्ण दोनों विष्णु के ही अवतार हैं। विष्णु के मतानुयायियों को ही वैष्णव कहा जाता है।

सर्वव्यापकता और उदार भाव ही वैष्णवता की 'दृढभित्ति' है। लेकिन पराधीनता के कारण जो

मानसिकता पाश्चात्य प्रभाव में आकर विकसित हुई है। वह घातक है। एक तरफ देश समाज तरह-तरह की समस्याओं से ग्रसित है वहीं दूसरी तरफ अलग-अलग, पंथ, मत, विचार लेकर जो लोग चल रहे हैं, वे देश समाज का नुकसान कर रहे हैं। विचारों में जो अलगाव, द्वेष, नफरत की भावना प्रबल हो रही है, यह लोक समाज के लिए घातक है। इससे खंडन की प्रवृत्ति बढ़ेगी, जबकि वास्तव में धर्म का स्वभाव खंडन नहीं बल्कि श्रेष्ठ मतों का संचयन है। मनुष्यता का प्रसार है। धर्म केवल कर्म नहीं बल्कि यह एक विशेष उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्यबोध है। निबंध में असत्य के अस्वीकार तथा सत्य के स्वीकार का आग्रह जगह-जगह है। धर्म के मार्ग की जो भी प्रमुख बाधाएँ हैं। निबंधकार उसे स्पष्ट करते हुए आगे बढ़ते हैं। एक तरफ उनका तार्किक संशय है तो दूसरी तरफ स्पष्ट संदेश की - 'जिस भाव से हिंदू मत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा'। इसमें वर्तमान समय की बाधा और भविष्य के प्रति एक स्पष्ट परामर्श है, उन सभी कारणों को समय रहते दूर करना होगा जिससे धर्म में संकुचन आ रहा है। जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूआछूत, वैमनस्य, अस्पृश्यता को लेकर लम्बे समय तक कोई धर्म जीवित नहीं रह सकता। इसलिए उन्हें व्यथित होकर कहना पड़ता है कि 'अब तो वैष्णवों में ही ऐसे उपद्रव फैला है कि एक सम्प्रदाय के वैष्णव दूसरे सम्प्रदाय वाले को अपने मंदिर में और खान-पान में नहीं लेते।' इस भाव बोध के आलोक में तो वैष्णवता की प्रसार में बाधा ही बाधा है। इसलिए भारतेन्दु को कहना पड़ा-'आगे नहीं चलेगा'। संकेत स्पष्ट है। यहाँ हिंदू का तात्पर्य सिर्फ एक जाति विशेष से नहीं बल्कि हिन्दुस्तान की समस्त जातियों, समुदाय, पंथ के सामूहिक रूप से है। विकृति को दूर किए बिना स्वीकृति संभव ही नहीं है। अब अलग-अलग रास्ते अपनाने, मत मतांतर तथा खंडित होने से काम नहीं चलेगा। बल्कि एक विराट भाव को ग्रहण करते हुए, अपनी संकीर्णताओं का त्याग करते हुए, सिर्फ अपने को श्रेष्ठ बाकि तुच्छ के विचार से ऊपर उठना होगा। दूसरों की मान्यताएँ, आस्था पर प्रश्न उठाने तथा व्यर्थ उलझनों से बचना होगा। सर्वधर्म सद्भाव को हर हाल में अपनाना होगा।

मनुष्य की मूल समस्या है उसकी भूख। इसे दूर किए बिना धर्म की जयजयकार संभव नहीं है निबंधकार की दृष्टि मानव की सबसे महत्वपूर्ण समस्या को चिन्हित करती हुई आगे बढ़ती है-'जब पेट भर खाने को ही न मिलेगा तो धर्म कहाँ बाकी रहेगा।' धर्म के विकास में भूख बड़ी बाधा है। इसलिए इसे दूर किए बिना वैष्णवता का विकास संभव नहीं है। इसलिए उन्हें बल देकर कहना पड़ता है कि "जीवन मात्र के सहज धर्म उदरपूरण पर अब ध्यान दीजिए।' अब वक्त आ गया है कि सभी पंडित, मुल्ला, उलेमा, अलग-अलग उपाधियों में न बंट कर रहें, अपनी-अपनी स्वार्थ-सत्ता से ऊपर उठकर मानव धर्म की मूल समस्या को दूर करें। 'परस्पर बैर छोड़ें।' सभी बंदिशों को तोड़कर मानवता के धरातल पर एक हों। तभी समाज और देश समृद्ध हो सकेगा।

वे मुस्लिमों को कई जगह विधर्मी कहते हैं। इसके पीछे औरंगजेब द्वारा किए गए अन्याय की शायद उन्हें अनुभूति हो रही हो। लेकिन जब वे मंदिरों में 'स्त्री सहवास निवृत्त किया जाय' कहते हैं तो यह काफी महत्वपूर्ण हो जाता है कि आज के आलोक में इस पर विचार किया जाय। वे 'कृष्णचन्द्र' की केलिकला की आधुनिक व्याख्या ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की परिधि में चाहते हैं। जो पूर्णतः संभव नहीं लगता।

वे मानव धर्म से होते हुए परमधर्म तक पहुँचते हैं तथा सम्पूर्ण आर्य जाति की एकता पर बल देते हुए कहते हैं कि इसी से धर्म संबंधी उपाधियों का त्याग कर प्रकृत (सहज-मानव धर्म) धर्म को स्वीकार करें। इस प्रकार वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध सांस्कृतिक चिंता और चिंतन से ओतप्रोत तथा राष्ट्रीय जागरण का

जीवंत उद्घोष है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

1. वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध की रचना कब हुई?
2. सर्वप्रथम किसकी पूजा आरंभ हुई?
3. राम और कृष्ण किसके अवतार हैं?
4. निबंध में विधर्मी किसे कहा गया है?
5. मानव की सबसे बड़ी समस्या क्या है?
6. हृदय रत्न की वस्तु किसे कहा गया है?

2.4.1 रिक्त स्थानों की पूर्ति करें-

- (क) वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध में धर्म के ऊपर रखा गया है। (धन को / परमधर्म को)
- (ख) मानव की सबसे बड़ी समस्या है। (भय/भूख)
- (ग) निबंधकार ने के कथा की नवीन व्याख्या का अनुरोध किया है। (राम/कृष्ण)
- (घ) भारतवर्ष का धर्म वैष्णवता है। (आधुनिकतम/प्राचीनतम)

2.5 'वैष्णवता और भारतवर्ष' निबंध की प्रासंगिकता

प्रासंगिकता का तात्पर्य है वर्तमान समय में रचना की अर्थवत्ता एवं उसकी उपयोगिता है। वैष्णवता और भारतवर्ष की रचना 1884 ई. में हुई। लेकिन इस निबंध को आज भी पढ़ा-पढ़ाया जा रहा है। तो निश्चय ही उसमें व्यक्त भाव और विचार आज की चुनौतियों को समझने, उसे हल करने तथा भविष्य हेतु एक स्वच्छ, एवं स्वस्थ सांस्कृतिक चेतना का प्रसार जन-जन तक होता रहे, इसकी आकांक्षा से युक्त है। भारतेन्दु प्रगतिशील चेतना से संपन्न साहित्यकार हैं। समकालीन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक यथार्थ को सामने लाकर भविष्य का खाका खींचते हैं। उनके पास अतीत और आधुनिक दोनों को परखने की सम्यक दृष्टि है। वे इस निबंध के माध्यम से जहाँ एक ओर जन-जागृति लाना चाहते हैं वहीं दूसरी ओर माला, छाप, तिलक का स्पष्ट विरोध करते हैं। वे स्वस्थ सांस्कृतिक समन्वय की विराट चेतना का प्रसार नवीन अर्थबोध के साथ कर रहे हैं। पाश्चात्य प्रभाव में आकर किस तरह लोगों की मानसिकता प्रभावित हो रही थी, वे अपने कर्तव्य से विमुख होकर नाना पंथों में बंटने लगे थे। उनके मन मस्तिष्क में स्वच्छ विचार उत्पन्न कर उसे राष्ट्र की उन्नति में शामिल होने का आह्वान कर रहे हैं।

यह निबंध सिर्फ आस्था की बात नहीं करता बल्कि चेतनाशील तर्कों के आलोक में ठोस प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसलिए इसमें धर्म की प्राचीन नहीं बल्कि नवीन व्याख्या है। धर्म के ऊपर परम धर्म की स्थापना है। सहज मानव धर्म ही श्रेष्ठ है। इस पर पर्याप्त बल है। वे विषय-विवेचन के क्रम में आस्था और विवेक को साथ-साथ लिए चलते हैं। यही कारण है कि वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'इतने देवी देवता इस अनन्त सृष्टि के नियामक नहीं हो सकते, उनका कर्ता स्वतंत्र कोई विशेष शक्तिसम्पन्न ईश्वर है।' इस मत को सभी धर्म, सम्प्रदाय के लोग दिल से स्वीकार कर लें तो ईश्वर संबंधी जितने मत-मतांतर और विवाद हैं

वे स्वतः सहज भाव से हल हो जाएँगे।

जब सबका ईश्वर एक ही सर्वशक्तिमान है फिर उसे लेकर अलग-अलग पंथ, सम्प्रदाय, और वाद-विवाद की आवश्यकता ही नहीं है। भारतेन्दु इस निबंध में सिर्फ धर्म की आधुनिक व्याख्या ही नहीं कर रहे बल्कि इसके वास्तविक मर्म तक पहुँच कर लोगों का मार्गदर्शन भी कर रहे हैं। पूर्व से चली आ रही परंपरा में जहाँ कुछ संशोधन की आवश्यकता है, वे उस पर विचार करने का आग्रह भी कर रहे हैं ताकि प्राचीनता में से भी नवीनता को सहर्ष स्वीकार किया जा सके। वे अतीत को आधुनिकता की आँख से देखने के पक्षधर हैं- 'रास क्या है गोपी कौन है, यह सब रूपक अलंकार स्पष्ट कर के श्रुतिसम्मत उनका ज्ञान, वैराग्य, भक्तिबोधक अर्थ किया जाया' यहाँ स्पष्ट है कि आज के संदर्भ में उसकी व्याख्या की जाएगी तो स्त्री स्वातंत्र्य को अवश्य प्राथमिकता दी जाएगी। मध्यकालीन समाज में सामंती सत्ता थी जहाँ पर कई कठोर नियम बने हुए थे जो स्त्री विरोधी थे। रास सिर्फ लीला तक नहीं बल्कि उससे कहीं आगे की अर्थबोध का द्योतक है। श्रुतिसम्मत, ज्ञान-वैराग्य और भक्तिबोधक इन तीनों शब्दों की व्याख्या प्राचीन नहीं बल्कि आधुनिक विवेक से करने का आग्रह है।

निबंध के प्रासंगिक होने में सबसे बड़ी भूमिका इसमें दिए गए प्रमाण और तर्क हैं। वे कहीं भी कुछ ऐसा कहने से बचते हैं जिसे तर्क की कसौटी पर कसा न जा सके। उनकी बहुआयामी भूमिका इस निबंध को विश्वसनीय और प्रमाणिक बनाने में काफी हद तक सफल है। वे निवेदक भी हैं और सलाहकार भी- 'अब वैष्णवों से यह निवेदन है कि आप लोगों का मत कैसी दृढ़भक्ति पर स्थापित है, यह कुछ-कुछ हम आप लोगों को समझा चुके हैं।' यहाँ निबंधकार का पाठक से आत्मीय संवाद की कला देखते ही बनती है।

'वैष्णवता भारतवर्ष का प्राकृत मत है।' इस तथ्य की पुष्टि हेतु उन्होंने जो छत्तीस दमदार प्रमाण प्रस्तुत किए हैं उसे कोई भी सहजता से खारिज नहीं कर सकता। इसमें कथ्य, तथ्य और सत्य की बेमिसाल युगलबंदी है। राम और कृष्ण की विराट-व्यापक सांस्कृतिक सत्ता को कौन अस्वीकार कर सकता है? यहाँ विवाह के गीतों से लेकर श्राद्ध के क्रिया-कर्म तक राम ही राम हैं।

वैष्णव धर्म की उन्नति कैसे हो सकती है, वे इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं- 'इस काल में इसकी तभी उन्नति होगी जब इसके बाह्य व्यवहार और आडम्बर में न्यूनता होगी और एकता बढ़ाई जाएगी और आन्तरिक उपासना की उन्नति की जाएगी। यह काल ऐसा है कि लोग उसी मत को विशेष मानेंगे जिसमें बाह्य देह-कष्ट न्यून हो।' उनकी दूरदृष्टि का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि जो विचार वे वर्ष 1884 में व्यक्त कर रहे थे वे आज पूर्णतः सत्य साबित हो रहे हैं। मानव श्रम की जगह यांत्रिकता का प्रभाव जरूरत से ज्यादा बढ़ गया है। उसी अनुपात में बाह्य आडम्बर और दिखावटीपन भी बढ़े हैं। उसे दूर किए बिना धार्मिकता का विकास संभव नहीं है। समाज में घट रही घटनाएँ, बढ़ते नफरत, आपसी कटुता और परस्पर वैर भाव के कारण ही उन्हें कहना पड़ा- 'जिस भाव से हिन्दू मत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा।' यह उनकी दूरदृष्टि थी जो आज अक्षरशः सत्य साबित हो रही है। हालाँकि विश्व में विराट सांस्कृतिक वैभव के कारण भारत को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है लेकिन सच का एक पहलू यह भी है कि आज भी यहाँ 'दीपक तले अंधेरा' कायम है। जिसकी ओर निबंधकार बार-बार ध्यान आकृष्ट करवाते हैं।

सामाजिक यथार्थ को वे उसी रूप में प्रस्तुत करते चलते हैं जिस रूप में वह मौजूद हैं। चाहे वह पाश्चात्य प्रभाव हो या फिर भूख की भयावहता। भारत ही नहीं विश्व में भूख धार्मिकता के प्रचार-प्रसार में सबसे बड़ी बाधा है। इसलिए वे इस पर विशेष जोर देते हैं कि पहले पेट की समस्या हल करो। 'हम लोगों की दशा दिन-दिन हीन हुई जाती है जब पेट भर खाने ही को न मिलेगा तो धर्म कहाँ बाकी रहेगा।' लोक समाज की ऐसी पीड़ा को यथार्थ रूप देने वाली चाहे वह निबंध, नाटक, कहानी, उपन्यास जो भी हो सदा प्राणवान और प्रासंगिक बनी रहेगी।

भारतेन्दु समकालीन संवेदना की सशक्त प्रस्तुति करने वाले अग्रणी साहित्यकार थे। उनकी प्रगतिशील चेतना पर प्रश्न उठाना आसान नहीं है। यही कारण है कि वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध में वे धर्म की आधुनिक व्याख्या तो करते ही हैं साथ ही समाज और राष्ट्र के समक्ष उपस्थित समस्त समस्याओं को भी निरूपित करते चलते हैं जो लोक समाज और देश के विकास में बाधक हैं। वे सिर्फ दोष-दर्शन तक सीमित नहीं रहते बल्कि उसका हल भी बताते चलते हैं—'परस्पर बैर छोड़िए। शैव, शाक्त, सिक्ख जो हो सब से मिलो।' यहाँ हृदय की विशालता पर बल है। साथ ही वैर भाव छोड़ने का आग्रह भी। उन्होंने एक-दो जगह मुसलमान आदि को जो विधर्मी कहा है। उसका परिमार्जन भी यहाँ स्पष्ट किया गया है—'जो हो सब से मिलो।' अर्थात् इस 'जो हो' में मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी शामिल हैं।

राष्ट्र की चहुँमुखी प्रगति के लिए विराट राष्ट्रीय एकता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। उपासना और उसकी पद्धति को लेकर आपस में उलझने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। हृदय (अभ्यांतर) की वस्तु के लिए आपस में झगड़ने, लड़ने, विवाद करने, खंडित होने की जरूरत अब नहीं है। क्योंकि 'करालकाल' की भयावह स्थिति से बचने के लिए आपसी एकता, प्रेम, सद्भाव, अनिवार्य है। अब न 'सात कनौजिया नौ चूल्हे' की जरूरत है न 'अलग-अलग खिचड़ी पकाने' की आवश्यकता। 'वैष्णव, शैव, ब्रह्म, आर्यसमाजी सब अलग-अलग पतली-पतली डोरी हो रहे हैं, इसी से ऐश्वर्य रूपी मदमस्त हाथी उनसे नहीं बँधता।' इसे बाँधने के लिए सर्वधर्म सद्भाव तथा वसुधैव कुटुम्बकम् (पृथ्वी ही परिवार) की भावना, वक्त की माँग है। तभी सभी डोरियाँ संयुक्त रूप से एक 'रस्सा' बन सकेगी तथा सम्पन्नता रूपी हाथी को विभिन्न दिशाओं में भागने से रोका जा सकेगा।

यह देश सभी स्तरों पर उन्नति कर, समृद्ध बन सकेगा। भारतेन्दु की धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना का फलक काफी विस्तृत है। यही कारण है कि वे धर्म से आगे परम धर्म को रखते हुए भावना और उपासना की विविधता को स्वीकार करते हैं पर साथ ही समग्र एकता पर विशेष बल देते हैं। धार्मिक उपाधियों को त्याग कर सहज मानव धर्म, उदारता, परोपकार, सर्वधर्म, सद्भाव के पथ पर चलते हुए सामूहिक उन्नति का आह्वान करते हैं। इस प्रकार वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध अपनी विराट सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्र की धार्मिक अस्मिता के उद्घोष के कारण, सदा प्रासंगिक बना रहेगा।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

1. 'प्रासंगिकता' का क्या अर्थ है?
2. निबंध में धर्म से ऊपर किसे रखा गया है?
3. निबंधकार की दृष्टि में सृष्टि के नियता कौन हैं?

4. वैष्णवता ही भारतवर्ष का प्रकृत धर्म है उसके पक्ष में कितने तर्क दिए गए हैं?
5. निबंध में धर्म संबंधी उपाधियों को छोड़ने की बात क्यों की गई है?

1.5.1 रिक्त स्थानों की पूर्ति करें

- (क) निबंधकार के अनुसार उपासना की उन्नति के लिए कम हो। (मानसिक कष्ट/शारीरिक कष्ट)
- (ख) तीर्थ स्थलों के नाम का संबंध है। (शैव/वैष्णव से)
- (ग) राम और कृष्ण हैं। (शिव के अवतार/विष्णु के अवतार)
- (घ) उपासना वस्तु है। (शरीर की / हृदय की)

2.6 उद्देश्य / निहित संदेश

भारतेन्दु की युगीन चेतना एवं विराट सांस्कृतिक उत्थान का परिचायक है वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध। एक तरफ वैष्णव धर्म के उद्भव, आरंभ और विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है वहीं दूसरी तरफ वैष्णवता की व्यापकता में आ रही प्रमुख बाधाओं का भी तार्किक विवेचन-विश्लेषण है। वे प्राचीन वैष्णव धर्म की नवीनता पर समय, समाज के आलोक में गहन-गंभीर विचार-विमर्श प्रस्तुत करते हैं। उनका उद्देश्य आरंभ से अंत तक पारदर्शी है। पहली पंक्ति में ही इस बात को रेखांकित करते हैं कि 'वैष्णवता भारतवर्ष का प्राचीन धर्म है'। फिर इसे दर्जनों तर्कों से सिद्ध करते हैं। वे अतीत की नवीन व्याख्या चाहते हैं। यही कारण है कि सदियों से प्रचलित चली आ रही कृष्णचन्द्र की केलिकथा तथा रास को वे ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तिबोधक अर्थ करने के पक्ष में हैं।

अलग-अलग कर्मकांड, जाति-पांति, छुआछूत, बैर वैमनस्य, अस्पृश्यता और विभिन्न धार्मिक उपाधियों का वे विरोध करते हैं। क्योंकि इससे समाज खंडित होता है। बंटा हुआ समाज कभी विकास नहीं कर सकता। वे बाह्य आडंबरों का खंडन करते हुए कंठी, माला, छाप, तिलक के चक्कर में पड़ने से साफ मना करते हैं। वे 'उन्नत प्रेममयी भक्ति' के प्रचार के पक्ष में हैं। जिससे सभी प्रेम सद्भाव के साथ रह सकें। स्वस्थ सांस्कृतिक गौरव का उल्लेख कर वे धर्म के सर्व-स्वीकार्य पक्ष पर बल देते हैं। वे चाहते हैं कि देश की उन्नत छवि जो पहले रही है, वह वर्तमान ही नहीं भविष्य तक बना रहे। यह 'दीक्षागुरु' था अब इसे विश्वगुरु बनना है। यह श्रम-साधना के बल पर ही संभव है। इसके विकास पथ में आने वाली समस्त बाधाओं को दूर करना होगा। संकीर्ण सोच के दायरे से ऊपर उठ कर सोचना होगा। व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन उसकी जाति नहीं बल्कि कर्म के आधार पर होना चाहिए। मानव की गरिमा, सम्मान और उसके उत्थान हेतु हर संभव पहल करनी होगी। पाश्चात्य प्रभाव से विकृत हो रही मानसिकता से लोक समाज को बचाना भी इस निबंध का प्रधान उद्देश्य है।

यह निबंध जिस समय लिखा गया उस समय देश परतंत्र था। लोग तरह-तरह की समस्याओं से जूझ रहे थे। भूखमरी, गरीबी, बेरोजगारी, शिक्षा की स्थिति काफी भयावह थी। ऐसी स्थिति में यहाँ अलग-अलग पंथ, मत-मतांतर में पड़कर मूल समस्याओं पर चिंतन न करना एक बड़ी चुनौती बनती जा रही थी। हम अपनी जड़ से जुड़े रह कर उन्नति कर सकें। विपरीत परिस्थितियों का सामना कर सकें। निबंधकार राष्ट्रीय स्वाभिमान को जागृत कर समाज एवं राष्ट्र के पथप्रदर्शक की भूमिका निभा रहे हैं। वे तत्कालीन सामाजिक,

आर्थिक, राजनीतिक, एवं धार्मिक स्थितियों पर गंभीरता से विचार करते हुए जहाँ एक ओर संशय कर रहे हैं दूसरी ओर संदेश भी देते हैं। वे युगीन समस्या को उल्लेखित कर जहाँ एक ओर समाज को सचेत कर रहे हैं वहीं दूसरी ओर भविष्य के भारत की वैचारिक नींव भी रख रहे हैं। वे भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो शीर्षक निबंध में भी इस बात पर बल देते हैं कि हमें सभी तरह के आलस्य का त्याग कर पुरुषार्थ पर विशेष बल देना होगा तभी भारतवर्ष की उन्नति संभव हो सकेगी। भारतेन्दु की चिंता और चिंतन का केन्द्र काफी व्यापक है। उनकी अन्य रचनाओं से भी समझा जा सकता है, चाहे निबंध, नाटक या प्रहसन, वे देश समाज की चिंता हर जगह खुलकर करते हैं तथा वे सिर्फ दोष-दर्शन में ही यकीन नहीं रखते बल्कि उसके लिए ठोस हल क्या हो सकता है? इसका भी मार्गदर्शन करते हैं।

वे नवीन चेतना के आग्रही हैं। पिछली कड़वाहटों को पीछे छोड़, अब आगे बढ़ने का समय है। जो लोग जाति, धर्म, सम्प्रदाय, मजहब में बंटे हुए हैं। वे समाज और राष्ट्र के उत्थान में सहयोगी भूमिका कैसे निभा सकेंगे? इसलिए इन्हें विराट हृदय भाव बोध के साथ एक होना होगा। चाहे उनकी उपासना, पूजा, पाठ, इबादत अलग-अलग हो। फिर भी, राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक जागरण के लिए व्यावहारिक एवं वैचारिक रूप से एक होना होगा।

राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक एकता पर उनका विशेष बल है—‘उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है उसको आर्यक्षेत्र में फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं है।’ जो स्वयं प्रकाशित है उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं है बल्कि अंधकार को प्रकाश से दूर करना है। वैचारिक एवं मानसिक एकता वक्त की माँग है।

इस निबंध का एक मुख्य उद्देश्य सभी धर्मों, मतों एवं मान्यताओं को एक स्टेज पर लाना है। यह तभी संभव है जब सभी एक दूसरे का सम्मान करें। संकुचित विचारों एवं भावनाओं का त्याग करें। यह तभी हो सकेगा जब उदार भाव के साथ सभी से मिला-जुला जाय।

भारतेन्दु सिर्फ स्रष्टा ही नहीं युग द्रष्टा भी थे। वे युगीन यथार्थ की अभिव्यक्ति अभय होकर करते हैं। एक सर्जन की तरह उन्हें पता है कि समाज की मूल समस्या क्या है? इसका निदान कैसे हो सकता है? यह निबंध जिस उद्देश्य को केन्द्र में रखकर लिखा गया है निबंधकार को उसकी पूर्ति में पर्याप्त सफलता मिली है। आज से एक सौ छत्तीस वर्ष पूर्व इस निबंध की रचना हुई। उस समय जिन समस्याओं से समाज और राष्ट्र आन्दोलित था, वे समस्याएँ आज भी दूसरे रूपों में मौजूद हैं। भूख, गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, विपन्नता से लोग तब भी जूझ रहे थे आज भी जूझ रहे हैं। भारतेन्दु ने भूख को धर्म के विकास मार्ग की बहुत बड़ी बाधा माना, तथा भविष्य के प्रति सचेत किया—‘जब पेट भर खाने ही को न मिलेगा तो धर्म कहाँ बाकी रहेगा।’ आज भी भूख की भयावहता से देश ही नहीं दुनिया जूझ रही है। सच ही कहा गया है ‘भूखे भजन न होंहि गोपाला’। भूख को दूर करके ही भजन-भाव और धर्म का विकास संभव है। यह निबंध जहाँ एक ओर धर्म के प्राचीन स्वरूप को उद्घाटित करता है वहीं दूसरी ओर आधुनिक काल में नवीन भाव बोध के साथ धर्म की जगह ‘परमधर्म’ पर बल देता है। मानवधर्म सबसे श्रेष्ठ है। इसकी रक्षा की जानी चाहिए। उपासना पथ की पद्धति भले अलग-अलग हो, सबकी मंजिल एक है। अतः मूल मानव धर्म के विकास और प्रसार पर ध्यान देने की जरूरत है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. धर्म के विकास मार्ग की सबसे बड़ी बाधा क्या है?
2. इस निबंध का मूल उद्देश्य क्या है?
3. धर्म श्रेष्ठ है या परमधर्म?
4. आर्यक्षेत्र का क्या अर्थ है?
5. प्रकृत धर्म किसे कहते हैं?
6. उदरपूरण को सहज धर्म क्यों कहा गया है?

2.6.1 रिक्त स्थानों की पूर्ति करें-

- (क) पाश्चात्य प्रभाव से लोगों की बदलने लगी। (प्रवृत्ति/मनोवृत्ति)
- (ख) ऐश्वर्य रूपी हाथी से बाँधा जा सकता है। (रस्सी/रस्सा)
- (ग) धर्म की उन्नति के लिए जरूरी है। (बिखराव/एकता)
- (घ) धर्म मनुष्य को आपस में है। (बाँटता है/जोड़ता है)

2.7 वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध की भाषा शैली

साहित्य संवर्धन और भाषिक परिष्कार में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण रही। उन्होंने भाषा को व्यवस्थित रूप देकर, उसके स्थरीकरण हेतु स्तुत्य प्रयास किए। वे गंभीर अध्येता थे। भाव के अनुसार उनकी भाषा स्वतः ढलती चली गई है। जब वे वेद-पुराण के तथ्यों को उद्धृत करते हैं तब वहाँ संस्कृत के श्लोक तथा तत्सम प्रधान शब्दावली का प्रयोग करते हैं जैसे-‘यज्ञो वै विष्णुः’। आरंभ में तत्सम प्रधान शब्दों का प्रयोग अधिक है पर जैसे-जैसे निबंध आगे बढ़ता जाता है उनकी भाषा साफ सुथरी, खड़ी बोली के प्रवाहित रूप में सामने आती है। इसमें एक प्रवाह है।

उनकी शैली विषय-वस्तु के अनुरूप परिवर्तित होती गई है। कहीं वर्णात्मक, विश्लेषणात्मक, संस्मरणात्मक तो कहीं-कहीं भावात्मक और हास्य-व्यंग्य प्रधान है। उनके व्यक्तित्व के कई पहलुओं का दर्शन इनकी भाषा-शैली में किया जा सकता है। कथा शैली तथा भाषण शैली का भी ये यथोचित उपयोग करते हैं। इनके उद्धरण अतीत और आधुनिकता के बीच की प्रगतिशील सेतु है-‘ध्रुव प्रहादादि वैष्णव तो थे, किन्तु अब वे वैष्णवों की भाँति कंठी तिलक, मुद्रा न लगाते थे और माँस आदि नहीं खाते थे।’ एक तरफ वे धार्मिक ग्रंथों और पात्रों का उदाहरण देते हैं वहीं दूसरी तरफ उसे आज से तुलना भी करते हैं। अर्थात् क्या था और क्या है? दोनों बताते चलते हैं।

उस युग की एक बड़ी विशेषता थी हास्य-व्यंग्य की कुशल अभिव्यक्ति। भारतेन्दु के प्रहसन, मुकरी, नाटक, निबंध में उनके हास्य और व्यंग्य की बानगी देखी जा सकती है। इस निबंध में भी उन्होंने विषय में रोचकता लाने के लिए हास्य-व्यंग्य का सफल प्रयोग किया है-‘प्रथम तो गोस्वामीगण अपना रजोगुणी-तमोगुणी स्वभाव छोड़ेंगे तब काम चलेगा।’ जिस व्यंग्यात्मक अंदाज में यह बात कही गई है उसके

गहन-गंभीर अर्थ हैं। सत्, रज और तम ये जीवन की अवस्थाएँ हैं। ये परिवर्तनशील हैं। सत उन्नति का प्रतीक है जबकि तम अवनति का। भारतेन्दु धर्म, दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान, इतिहास, साहित्य और नाना विषयों के ज्ञान से परिपूर्ण थे। यही कारण है कि उनकी भाषिक कौशल के विविध रूप से हम परिचित होते हैं।

आरंभिक दौर में खड़ी बोली इतनी परिष्कृत नहीं थी, जितनी आज है। यही कारण है कि उस समय लोक प्रचलन में प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग भी इस निबंध में देखने को मिलता है। इनके शब्द भंडार काफी विस्तृत हैं।

हिंदी को 'नई चाल' में ढालने वाले भारतेन्दु को भाषा का 'भागीरथ' कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इनसे पूर्व कविता में ब्रजभाषा तथा गद्य में उर्दू फारसी के शब्दों का जोर था। लेकिन इनकी श्रम-साधना का ही प्रतिफल रहा कि खड़ी बोली गद्य की भाषा के रूप में पूर्णतः स्थापित हुई।

2.8 भारतेन्दु का भाषिक ज्ञान काफी समृद्ध था

संस्कृत के श्लोकों का प्रयोग-

1. 'आपो नरा इति प्रोक्ता आपो वैनरसूनवः' जल ही नर पुत्र है।
2. 'यज्ञो वै विष्णुः' - यज्ञ विष्णु ही हैं।
3. 'जीविकार्थं चापण्ये वासुदेवकः'- जीविका के लिए वासुदेवक बाजार जाता है।
4. 'कृष्ण नमेच्येत सुखं यायात्' - जब तक सुख है कृष्ण को नमन करता हूँ।
5. 'वासुदेव भक्तिरस्य वासुदेवकः' - वासुदेव ही भक्ति रस के वासुदेवक हैं।
6. 'स्मरेत पुडरीकाक्ष', 'ब्राह्मणो मामकीर्तनः'- ब्राह्मण कीर्तन में मुझ विष्णु का स्मरण करें।
7. "ध्येय सदा सवितृ मंडल मध्यवर्ती नारायणः सरसिजाः - मानस में सन्निविष्टता ही विष्णु का परम कर्म है।

यत्र गावो भूरिश्रृंगाः इदंविष्णुर्विचक्रमे।" जहाँ भूरिश्रृंग गाये हैं, वहीं भगवान विष्णु का स्थल होता है।

- **तत्सम शब्दों का प्रयोग-** कोटिब्रह्मांडनायक, त्रिविन, निर्माल्य, शाक्त, आयोचित, कर्मकांड, आध्यात्मिक, कष्ट, प्रकृत, उपार्जन, मनोवृत्ति, इत्यादि।
- **तद्भव शब्दों का प्रयोग-** चुआना, तिहवार, छपना, छप्पर, ब्याह, चन्दा, हड्डी, डोरी, खसकी
- **अंग्रेजी शब्द-** रेल, सर्विस, वैरिस्टरी, इंजीनियरी
- **उर्दू -** फारसी के शब्दों का प्रयोग - लिफाफा, मर्दुमशुमारी, कागज, इम्तिहान, विलायत इत्यादि।
- **मुहावरे और लोकोक्तियाँ -** अपनी खिचड़ी अलग पकाना, सात कनौजिया नौ चूल्हे, दिन छप्पर पर गए, पसीना चुआना, आदि।
- **बिम्ब और प्रतीक का प्रयोग-** "वैष्णव, शैव, ब्रह्म, आर्यसमाजी सब अलग-अलग पतली-पतली डोरी हो रहे हैं, इसी से ऐश्वर्य रूपी मदमस्त हाथी उनसे नहीं बँधता। इन सब डोरी को एक में बाँध

कर मोटा रस्सा बनाओ, तब यह हाथी दिग्दिगन्त भागने से रुकेगा।”

- सूत्र वाक्यों का प्रयोग- “भारतवर्ष का प्रकृत मत वैष्णव ही है।”
- “वह भारतवर्ष की हड्डी लहू में मिल गया है।”
- “जिस भाव से हिंदू मत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा।”
- “उपासना एक हृदय की रत्न वस्तु है।”

इस निबंध के आलोक में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु की भाषा-शैली इस निबंध में व्यवस्थित, परिष्कृत, विषयानुरूप, प्रवाहयुक्त तथा युगानुरूप है। आरंभ में संस्कृतनिष्ठ है किन्तु निबंध के अंत में खड़ी बोली हिंदी का विकसित रूप प्रयुक्त हुआ है। उनकी भाषा भाव के अनुकूल है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भारतेन्दु की भाषिक कौशलता के संबंध में कहते हैं कि- “प्राचीन और नवीन का ही सुंदर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है।” जबकि रामस्वरूप चतुर्वेदी की मान्यता है कि “कविता में उनका संस्कार है गद्य में विचार।” इस प्रकार गद्य में विषय के अनुरूप वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, व्यंग्यात्मक तथा उद्बोधनात्मक है। समग्रता में, भाषिक परिष्कार, विधा संवर्धन, साहित्य-समृद्धि, विषय-वस्तु का विकास, सामाजिक संवेदना का समाहार, खड़ी बोली का परिष्कृत प्रयोग, भाषा स्थरीकरण भारतेन्दु की भाषा शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध का सारांश लिखिए।

प्रश्न 2. वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध की वर्तमान प्रासंगिकता पर विचार कीजिए।

प्रश्न 3. वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध का उद्देश्य क्या है? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4. वैष्णवता और भारतवर्ष निबंध की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 5. अभिप्राय स्पष्ट कीजिए/आशय स्पष्ट कीजिए-

1. वैष्णवता ही भारतवर्ष का मत है और वह भारतवर्ष की हड्डी लहू में मिल गया है।
2. जिस भाव से हिंदू मत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा।
3. अपना परमधर्म यह रक्खो कि आर्य जाति एका हो।
4. उपासना हृदय की रत्न वस्तु है।
5. भारतवर्ष का प्रकृत मत वैष्णव ही है।

संदर्भ ग्रंथ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल
2. भारतेन्दु और उनका युग - डॉ. रामविलास शर्मा

3. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - डॉ. नामवर सिंह
4. हिंदी का गद्य साहित्य - रामचन्द्र तिवारी
5. हिंदी गद्य : विन्यास और विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी
6. हिंदी भाषा एवं साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास, गोविंद पाण्डेय एवं सरस्वती पाण्डेय
7. हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, संपा. विश्वनाथ त्रिपाठी।

3. 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'?

(आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)

डॉ. हिमांशी श्रीवास्तव
गेस्ट टीचर,
मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

3.1 प्रस्तावना

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भारतीय मनीषा के प्रतीक और साहित्य एवं संस्कृति के अप्रतिम व्याख्याकार माने जाते हैं। आचार्य द्विवेदी अपने निबंधों के लिए विशेष रूप से प्रतिष्ठित हैं। द्विवेदी जी के सभी निबंधों में केन्द्रीय विषय 'मनुष्य' है उनके विचार में मानव समाज को सभ्य व सुन्दर बनाने की साधना ही साहित्य है। उनके सभी निबंधों का एक ही सार है कि मनुष्य की मनुष्यता यही है कि वह दुःख-सुख को सहानुभूति के साथ देखता है। यह आत्म-निर्मित बंधन मनुष्य को मनुष्य बनाता है।

द्विवेदी जी ललित निबंध के जनक माने जाते हैं। निबंध कला की दृष्टि से ललित निबंध श्रेष्ठतम है। इनके ललित निबंधों में भाव एवं अनुभूति की धारा प्रवाहित होती रहती है, जो गहन संवेदना से परिपूर्ण है। यही भाव, अनुभूति और संवेदना का मिश्रण मिलकर पाठक के विचारों में ज्वार-भाटा उत्पन्न कर देता है।

'नाखून क्यों बढ़ते हैं'? यह भी एक ललित निबंध है जिसमें द्विवेदी जी नाखून के माध्यम से मनुष्य के हिंसक प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए मनुष्यों को 'स्व बंधन' के गुणों को विकसित करने का सुझाव देते हैं। इस विषय पर आगे हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

3.2 अधिगम के उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर आप—

- आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व एवं साहित्यिक परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'? निबंध के उद्देश्य एवं प्रतिपाद्य को जान सकेंगे।
- इस निबंध की प्रासंगिकता और व्यावहारिकता को समझ सकेंगे।
- इस निबंध के संरचना-शिल्प एवं सुझाव से भी परिचित होंगे।

3.3 जीवन-परिचय

इनका जन्म 1907 ई. में उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में हुआ था और इनकी उच्च शिक्षा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पूर्ण हुई थी। इसके उपरान्त इन्होंने शांति निकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सान्निध्य में हिन्दी का अध्यापन कार्य किया था। बाद में कुछ समय तक बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और

पंजाब विश्वविद्यालय में भी अध्यापन कार्य किया। इन्होंने संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के साहित्य का गहन अध्ययन किया था और बंगला आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य से भी भली-भाँति परिचित थे। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की दृष्टि आधुनिक थी इसलिए पांडित्य के साथ-साथ आधुनिक चिंतन दृष्टि इनके लेखन की खास विशेषता है। इनके लेखन की धुरी साहित्य का इतिहास एवं आलोचना है। विशेष रूप से प्राचीन और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का इनका अध्ययन अत्यंत गंभीर और मौलिक है। बाद में ये उपन्यास और निबंध लेखन की ओर भी प्रवृत्त हुए। इन्होंने सभी उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखे हैं। इनकी रुचि अतीत के सांस्कृतिक चित्रण की ओर अधिक रही है। इनके लेखन में व्यापक मानवतावादी दृष्टि प्रतिबिंबित हुई है। इन्होंने जिस ललित निबंध नामक शैली का विकास किया वह आचार्य शुक्ल की शैली से अलग है लेकिन उतनी ही महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। इनका निधन 1979 में हुआ।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी का सहज और सरल व्यक्तित्व एक साहित्यकार, आलोचक, उपन्यासकार, निबंधकार और कवि के रूप में अद्भुत था। द्विवेदी जी एक उच्च कोटि के अनुसंधाता, आलोचक, निबंध और विचारक थे। आधुनिक युग के गद्यकारों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इनकी साहित्यिक सेवाओं का आकलन इस प्रकार से किया जा सकता है—

1. **निबंधकार के रूप में** - द्विवेदी जी के निबंधों में साहित्य और संस्कृति की अखण्ड धारा के साथ-साथ नित्यप्रति जीवन की विविध गतिविधियों, क्रिया-व्यापारों, अनुभूतियों आदि का चित्रण भी अत्यंत सजीवता और मार्मिकता के साथ हुआ है।
2. **आलोचक के रूप में** - इनकी आलोचनात्मक कृतियों में विविधता और अध्ययनशीलता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।
3. **उपन्यासकार के रूप में** - द्विवेदी जी के द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण उपन्यास सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित उनके गंभीर विचार-शक्ति के प्रमाण हैं। इतिहास और कल्पना के जोड़ से द्विवेदी जी ने अपने उपन्यास-साहित्य को अत्यन्त ही आकर्षक एवं प्रभावशाली रूप प्रदान किया है।
4. **ललित निबंधकार के रूप में** - एक ललित निबंधकार के रूप में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी अग्रणीय हैं। हिन्दी गद्य साहित्य में ललित निबंध को सुव्यस्थित रूप प्रदान करने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उनके ललित निबंधों में रसास्वादन की अपूर्व क्षमता है। उनमें भावुकता, सरलता और कोमलता के साथ-साथ आवेगपूर्ण प्रतिपादन की शैली विद्यमान है। ललित निबंध के क्षेत्र में वे युग-प्रवर्तक लेखक हैं।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने इनके निबंधों की विशेषता बताते हुए लिखा है कि “द्विवेदी जी बहुश्रुत हैं और कथाकौतुकी भी। उनके निबंधों का सबसे मुख्य गुण है किसी एक विषय को लेकर अनेक विचारों को छेड़ देना जिस प्रकार वीणा के एक तार को छेड़ने से बाकी सब तार झंकृत हो उठते हैं, उसी प्रकार उस एक विषय को छूते ही लेखक चित्र बन उठते हैं।”

उनके निबंधों में अनेक विधाओं के ज्ञान-भण्डार हैं। उनमें इतिहास, पुरातत्त्व, ज्योतिष, दर्शन और शास्त्रों का सुगम सार-संग्रह है। ज्ञान-गरिमा के साथ लालित्य का इन्होंने अद्भुत-योग किया है।

इनकी भाषा शुद्ध, प्रौढ़ तथा पारिभाषित खड़ी बोली है। इन्होंने अंग्रेजी, उर्दू, फारसी के अत्याधिक प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। इनकी भाषा उच्च कोटि की है।

इनकी रचनाओं में निम्नलिखित शैलियाँ देखने को मिलती हैं— विवेचनात्मक शैली, गवेषणात्मक शैली, आलोचनात्मक शैली, भावात्मक शैली, आत्मपरक शैली। इसके अतिरिक्त चिन्तनपरक गम्भीर शैली, इतिवृत्तात्मक शैली आदि।

हिन्दी-साहित्य में स्थान

इनकी कृतियाँ हिन्दी साहित्य की शाश्वत धरोहर हैं। आचार्य जी जितनी ऊँचाई के गरिम-गंभीर पंडित थे, उतनी ही उत्कृष्टता के रम्य ललित रचनाकार भी, अथक अतलान्तक शोधक, महनीय-विशद-उदार मानवतावादी भी। साहित्य, संस्कृति, कला, रूप राग और लोक तत्त्व की चर्चा द्विवेदी जी के बिना पूरी नहीं हो सकती है।

आधुनिक युग के साहित्यकारों में हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा।

द्विवेदी जी द्वारा रचित प्रमुख पुस्तकें हैं—

इतिहास और आलोचना से संबंधित— 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास', 'कबीर', 'सूर साहित्य', 'नाथ साहित्य', 'मध्ययुगीन धर्म साधना, प्राचीन भारत में कलात्मक विनोद' तथा 'कालीदास की लालित्य योजना'।

उपन्यास— 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारू चंद्रलेख', 'पुनर्ववा' और 'अनामदास का पोथा'।

निबंध संग्रह— 'अशोक के फूल', 'विचार और वितर्क', 'कल्पलता', 'कुटज', 'आलोक पर्व' 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' निबंध 'कल्पलता' पुस्तक में संकलित है।

सन् 1949 में लखनऊ विश्वविद्यालय ने इन्हें डी.लिट्. तथा सन् 1957 ई. में भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' की उपाधि से विभूषित किया।

कबीर पर उत्कृष्ट आलोचनात्मक कार्य के लिए इन्हें 'मंगलाप्रसाद' पारितोषिक प्राप्त हुआ। इसके साथ ही 'सूर साहित्य' पर 'इन्दौर साहित्य समिति' ने 'स्वर्ण पदक' प्रदान किया।

3.3.1 प्रश्नों की जाँच स्वयं करना—

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिये।

- (क) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निबंध की कौन-सी शैली का विकास किया था?
- (ख) इनके लेखन की धुरी का मुख्य विषय क्या है?
- (ग) इनके लेखन में कौन-सी दृष्टि प्रतिबिंबित हुई है?

2. निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये।

- (क) इन्होंने सभी उपन्यास पृष्ठभूमि पर लिखे हैं। (सांस्कृतिक/ऐतिहासिक)
- (ख) इन्होंने.....आदि भाषाओं के साहित्य का गहन अध्ययन किया था। (संस्कृत और अपभ्रंश/बंगला और उर्दू)
- (ग) इनकी उच्च शिक्षा.....से पूर्ण हुई थी। (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय/पंजाब विश्वविद्यालय)
- (घ) इन्हें डी.लिट्. की उपाधि..... ने दी। (लखनऊ विश्वविद्यालय/बनारस विश्वविद्यालय)

3.4 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'? निबंध का प्रतिपाद्य

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित यह एक ललित निबंध है। इस निबंध का मुख्य विषय विश्व-शांति का संदेश प्रसारित करना है। इसके साथ ही द्विवेदी जी इसके माध्यम से मनुष्य की आंतरिक पशुता और सामान्य मानव धर्म पर भी विचार करते हैं।

इस निबंध में द्विवेदी जी नाखून के बढ़ने मनुष्य की हिंसक वृत्ति पर विचार करते हुए गंभीरता से इस प्रश्न को उठाते हैं कि क्या कारण है कि इतनी भौतिक उन्नति के बाद भी मनुष्य अपनी बर्बर मनोवृत्तियों से मुक्त नहीं हो पाया है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि जब इंसान आत्म नियंत्रण वाले गुणों को भूलता है, तभी यह स्थिति उत्पन्न होती है और इस बात का प्रमाण है नित नये हथियारों का अविष्कार और उसका बढ़ता हुआ जखीरा।

हम सब जानते हैं कि लगभग छः वर्षों तक दूसरा विश्वयुद्ध चलता रहा था जिसमें पूरे यूरोप और एशिया के कई देश, अमरीका आदि शामिल थे। करोड़ों लोग असमय काल के गाल में समा गये थे। युद्ध के आखिरी चरण में अमरीका ने जापान के दो शहरों को एटम बम से नष्ट कर दिया था। यद्यपि 1945 में विश्वयुद्ध समाप्त हो गया किंतु दुनिया से युद्ध का खतरा समाप्त नहीं हुआ।

इसके विपरीत पूरा विश्व दो खेमों में बंट गया। एक खेमे का नेतृत्व अमेरिका कर रहा था जबकि दूसरे का सोवियत संघ। दोनों ओर जोरों से युद्ध की तैयारियाँ होने लगी। नये-नये अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण होने लगा। इस परिस्थिति से तीसरे विश्वयुद्ध का खतरा उत्पन्न हो गया। ऐसे में विश्व की शांतिकामी जनता ने युद्ध की तैयारियों के विरुद्ध आवाज उठाई। विध्वंसक हथियारों पर रोक लगाने की माँग होने लगी।

शांति के पक्ष में उठी इस आवाज का समर्थन लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों ने भी किया। लेखकों ने अपनी लेखनी के माध्यम से कविता, कहानी, उपन्यास और निबंध आदि लिखकर युद्ध का विरोध करते हुए शांति के पक्ष में प्रचार किया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह निबंध इसी शांति अभियान का एक अंग है और इसका उद्देश्य विश्व-शांति की ज़रूरत को प्रतिष्ठित करना है।

युद्ध का खतरा और मानव जाति के विनाश की संभावना आज पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा है और इस दृष्टि से निबंध की प्रासंगिकता और महत्त्व भी बढ़ जाता है। इस प्रश्न को व्यापक मानवीय संदर्भ में

प्रस्तुत करते हुए द्विवेदी जी इस प्रश्न को मनुष्यत्व और पशुत्व से जोड़कर इसके नैतिक पक्ष की भी उजागर करते हैं।

इस निबंध में अपने पक्ष का समर्थन करते हुए द्विवेदी जी महात्मा गाँधी के आदर्शों को प्रस्तुत करते हुए यह कहते हैं कि गाँधी जी ने ब्रिटिश दासता के विरुद्ध संघर्ष में भी सत्य और अहिंसा का मार्ग नहीं छोड़ा था और प्रेम, तपस्या और त्याग द्वारा विरोधी के हृदय-परिवर्तन की बात भी कही थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, गाँधी जी के इन मानवीय आदर्शों से अत्यंत प्रभावित थे और अपने इस निबंध में उन्हीं आदर्शों को मनुष्यत्व की पहचान के रूप में स्थापित किये हैं।

संसार के सभी प्राणियों में मानव सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। मानव की श्रेष्ठता उसके विवेक और बुद्धि से स्थापित होती है। ईश्वर ने मानव को विवेक के माध्यम से चुनाव करने की क्षमता भी प्रदान की है। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर मनुष्यत्व और पशुत्व यह दोनों प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। किसी के अन्दर मनुष्यत्व की प्रधानता होती है तो किसी के अन्दर पशुत्व की प्रधानता होती है और यही पशुत्व की प्रवृत्ति विनाशकारी अस्त्रों का निर्माण एवं युद्ध को जन्म देते हैं जिसका परिणाम अशांति और विनाश ही होता है द्विवेदी जी के विचार में पशुता मनुष्य की एक ऐसी प्रवृत्ति है जो उसके बर्बर युग का अवशेष कही जा सकती है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव ने प्रेम, श्रद्धा, त्याग, तपस्या और संवेदना आदि जैसे गुणों का विकास भी किया है। लेकिन इनका प्रयोग मनुष्य तभी कर सकता है जब वह 'स्व के बंधन' को स्वीकार करें। 'स्व' का अर्थ है मनुष्य के वे सामान्य गुण जिससे वह पशु से अलग अपनी पहचान बनाते हैं।

इस निबंध के माध्यम से द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति की सबसे महान विशेषता 'स्व का बंधन' की बात की है। वह इस विशेषता की व्याख्या करते हुए यह संदेश देते हैं कि आत्मानुशासन के द्वारा मानव हिंसा, क्रोध, घृणा आदि से बच सकता है।

इस प्रकार द्विवेदी जी का यह निबंध पशुता और मनुष्यता के अंतर को उजागर करते हुए विश्व-शांति का संदेश देता है साथ ही हमें यह भी बताता है कि मनुष्य होने के नाते हमारा परम कर्तव्य है कि हम अपने मानव धर्म का पालन करें, वह मानव धर्म जिसका आधार प्रेम, दया, परोपकार एवं सहिष्णुता हो क्योंकि ईश्वर ने हमें सभी प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ प्राणी 'मानव' बनाया है और यह विवेक भी दिया है कि हम अपनी मानवता का चुनाव करें नाकि दानवता का।

3.4.1 प्रश्नों की स्वयं जाँच करना—

1. निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर सही या गलत में दीजिए—

(क) इस निबंध का मुख्य विषय विश्व-शांति का संदेश प्रसारित करना है। (सही/गलत)

(ख) जब इन्सान आत्म-नियंत्रण वाले गुणों को भूलता है तभी वह पशुता की ओर प्रस्थान करता है। (सही/गलत)

2. सही शब्द चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

- (क) सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव ने,,
....., तपस्या आदि जैसे गुणों का विकास भी किया है।
(प्रेम, घृणा, श्रद्धा, लालच, त्याग, निन्दा, संवेदना)
- (ख) इस निबंध के माध्यम से द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति की सबसे महान विशेषता
..... की बात की है। (स्व का बंधन, स्वतंत्रता)
- (ग)के द्वारा मानव हिंसा, क्रोध घृणा आदि से बच सकता है।
(अनुशासन, आत्मानुशासन)

3.5 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'? निबंध की समीक्षा

निबंध चिंतन प्रधान रचनात्मक विधा होने के साथ-साथ सर्वाधिक प्रौढ़ विधा है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यतानुसार निबंध विधा गद्य की कसौटी है। इस कसौटी को परखने के लिए उस विधा के मूल्यांकन संबंधी कुछ बिंदुओं को भी स्वीकारना होता है जिसके द्वारा हम उस रचना को परख सकते हैं। विद्वानों ने मूल्यांकन हेतु कुछ मानक बनाये हैं जिसके द्वारा किसी रचना का विश्लेषण किया जा सकता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्वारा रचित निबंध 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'? की समीक्षा उन्हीं मानकों के अनुसार प्रस्तुत है। द्विवेदी जी द्वारा रचित यह निबंध ललित-निबंध है। जिसमें 'नाखून' के बढ़ने की प्रवृत्ति के माध्यम से कुछ अधिक महत्वपूर्ण सवालों पर विचार करना है। इस निबंध में लेखक के द्वारा उन्हीं महत्वपूर्ण प्रश्नों पर एक भाववादी की तरह विचार किया गया है, दूसरों शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि एक बुद्धिवादी की तरह द्विवेदी जी 'नाखून' के माध्यम से हमें अपनी हिंसक प्रवृत्ति को नियंत्रित रखने का सुझाव देते हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता इस निबंध की यह है कि यह हमें 'स्व के बंधन' के विकास के लिए प्रेरित करता है और हमारे भावों को भी उद्वेलित करता है। आइए इन सभी पक्षों को हम यहाँ विस्तार से समझने का प्रयास करें।

इस निबंध के विचार पक्ष को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निबंध की शुरुआत एक छोटे बच्चे की जिज्ञासा से होती है। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'? यह सामान्य सा प्रश्न तब बहुत ही खास बन जाता है जब लेखक इस प्रश्न में अंतर्निहित उसके व्यापक अर्थ को खोलता है वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नाखूनों का कोई उपयोग नहीं है जो उसके होने की अपरिहार्यता को सिद्ध करे। लेकिन मानव इतिहास में जब मनुष्य अपनी बर्बर अवस्था में वनमानुस रहा होगा तब अपनी रक्षा और शिकार के लिए दाँतों और नाखूनों का इस्तेमाल भी करता होगा। लेकिन आज नाखूनों का होना अर्थहीन है। फिर भी नाखून बढ़ते हैं। उनका बढ़ना अच्छा नहीं माना जाता, इसलिए लोग उसे काट देते हैं। इसलिए बढ़े हुए नाखून असभ्यता और जंगलीपन की निशानी समझे जाते हैं।

मानव प्रगति और हथियारों के विकास के सन्दर्भ में आपने निबंध के माध्यम से इस बिन्दु पर आकर द्विवेदी जी एक नया प्रश्न उठाते हैं। अगर मनुष्य सचमुच बर्बरता के चिह्नों से आजादी चाहता है तो फिर वह

हथियारों का निर्माण क्यों कर रहा है? किसी समय में मनुष्य अपनी रक्षा एवं अपने वंश वृद्धि के लिए नख और दाँत का प्रयोग करता था, जिसे हम आदी मानव का युग कहते हैं, या पाषाण काल कहते हैं फिर पत्थर, लकड़ी और हड्डियों का इस्तेमाल करने लगा जो नव पाषाण युग कहलाया। फिर लौह युग आया, बारूद का अविष्कार हुआ और अब एटम बम का युग है। हथियारों के इस विकास को देखें तो यह समझा जा सकता है कि जिस यात्रा का आरंभ स्वयं को जीवित रखने के लिए हुआ था, वही यात्रा अपने चरमोत्कर्ष पर आकर स्वयं को शक्तिशाली सिद्ध करने पर पहुँच चुका है। मनुष्य अधिक-से-अधिक विध्वंसक हथियार बनाने की ओर बढ़ता जा रहा है। हिरोशिमा और नागासाकी का उदाहरण हमारे सामने हैं जहाँ एटम बमों ने लगभग दो लाख लोगों को कुछ ही मिनटों में मौत की नींद सुला दिया था। फिर कैसे माना जाए कि मनुष्य अपने हिंसक प्रवृत्ति से मुक्ति चाहता है?

निबंध की शुरुआत में ही द्विवेदी जी एक सामान्य बाल जिज्ञासा को संपूर्ण मानवजाति से जुड़े प्रश्न से जोड़े देते हैं। द्विवेदी जी का यह तरीका शुक्ला जी के एकदम विपरीत है। द्विवेदी जी अपने विषय को धीरे-धीरे खोलते हैं। उनके निबंध के विचारों में कोई तार्किक क्रम नहीं होता ना ही वे उनमें एकता और संगति लाने का प्रयास करते, फिर भी उसमें विचारों की आंतरिक एकता और तार्किक संगति हमेशा बनी रहती है। उनकी पद्धति काफी स्वतंत्र है। अपने विचारों को उत्तेजित करने के लिए पर्याप्त सामग्री रखते हैं। इस वृद्धि से देखा जाये तो इस निबंध में उन्होंने निम्नलिखित बिंदुओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है—

- मानव उन्नति और हथियारों का अविष्कार
- विलासवृत्ति का सकारात्मक पक्ष
- मनुष्य की अभ्यास-जन्य सहज वृत्तियाँ
- स्व का बंधन
- पुराने का महत्त्व
- मानव धर्म और मनुष्यता की पहचान
- भौतिक उन्नति और अध्यात्मिक उन्नति

इन सभी विचार बिंदु का एक ही लक्ष्य है और वह है विश्व-शांति को कैसे स्थापित किया जाये। द्विवेदी जी अपने निबंध में मूल मंतव्य को पकड़ते हैं। उदाहरण के लिए नाखूनों को सजाने संवारने के पक्ष को देखें तो इसका मूल मंतव्य से कोई संबंध नहीं है। इसका तो मूल मंतव्य मनुष्य की पाशिवक वृत्ति को उजागर करते हुए मानव धर्म की पहचान कराना है। अपने निबंध के माध्यम से द्विवेदी यह जानकारी देते हैं कि आज से दो हजार साल पहले भारत में नाखून को सजाने संवारने की कला का विकास भी हुआ था। यहाँ यह संकेत दिया गया कि नाखूनों को संवारने का संबंध मनुष्य की विलास वृत्ति से रहा है कि जो वस्तुएँ मनुष्य को पतन की ओर ढकेलती हैं उनको भी भारतीय परंपरा ने कला का रूप देकर मनुष्यत्व के अनुकूल बनाने का प्रयास किया है। नाखून का यह संदर्भ इस निबंध के मूल मंतव्य से सीधा नहीं जुड़ा है लेकिन द्विवेदी जी की यही मूल विशेषता है कि वे असंबद्ध विषय में भी एक तार्किक संगति प्रस्तुत कर देते हैं।

मनुष्य की अभ्यासजन्य सहज वृत्तियों के माध्यम से द्विवेदी नाखून के बढ़ने को और हथियारों के निर्माण को पशुत्व की निशानी मानते हैं। इस प्रश्न पर अपने चिंतन को आगे बढ़ाते हुए वे प्राणी विज्ञान के एक सिद्धांत का सहारा लेते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य के शरीर में कुछ ऐसी अभ्यासजन्य वृत्तियाँ हैं जिन्हें न सीखना होता है न ही उसे अलग से कोई प्रयास करना पड़ता है। जैसे बालों का बढ़ना, नाखूनों का बढ़ना, पलकों का उठना-गिरना आदि। इनमें से कुछ वृत्तियों की अब आवश्यकता नहीं है। लेकिन लाखों वर्षों के अभ्यास के कारण वे वृत्तियाँ अब भी सक्रिय हैं। किसी समय शारीरिक और रक्षात्मक आवश्यकता ने उन वृत्तियों को उत्पन्न किया होगा। इन्हें ही द्विवेदी जी ने अनजान की स्मृतियाँ कहा है। नाखून बढ़ना ऐसी ही सहजात वृत्ति है जो उस अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है जब मनुष्य पशु के समान जीवन व्यतीत करता था अर्थात् आदी मानव। मनुष्य इस बात को आज भूल गया है कि नाखूनों का बढ़ना उसी पशुत्व का प्रमाण है। ऊपर से मानव सभ्य हो गया है लेकिन भीतर से पशुत्व का चिह्न अब भी विद्यमान है जिसे वह बढ़ने पर काट देता है।

यहाँ द्विवेदी जी इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि मनुष्य ने मनुष्यता को अभी तक नहीं अपनाया है। निबंध को आगे बढ़ाते हुए इस समस्या का समाधान देने का प्रयत्न करते हैं जिसको वे 'स्व का बंधन' जो भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता है, के माध्यम से समझाते हैं। 'मनुष्य को दानव से मानव कैसे बनाया जाए।' इसकी चर्चा की शुरुआत अंग्रेजी के एक शब्द 'इंडिपेंडेस' के भारतीय पर्याय से करते हैं। इंडिपेंडेस का अर्थ है अधीनता और अधीनता का अर्थ है "किसी के अधीन ना होना।" और इसका भारतीय पर्याय है स्वाधीनता या स्वतंत्र जिसका अर्थ है—“स्वयं के अधीन या स्वयं पर नियंत्रण।” और यही हमारी भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता है जिसके द्विवेदी जी पक्षधर हैं और मनुष्य को भीतर से भी मनुष्य बनने के लिए इस 'स्व का बंधन' आवश्यक मानते हैं।

द्विवेदी जी कालिदास के मत का उल्लेख करते हुए इस निबंध में यह भी स्पष्ट करते हैं कि अगर हमारे अतीत के कोष में मानव जाति की भलाई की कोई बात हो तो हमें उसे अवश्य ही स्वीकारना चाहिए।

मानव धर्म और मनुष्यता की पहचान के विषय में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो बात मनुष्य को मनुष्य बनाती है वह संयम, श्रद्धा, तप, त्याग और दूसरों के दुःख-सुख के प्रति संवेदना है। निश्चय ही ये ऐसे धर्म हैं जिन्हें स्वीकार करने के लिए मनुष्य बाध्य नहीं है लेकिन इन गुणों को स्वीकार करने के उपरांत ही वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है।

भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति के सन्दर्भ में द्विवेदी जी महात्मा गाँधी के विचारों का समर्थन करते हुए स्पष्ट करते हैं कि सिर्फ भौतिक उन्नति से सुख और शांति नहीं मिल सकती। अपने मन को भी बदलना आवश्यक है, मन से हिंसा, क्रोध, द्वेष और असत्य को दूर करना, दूसरों के लिए जीना सीखना, दूसरों के लिए कष्ट सहन करना होगा। द्विवेदी जी के अनुसार गाँधी जी ने ये बातें उपदेशक की तरह नहीं कही थी, वरन् इन बातों को अपने व्यवहार में भी ढाल लिया था। लेकिन जिनके मन में हिंसा, द्वेष, क्रोध और बैर का भाव था उन्होंने गाँधी जी की हत्या कर दी।

आगे द्विवेदी जी कहते हैं कि हो सकता कि किसी दिन नाखून बढ़ना बंद हो जाए क्योंकि जो हमारे लिए गैर-ज़रूरी है प्रकृति उसे हमसे अलग कर देती है जैसे पूँछ। यह भी संभव है जब मनुष्य अपने पशुत्व

पर विजय प्राप्त कर ले तब वह विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण बंद दे। परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता तब तक हमें बच्चों को यह सिखाना होगा कि नाखून का बढ़ना पशुत्व का प्रमाण है उसको बढ़ाना मनुष्य का आदर्श नहीं है।

मनुष्य जीवन तभी सार्थक है जब वह प्रेम, मैत्री और त्याग के मार्ग पर चले और सबके कल्याण के लिए स्वयं को समर्पित कर दे। नाखून का बढ़ना हिंसक वृत्ति का बढ़ना है जो मनुष्य की सहज वृत्ति का परिणाम हो सकता है लेकिन उससे मुक्त होने का प्रयास ही मनुष्यत्व की पहचान है।

इस तरह द्विवेदी जी नाखून बढ़ने के सवाल से मनुष्य की हिंसक वृत्ति को जोड़ते हैं और हिंसक वृत्ति के सवाल को हथियारों की बढ़ोतरी से। वह यह स्पष्ट करते हैं कि हथियारों के वृद्धि से मानव जाति का अस्तित्व समाप्त हो सकता है। अंत मानव जाति के अस्तित्व के रक्षा हेतु आत्म-नियंत्रण का मार्ग सर्वश्रेष्ठ है और इसी मार्ग से हम अपनी पशुत्व के अवगुण से मुक्त हो सकते हैं। इस निबंध से हमें यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को मनुष्य बनने के लिए उसे प्रेम, दया और मानव धर्म का पालन करना चाहिए तभी विश्व-शांति और विश्व-कल्याण का सपना साकार हो सकता है। और मनुष्य अपने मनुष्यत्व की यात्रा से आगे बढ़कर देवत्व के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है और यह शत-प्रतिशत संभव है बस मनुष्य को अपने स्व के बंधन को विकसित करना होगा।

इस निबंध के भाव पक्ष को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि नाखून बढ़ना भले ही शारीरिक क्रिया हो, लेकिन पशुता और मनुष्यता, मनुष्य के आंतरिक भाव हैं। द्विवेदी जी की चिंता का मुख्य कारण मानव की मनोवृत्तियाँ रही हैं। प्रत्येक मनुष्य में दो तरह की वृत्तियाँ होती हैं। एक वृत्ति प्रेम की होती है और दूसरी वृत्ति घृणा की। जब घृणा और क्रोध, बैर वाली वृत्ति बढ़ती है तो लोगों के बीच में, समुदायों, जातियों और राष्ट्रों के बीच में भी हिंसा और युद्ध की स्थिति बन जाती है। मनुष्य की यह हिंसक वृत्ति ही हथियारों एवं बमों का अविष्कार करवाती है, लाखों निर्दोष लोग मारे जाते हैं।

इन सभी समस्याओं के समाधान हेतु द्विवेदी जी अपने विचार भावनाओं के धरातल पर देते हैं। उनका विचार है कि अगर क्रोध, हिंसा, घृणा और पाश्विक वृत्तियाँ मनुष्य में मौजूद हैं तो सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य ने कुछ ऐसी भावनाओं और धारणाओं को भी अंगीकार किया है जिनसे वह अपनी पशुत्व पर विजय प्राप्त कर सके। दूसरों के प्रति संवेदनशीलता, प्रेमभाव, त्याग, समर्पण ये ऐसी भावनायें हैं जिनसे मनुष्य अपने पशुत्व पर विजय पा सकता है।

इस प्रकार इस निबंध में दो भिन्न तरह की भावनाओं का संघर्ष दिखाया गया है इस निबंध में द्विवेदी जी की प्रबल चिंता का विषय मनुष्य की पाश्विक वृत्ति है। जिसके कारण नकारात्मक भाव उत्पन्न होता है और मनुष्य विनाशकारी अविष्कारों का जनक बन जाता है।

द्विवेदी जी की पद्धति विचार-प्रधान नहीं है, परन्तु वह भावों में भी नहीं बहते। उनके निबंधों में विचार और भाव का सुंदर तालमेल देखने को मिलता है इसको हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं-

“मेरा मन पूछता है किस ओर? मनुष्य किस ओर बढ़ रहा है। पशुता की ओर या मनुष्यता की ओर? अस्त्र बढ़ाने की ओर या अस्त्र काटने की ओर। मेरी निर्बोध बालिका ने मानो मनुष्य जाति से ही प्रश्न किया है जानते हो, नाखून क्यों बढ़ते हैं? यह हमारी पशुता के अवशेष हैं। मैं भी पूछता हूँ-जानते हो, ये अस्त्र-शस्त्र क्यों बढ़ रहे हैं? ये हमारी पशुता की निशानी हैं।”

यहाँ स्पष्ट है कि लेखक अपनी बात भावात्मक ढंग से रखते हुए उसमें अंतर्निहित प्रश्नों के माध्यम से हमारे विचारों को भी उद्बलित करते हैं। द्विवेदी जी के इस निबंध में विचार और भावना बहुत ही सुंदर ढंग से एक-दूसरे से संयोजित हैं।

भाषा और शैली दोनों दृष्टियों से यह निबंध अत्यंत प्रभावशाली है। द्विवेदी जी की भाषा परिनिष्ठित और परिष्कृत है साथ ही उनकी भाषा में लचीलापन भी है। विषय और प्रसंग के अनुसार वे अपनी भाषा को बदल देते हैं। उनकी भाषा का प्रमुख गुण है लालित्य और भाषा की सरसता के लिए अलंकार, बिंब, रूपक और मुहावरों का यथोचित प्रयोग करते हैं। शब्दों के मामले में भी वे अत्यंत धनी हैं, तत्सम शब्दों का ज्यादा प्रयोग करते हैं। लेकिन तद्भव, देशज और शब्दों का प्रयोग भी करते हैं।

शैली की दृष्टि से यह निबंध ललित शैली में लिखा गया है। इसकी पहली विशेषता यह है कि यह निबंध अनुभूतिपरक है। दूसरी विशेषता है कि कथ्य को एक ही धारा में नहीं रखते बल्कि आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं। जैसे निबंध के आरंभ में अस्त्र-शस्त्रों की विकास की कहानी कहते हुए वे प्राचीन भारतीय इतिहास पर भी टिप्पणी कर देते हैं। उनके निबंध की तीसरी विशेषता है अपने विचार सरसता और सरलता के साथ प्रस्तुत करना। वे गंभीर विवेचन के समय में भी कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिससे विषय गंभीर होने के साथ-साथ सहज और सरस भी रहता है। इस वाक्य को देखिए—

“इसलिए मनुष्य ‘झगड़े-टंटे’ को अपना आदर्श नहीं मानता, गुस्से में आकर ‘चढ़-दौड़ने वाले’ अविवेकी को बुरा समझता है।”

उपरोक्त वाक्य में ‘झगड़े-टंटे’ और ‘चढ़-दौड़ने वाले’ प्रयोग वाक्य को अधिक सहज और कथ्य को अधिक सरस बना देते हैं।

द्विवेदी जी ने यह निबंध छठे दशक के आरंभ में लिखा था, उस समय पूरा विश्व दूसरे विश्वयुद्ध से प्रभावित था। अपने आप को शक्तिशाली सिद्ध करने हेतु सभी देशों में होड़ सी लगी थी, परिणामतः एक से बढ़कर एक खतरनाक हथियारों का अविष्कार प्रारंभ हो चुका था जो आज तक अनवरत जारी है।

‘नाखून क्यों बढ़ते हैं’? इस शीर्षक से निबंध के वास्तविक विषय का पता नहीं चलता। वास्तव में इस निबंध का शीर्षक व्यंजनापूर्ण है। इस निबंध में नाखून पशुत्व का प्रतीक है। द्विवेदी जी ने नाखून और पशुत्व को इस तरह एक साथ जोड़कर प्रस्तुत किया है कि पाठक को निबंध के वास्तविक अर्थ को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती है।

इस तरह निबंधों के तत्त्वों के आधार पर यह निबंध अपनी सभी शर्तों को पूरी करता है। पूरे विश्व में युद्ध और अशांति का एकमात्र कारण है मनुष्य के भीतर की हिंसक प्रवृत्ति। यह प्रवृत्ति ही दुःख, अवसाद, असंतुष्टि और नकारात्मकता को जन्म देती है। वस्तुतः यह प्रवृत्ति सहजात है। किन्तु ईश्वर ने बुद्धि और विवेक जैसे गुणों से भी हम मनुष्यों को नवाजा है। और इसी बात को समझाने की चेष्टा द्विवेदी जी ने अपने इस निबंध में की है। लेखक ने बहुत ही सहजता और सरलता के साथ मनुष्यों के दोनों प्रवृत्तियों (पशुत्व और मनुष्यत्व) का वर्णन किया है। प्रत्येक मनुष्य में यह दोनों ही प्रवृत्तियाँ विद्यमान होती हैं। जिसके अन्दर मनुष्यत्व की प्रवृत्ति ज्यादा विकसित होती है वह महात्मा गाँधी बनते हैं और जिसके अन्दर पशुत्व की प्रवृत्ति ज्यादा होती है वह नाथूराम गोडसे। जितनी शक्ति प्रेम, दया, परोपकार की भावना में होती है उतनी शक्ति

घृणा, द्वेष और हिंसा में नहीं हो सकती। सम्राट अशोक कलिंग पर विजय प्राप्त करके भी प्रसन्न नहीं हुए थे जब उन्होंने अपने चारों ओर मृत्यु का शोक, क्रंदन और अवसाद देखा तो अशांति और संताप से भर गये और फिर कभी युद्ध नहीं करने का निर्णय लिया। संसार के सभी धर्मों में मानव धर्म की एक ही परिभाषा है—

“मनुष्य तभी मनुष्य कहलाता है जब प्रेम, क्षमा, परोपकार, त्याग और सहिष्णुता से भरा हो, इन गुणों के बिना मनुष्य भी पशु है।”

इस निबंध का केन्द्र बिंदु ‘पशुत्व’ ही है जिससे कैसे निपटा जाये और यह क्यों आवश्यक है इन सभी प्रश्नों का उत्तर द्विवेदी जी ने बहुत ही कुशलता से दिया है। ‘पशुत्व’ की प्रवृत्ति पर अगर अंकुश नहीं लगता है तो मानव मानसिक विकार से ग्रस्त हो जाता है इसका उदाहरण हिटलर है जिसने अपनी हार को स्वीकार नहीं किया और आत्महत्या कर ली। कहने का तात्पर्य यह है कि ‘पशुत्व’ की प्रवृत्ति मनुष्य को सम्पूर्ण रूप से नकारात्मक बना देती है। जबकि ‘मनुष्यत्व’ की प्रवृत्ति मनुष्य को सकारात्मकता प्रदान करती है वह स्वयं के साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण करता है। और सबसे बड़ी बात कि मनुष्य का अस्तित्व ‘मनुष्यत्व’ में ही निहित है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी एक साधारण से प्रश्न की व्याख्या करते हुए उससे उपजी समस्याओं और संकटों का समाधान देने का प्रयास करते हैं। पशुत्व पर विजय प्राप्त करने का एक मात्र मार्ग है मनुष्यत्व का विकास, स्वयं पर नियंत्रण का अभ्यास, प्रेम, श्रद्धा और त्याग जैसे गुणों का समावेश। तभी विश्व-शांति की स्थापना और मनुष्य के अस्तित्व की रक्षा संभव है।

3.6.1 प्रश्नों की जाँच स्वयं करना—

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक शब्द या एक वाक्य में दीजिए—

- (क) प्रस्तुत निबंध का केन्द्रीय विषय क्या है?
- (ख) लेखक के अनुसार विश्व-शांति के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए?
- (ग) ‘स्व का बंधन’ से क्या तात्पर्य है?

2. सही शब्द चुनकर रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

- (क) निबंध चिंतन प्रधान होने के साथ-साथ सर्वाधिक..... विद्या है।
(रचनात्मक/चित्रात्मक, प्रौढ़/वयस्क)
- (ख) इस निबंध का मूल मंतव्य मनुष्य की प्रवृत्ति को उजागर करते हुए मानव धर्म की पहचान करना है। (पाश्विक/पशुत्व)

पाठ अभ्यास—

1. लघु प्रश्नों के उत्तर दीजिए—

- (क) द्विवेदी जी एक साधारण बाल जिज्ञासा से किस समस्या को उजागर करते हैं?
- (ख) नाखून का बढ़ना किसकी निशानी समझी जाती है?

- (ग) क्या यह निबंध भाव-प्रधान है?
- (घ) द्विवेदी जी की मूल विशेषता क्या है?
2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से दीजिए—
- (क) निबंध के तत्त्वों के आधार पर 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'? की समीक्षा कीजिए।
- (ख) इस निबंध के माध्यम से पशुत्व से छुटकारा पाने के लिए द्विवेदी जी क्या देते हैं? सविस्तार लिखिए।
- (ग) द्विवेदी जी के मानवतावादी दृष्टिकोण का वर्णन कीजिए।
- (घ) निबंध की प्रासंगिकता पर अपने विचार लिखिए।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. हजारी प्रसार द्विवेदी ग्रंथावली भाग-10, राजकमल प्रकाशन-1981, पृष्ठ-19
2. इग्नू स्टडी मैटेरियल (BHDE-101 हिन्दी गद्य)
3. हिन्दी गद्य-साहित्य – डॉ. रामचंद्र तिवारी
4. 'नाखून क्यों बढ़ते हैं'? – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

1. अंधेर नगरी (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

डॉ. सत्येन्द्र तनेजा
पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग, हंसराज कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय

पूर्व पीठिका

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850 ई. से 1885 ई. तक) का उदय इतिहास के उस दौर में हुआ, जिसे रैनेसा या पुनरुत्थानकाल कहते हैं। अंग्रेजी राज्यव्यवस्था के नए विधि-विधान, संचार-साधन शिक्षा की नई प्रणाली, नई उभरती समाज सुधार की शक्तियों के घात-प्रतिघात से भारतवर्ष में मध्ययुगीन जड़ता और संस्कार के स्थान पर एक नई चेतना एवं दृष्टि का विकास हुआ। नवोत्थान के इस वातावरण में ही भारतेन्दु का अवतरण हुआ। यह एक ऐसा सन्धिकाल है जिसमें एक अनिवार्य अन्तर्विरोध निहित है। प्राचीन मूल्यों और मान्यताओं के गहरे संस्कारगत असरों और व्यवहारों की उपेक्षा असम्भव है, पर इधर अंग्रेजी और बंगला के माध्यम से जो कुछ नया आ रहा है, उसके प्रति तत्परता और साहस का दृष्टिकोण रहा। राष्ट्रीय जागरण के इस काल में राजभक्ति और देशभक्ति के मिले-जले स्वर भी सुनाई देते हैं-

अंगरेज राज सुख साज सबै सुख कारी

पै धन विदेश चलि जात, इहै अति ख्वारी।

परिस्थिति-सापेक्ष होने के कारण यह अन्तर्विरोध इस युग की असंगति नहीं, शक्ति है जो बहिर्जगत् में तो स्पष्ट मिलता ही है पर जिसका सूक्ष्म प्रभाव चेतना और अभिव्यक्ति के स्तर पर भी देखा जा सकता है। आभिजात्य संस्कारों और राजसी वातावरण में पनपे भारतेन्दु का भक्ति और रीति की शैली में कविता लिखना या राजभक्ति में 'पूरी अभी की कटोरिया-सी चिर जीओ सदा विक्टोरिया रानी' के रूप में स्तवन अस्वाभाविक नहीं लगता। नवजागरण की अदम्य शक्ति से समसामयिक प्रश्नों से कई स्तरों पर जूझना उनके आधुनिक होने का प्रमाण है। ऐतिहासिक शक्तियों के संघात से उत्पन्न इस नवचेतना के परिप्रेक्ष्य में ही भारतेन्दु की नाट्य-साधना का अध्ययन करना चाहिए।

यह भारतेन्दु की दूरदर्शिता तथा दिशानिर्देशन का प्रमाण है कि उन्होंने पुनरुत्थान की प्रक्रिया अर्थात् जनजीवन में बदलाव को नाट्य लेखन की प्रक्रिया का माध्यम बनाया। नाटक एक ऐसा माध्यम है जिसका सम्बन्ध समूह से है, इससे सामूहिक जागरण की संभावनाएँ भी अधिक हैं। 1871 ई. में श्रीनिवास दास कृत 'रणधीर मोहिनी' के प्रथम प्रदर्शन के अवसर पर लिखी प्रस्तावना में भारतेन्दु ने इसी विचार दृष्टि का सूत्रपात किया-'सचमुच नाटक के प्रचार से इस भूमि का बहुत कुछ भला हो सकता है-दिल्लगी से इन लोगों को जैसी शिक्षा दी जा सकती है, वैसी और तरह से नहीं। इसी सिलसिले में उन्होंने 'नाटक' नामक निबन्ध में

लिखा-‘हे नाटक विरोधि मानवगरम! आप लोग इस चमत्कार कार्य में क्यों उत्साह नहीं बढ़ाते अब यही हमारी प्रार्थना है कि जहाँ तक हो सके इसकी उन्नति में प्रयत्न करें, जिससे हमारे इस देशवासियों का उपकार हो।’ वस्तुतः भारतेन्दु नाटक की असीम प्रभविष्णु शक्ति से भली-भाँति परिचित थे। यही वैचारिक आग्रह पं. बालकृष्ण भट्ट, पं. बदरीनारायण चौधरी, ‘प्रेमधन’, किशोरीलाल गोस्वामी, पं. अम्बिकादत्त व्यास, देवकीनन्दन त्रिपाठी, गोपालराय गहमरी में भी मिलता है। स्पष्ट है, भारतेन्दु के पथ-प्रदर्शन के कारण इस युग का नाटककार नाटक के माध्यम से मनोरंजन से कहीं बढ़कर परिवर्तन, सुधार तथा नवजागरण के लिए प्रयत्नशील था। अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए इस युग के नाटककार का सक्रिय रंगकर्मी, प्रस्तुतकर्ता तथा कुशल अभिनेता होना उपयुक्त ही नहीं, उसकी मानसिकता के अनुरूप आवश्यक भी है। भारतेन्दु के जिन्दादिल स्वभाव और ऊर्जापूर्ण व्यक्तित्व में नाटक ही नहीं, सम्पूर्ण रंगकर्म के प्रति सहजस्फूर्ति, उत्साह एवं निष्ठा थी। इस दृष्टि से सन् 1869 ई. हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए ऐतिहासिक महत्त्व का वर्ष रहेगा। 18 वर्ष की आयु (अर्थात् 1868 ई.) में भारतेन्दु के पहले नाटक विद्यासुन्दर का प्रकाशन हुआ और इसी वर्ष शीतलाप्रसाद त्रिपाठी के नाटक ‘जानकी मंगल’ का बनारस थिएटर में मंचन हुआ जिसमें भारतेन्दु ने अभिनय कर अपनीनिहित रंगसंभावनाओं को उजागर किया। उन्होंने नीलदेवी और सत्यहरिश्चन्द्र में भी विभिन्न भूमिकाएँ निभाई थीं। 1884 ई. में उन्होंने काशी में ‘नेशनल थिएटर’ की स्थापना की। इसके लिए उन्होंने एक ही रात में अपना सर्वाधिक लोकप्रिय प्रहसन अंधेर नगरी लिखा जिसका इस संस्था ने मंचन भी किया। उन्होंने एक पेनी रीडिंग-क्लब भी स्थापित किया जिसकी गतिविधियों में रंगकार्य हुआ करते थे। असल में भारतेन्दु का सम्पूर्ण जीवन रंगमय रहा। उन्हीं से अनुप्राणित होकर प्रतापनारायण मिश्र कानपुर में, बालकृष्ण भट्ट इलाहाबाद में, केशवराम भट्ट पटना में, लाला श्रीनिवासदास दिल्ली में, काशीनाथ खत्री आगरा में, बदरीनारायण चौधरी प्रेमधन मिर्जापुर में, राधाचरण गोस्वामी वृन्दावन में रंगमंच के निर्माण और प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहे।

रंगजगत् से इतने गहरे सम्बन्ध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके मंडल के नाटककारों की यह धारणा सही और स्वाभाविक है कि नाटक और रंगमंच की अनिवार्य पारस्परिकता है। भारतेन्दु का तो विश्वास है-‘यदि कोई (दृश्य काव्य) प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गुणित आनन्द होता है।’ दृश्य काव्य की संज्ञा रूपक है। नाटक त्रि-आयामी कला है। नाटककार, रंगमंच और दर्शक और इस युग में तीनों के बीच सन्तुलित एवं सम्वित दृष्टि का निर्वाह किया गया। हिन्दी नाटक और रंगमंच के इतिहास में भारतेन्दु युग को निस्संदेह एक अपवाद काल ही कहना चाहिए जिसमें तीनों आयामसमान रूप से विकसित हुए। ऐसे नाट्यचिंतन और रंगचेतना की परिणति जिन निष्कर्षों पर पहुँचती है वही भारतेन्दु के नाट्यादर्श हैं जो उन्होंने अपने ‘नाटक अथवा दृश्य काव्य’ में निर्धारित किए—(क) हास्य, (ख) शृंगार, (ग) कौतुक (घ) समाज संस्कार, (ङ) देशवत्सलता। इन उद्देश्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है, पहले भाग में हास्यशृंगार और कौतुक आतेऔर दूसरे में समाज संस्कार और देशवत्सलता। पहले में दिल्ली प्रमुख और शिक्षा गौण तथा दूसरे भाग में शिक्षा मुख्य तथा दिल्ली गौण है। इस संदर्भ में यह दृष्टव्य है कि भारतेन्दु ने अपने नाटकों की भूमिका या प्रस्तावना में तमाशा और कौतुक शब्दों का कई बार प्रयोग किया है। वस्तुतः उस युग के सम्पूर्ण वातावरण में मनमौजी वृत्ति तथा अलमस्त स्वभाव इतना व्याप्त था कि उसे इस युग में सम्पूर्ण लेखन का आधारभूत तत्त्व स्वीकारा जा सकता है। प्रहसन टाइप हल्के-फुल्के कई नाटक प्रकाशित हुए। यह प्रवृत्ति सभ्यतिशालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन ‘बंगभाषा’ में भी मिलती है।

‘नाटकों का अभिनय करना सहृदयजनों के समाज को कितना प्रीति देने वाला, देश की कुचालों को सुधारने वाला और कैसा कुशल करने वाला है, इसका सब गुण उन नाटकों को देखने ही से उनमें प्रकट हो जाएगा’-इन विचारों के प्रणेता भारतेन्दु ने अपने नाट्य साहित्य में विभिन्न प्रयोगों के द्वारा नाट्य-लेखन और प्रदर्शन तत्त्वों में अन्विति और सन्तुलन रखा। इस दृष्टि से उन्होंने वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति, अंधेर नगरी-प्रहसन, विषस्य-विषमौषधम्भाण, सत्यहरिश्चन्द्र, सती प्रताप-नाटक, चन्द्रावली और प्रेमजोगिनी नाटिका, नीलदेवी-गीति रूपक, जैसे नाट्यरूपों को अपना कर अपने युग के रंगमंच को समृद्ध करने का प्रयास किया। रत्नावली (हर्ष) नाटिका, पाखंड विडम्बन प्रतीक प्रधान रूपक (कृष्ण मिश्र कृत प्रबोध चन्द्रोदय का तीसरा अंक), धनंजय विजय-व्यायोग (कवि कांचन) कपूर मंजरी-सट्टक (कवि शेखर), मुद्रा-राक्षस. नाटक (विशाखदत्त) को संस्कृत नाट्य परम्परा से लिया। दुर्लभ बन्धु (शेक्सपियर-मचेंट आफ वेनिस) अंग्रेजी नाटक का भारतीय रूपान्तर है। विद्यासुन्दर (यतीन्द्र मोहन ठाकुर) बंगला नाटक का हिन्दी रूपान्तर तथा भारत जननी आपरा का परिकृत रूप। नाट्य लेखन के उपर्युक्त प्रयोगों के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(क) भारतेन्दु ने कथ्य के धरातल पर सभी स्रोतों संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला, लोक कथा, ऐतिहासिक, सामाजिक, हास्य-व्यंग्य, धार्मिक—का समुचित लाभ उठाने की नीति अपनाकर हिन्दी नाटक को व्यापक आधार-भूमि प्रदान की—(ख) शास्त्रीय दृष्टि से रूपक के विभिन्न भेदों पर प्रयोग किए गए। नाटक, प्रहसन, गीति रूपक, नाटिका, भाण, न्यायोग, आपरा इस विविधता में नवीनता हैं (ग) युग की रंगपरम्पराओं से अनुप्राणित होकर भारतेन्दु ने लोक रंग शैली, इन्द्र सभा, पारसी थिएटर, भारतीय रंगदृष्टि, पश्चिमी रंग रूढ़ियों तथा बंगला थिएटर से अलग-अलग तत्त्वों को ग्रहण कर अपनी रंगपरिकल्पना को व्यापक एवं सम्पन्न किया, (घ) पाँच नाट्यादर्शमृंगार, हास्य, कौतुक, समाज संस्कार, देशवत्सलता में से तीन—हास्य, कौतुक, समाज संस्कार का सम्बन्ध समसामयिक परिवेश और प्रश्नों से है। वैदिकी हिंसा...., अंधेर नगरी, प्रेम जोगिनी, पाखंड विडम्बना जैसे नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने अपने लेखन में हास्य और व्यंग्य का सृजनात्मक प्रयोग किया। (ङ) नाटक के तीनों आयामों—नाटक, रंगमंच और दर्शक की रक्षा करते हुए भारतेन्दु ने नाट्य कर्म और रंगकर्म एकान्विति लाई।

जिस ऐतिहासिक मोड़ पर भारतेन्दु का आगमन हुआ, उस अवसर पर विभिन्न तथा परस्पर विरोधी शक्तियों को आत्मसात कर उन्होंने ऐसी समन्वित और व्यावहारिक दृष्टि का सूत्रपात किया, जो उन्हें हिन्दी नाटक और रंगमंच का जनक सिद्ध करती है। उन्होंने अपने मण्डल के नाटककारों का ही सही दिशा-निर्देशन तथा नेतृत्व किया।

मूल संवेदना

भारतेन्दु के समस्त नाट्य-साहित्य में ‘अंधेर नगरी’ एक प्रहसन होते हुए भी अपने कथ्य के कारण सदा प्रासंगिक, जीवंत तथा बहुचर्चित रहा है। इस नाटक का आधार नीतिपरक शैली में बंधी कथा है जिसमें दृष्टांत आदि के माध्यम से कर्मफल के परिचित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। एक महन्त अपने दो शिष्यों नारायणदास और गोवर्धनदास के साथ एक ऐसी विचित्र नगरी में पहुँचते हैं जिसे अंधेर नगरी कहते हैं और जो चौपट राजा के अधीन है। यहाँ हर चीज टके सेर मिलती है—भाजी भी और खाजा भी। भिक्षा में प्राप्त सात पैसों से गोवर्धनदास महन्त के आगे ढेर सारी मिठाई लाकर इस नगरी का परिचय देता है—‘ऐसा तो

संसार भर में कोई देस ही नहीं है। दो पैसा पास रहने ही से मजे में पेट भरता है। मैं तो इस नगर को छोड़कर नहीं जाऊँगा।' सिद्धपुरुष महन्त के लिए ऐसी नगरी में एक क्षण भी ठहरना असम्भव है क्योंकि—

सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास

ऐसे देस कुदेस में, कबहुँ न कीजे बास।

गुरु की चेतावनी के बावजूद गोवर्धन वहीं रहता है, इसलिए महन्त और नारायणदास चले जाते हैं। अंधेर नगरी में कबाब, चने, मिठाई, सब्जी, मछली, नमक, घी, चीनी, चावल—सब कुछ टके सेर है। ऐसी अद्भुत नगरी के राजा के पास एक फरियादीन्याय की पुकार के लिए प्रार्थना करता है कि उसकी बकरी कल्लू बनिए की दीवार के नीचे आकर दब गई। राजा की न्याय-दृष्टि भी इस व्यवस्था की तरह टके सेर पर चलने वाली है—'तुम्हारा न्याय यहाँ ऐसा होगा कि जैसा जय के यहाँ भी न होगा'। प्रमाण सामने है कि बात बनाने की कला में प्रवीण कल्लू बनिया, चूने वाला, भिश्ती, कस्साई, गडेरिया, बच निकलते हैं और बकरी दब जाने का मृत्यु दण्ड कोतवाल को मिलता है परन्तु कोतवाल साहब दुबले हैं। इन लोगों ने महाराज से अर्ज किया, इस पर हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़ कर फाँसी दे दो क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी-न-किसी को सजा होनी जरूरी है, नहीं तो न्याय न होगा। इसलिए मुटिया रही गर्दन वाले गोवर्धनदास को प्यादे पकड़कर ले जाते हैं। शिष्य की पुकार पर महन्त उसे इस संकट से उबारने के लिए पहुँच जाते हैं। नीति और कौशल से काम लेते हुए महन्त घोषणा करते हैं कि वे स्वयं फाँसी के तख्ते पर चढ़ेंगे क्योंकि इस मुहूर्त पर जो मरेगा वह सीधा स्वर्ग जाएगा। ऐसा शुभ संवाद सुनकर गोवर्धन, मन्त्री कोतवाल सभी फाँसी पर चढ़ने के लिए तैयार हो जाते हैं परन्तु सबसे पहले तो राजा का ही अधिकार होता है इसलिए अपने कर्मों का फल भोगता हुआ वह फाँसी पर चढ़ जाता है। ऐसी अंधी व्यवस्था का ऐसा अंधा परिणाम होना ही था—

जहाँ न धर्म बुद्धि नाह, नीति न सुजन समाज,

ते ऐसहि आपुहि नसे, जैसे चौपट राज।

भारतीय जीवन दृष्टि के मूलभूल सिद्धान्त 'कर्मफल' की प्रतिष्ठा के लिए महन्त और उसके दो शिष्यों के प्रसंग का विधान किया गया है। नारायणदास तो महन्त की तरह साधु और संयमी है पर गोवर्धनदास साधु होते हुए भी लोभ-लालच में फिसलने वाला है। अंधेर नगरी के 'टके सेर भाजी और टके सेर खाजा' के चमत्कारी आकर्षण में उसका गिरना स्वाभाविक था। इस व्यवस्था से लाभ उठाकर वह मुटिया अवश्य रहा था परन्तु ऐसी शासन प्रणाली से वह अपरिचित न था जहाँ न्याय का आधार विवेक और औचित्य न होकर केवल दण्ड विधान है। बकरी के दबने से जहाँ कल्लू बनिए के स्थान पर कोतवाल को दण्ड सुनाया जाता यहाँ लोभ-वृत्ति में मुटिया रहे गोवर्धनदास को मोटी गर्दन के कारण फाँसी के फंदे में बाँधा जाए तो कोई आश्चर्य न होगा। पीड़ा और ग्लानि का फल उसे अवश्य मिला चाहे गुरु ने उसे मृत्युदण्ड से जरूर बचाया। जिस न्याय प्रणाली में निरीह साधु गोवर्धनदास को पकड़ कर फाँसी पर चढ़ाने की बात होती है, उस चौपट राजा को कर्मफल मिलता है। इस प्रकार गोवर्धनदास और चौपट राजा के अनुभव से नाटककार यही नीति और शिक्षा देता है कि लोभ अन्याय और पाप का नतीजा बुरा ही होगा।

इस प्रहसन के सामयिक संदर्भ हैं। इसकी प्रेरणा बिहार के एक राजा (जमींदार) से ली गई जिसको सुधारने के लिए इसका लेखन हुआ। समर्पण की निम्न पंक्तियाँ तथा साथ में उद्धृत श्लोक इस बात को प्रमाणित करते हैं कि इस प्रहसन का निर्माण किसी व्यक्ति-विशेष को लेकर हुआ है।

जे स्वारथ रत धर्त, हंस से काक-चरित-रत
ते औरन इति बंचि प्रभुहि नित होहिं समुन्नत।
साँच नाम निज करिय, कपट तजि अंत बनाइय
नृय तारक हरि पद भजि, साँच बड़ाई पाइय।

इन पंक्तियों में परोक्ष रूप से बिहार के जमींदार-राजा के संकेत हैं तथा प्रत्यक्ष रूप से तत्कालीन भारत और उसकी दुरावस्था की झलक है। श्लोक में व्यंग्य कसा गया है-चंदन, आम तथा चंपा के वन को काट कर करील वृक्ष की जो रक्षा करता है, हंस, मोर तथा कोयल को मार कर कौए की लीला में प्रेम रखता है, हाथी देकर गधा खरीदता है, और कपूर तथा कपास को समान समझता है। जहाँ के गुणी लोगों के ऐसे विचार हों, उस देश को नमस्कार।

भारतेन्दु अंग्रेजी राज्य-व्यवस्था के इस सीमा तक प्रशंसक थे कि उनमें राजभक्ति के स्वर सुनाई देते हैं-

डिसलायल हिन्दुन कहत, कहाँ मूढ़ ते लोग
दृग भर निरखाहिं आजते राजभक्ति संयोग।

परन्तु 'बादशाह दर्पण' नामक निबन्ध तथा निम्न मुकरी में वे अंग्रेजी के शोषण और अनाचार की गूढ़ तथा जटिल प्रक्रिया को समझ रहे थे-

भीतर भीतर सब रस चूसैं,
हंसि हंसि के तन मन धन मूसै,
जाहिर बातन मैं अति तेज,
क्यों सखि साजन, नहिं अंगरेज।

इसी मनः स्थिति में 'भारत-दुर्दशा' नाटक की प्रारम्भिक पंक्तियों में अपनी पीड़ा मुखरित की:-

रोअह सब मिलिक, आवह भारत भाई
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।

अंधेर नगरी के माध्यम से भारतेन्दु ने अंग्रेजों की शासन-प्रणाली और न्याय-व्यवस्था का पर्दाफाश किया। अपनी सत्ता और शक्ति के कारण चौपट राजा की तरह अंग्रेज क्रूर एवं कठोर थे। उनका गढ़ प्रयोजन था अपने साम्राज्य को दृढ़ तथा सत्ता को मजबूत बनाकर अधिक से अधिक आर्थिक शोषण करना 'चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दुना टिकस लगाते।' अंधेर नगरी की तरह अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था का आधार औचित्य-अनौचित्य, दोषी-निर्दोषी न होकर दण्ड विधान और उसका आतंक था। चौपट राजा

सही-गलत को परखे बिना तमोली को सौ कोड़े की सजा देता है। गोवर्धनदास इस नगरी में आकर सुविधावादी अवश्य हो गया है परन्तु यहाँ की राज्य-व्यवस्था का वास्तविक रूप उसे साफ दिखाई देने लगा-

प्रगट सभ्य अन्तर छलधारी। सोई राजसभा बल भारी
धर्म अधर्म एक हरसाई। राजा करै सो न्याव सदाई।
भीतर स्वाहा बाहर सादे। राज करहिं अमले अरु प्यादे।
अन्धाधुन्ध मच्यो सब देसा, मानहं राजा रहत विदेसा॥

इन पंक्तियों में भारतेन्दु ने अपने युग की असलियत को उजागर किया है। पतन की इस अवस्था का रेखांकन करते हुए भारतेन्दु हिन्दू समाज में व्याप्त जड़ता, निष्क्रियता, पाखण्ड तथा शोषण की ताकतों को नहीं भूलते। महाजन, लाला, पुलिस वाले, एडिटर, ब्राह्मण आदि के स्वार्थों ने जो वैर और फूट डाल रखी है, उससे चारों ओर अशान्ति है-

ऊँच नीच सब एकहि सारा।
मानहुं ब्रह्म ज्ञान बिस्तारा॥

भारतेन्दु ने अपने युग की सही तस्वीर खींचते हुए दोनों धरातलों पर ब्रिटिश शासन और सामन्तशाही में व्याप्त शोषण प्रणाली को रूपायित किया है।

इस नाटक में प्रहसन के हल्के-फल्के स्वरूप की रक्षा करते हुए भारतेन्दु ने इसके शीर्षक से लेकर पात्र और स्थानआदि के नाम ऐसे रखे हैं जो इसे काल और स्थान की सीमा से परे ले जाते हैं। सत्ता और अधिकार से पूर्ण व्यक्ति (राजा) मदांध होगा और उसकी शासन प्रणाली में न्याय के नाम पर आतंक और अराजकता होगी-'अंधेर नगरी चौपट राजा, टका सेर भाजी, टका सेर खाजा'। इस अनबूझ राजा के यहाँ मूल्यों में इस सीमा तक अराजकता है कि बहमूल्य-खाजा तथा अल्पमूल्यभाजी में कोई अंतर नहीं है। इस नगरी की मूल्यहीनता का सबसे बड़ा प्रमाण और क्या होगा कि कल्लू बनिए की दीवार के नीचे बकरी के दब जाने से दण्ड का भागी निर्दोष साधु गोवर्धनदास को बनाया गया। इस नाटक के सभी पात्र-प्रसंग प्रतीकात्मक हैं-चौपट राजा, मन्त्री, कल्लू बनियाफर्यादी, अंधेर नगरी, महन्त, शिष्य, बकरी। ये भारतेन्दु-कालीन होते हुए भी सार्वकालिक प्रासंगिकता रखते हैं।

मानव-समाज का इतिहास इस सत्य का प्रमाण है कि चाहे राजतन्त्र हो या गणतन्त्र, किसी भी व्यवस्था में सत्ता और शक्ति के केन्द्रीयकरण के साथ-साथ शोषण और अत्याचार हुआ ही है। मदान्धता राजा को चौपट बना देती है और उसकी व्यवस्था को अंधेर नगरी। जहाँ न्याय से तात्पर्य है दण्डविधान या दण्ड का आतंक, न कि अपराधी या निर्दोष की तलाश। बकरी दबी कल्लू बनिए की दीवार के नीचे परन्तु दण्ड का भोक्ता हुआ साधु गोवर्धनदास। इस प्रकार यह प्रहसन प्रत्येक व्यवस्था में निहित अराजक शक्तियों के प्रति सावधान करता है और उनके विरोध एवं टकराव के लिए नीति एवं कौशल का मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित करता है।

इस संदर्भ में इस नाटक का विश्लेषण किया जाए तो इसकी मूलसंवेदना है प्रत्येक व्यवस्था में निहित अराजकता, धन की शक्ति तथा समाधान है नीति और बुद्धि कौशल से ऐसे राजा को समाप्त करना। इस सन्दर्भ में राजा, मन्त्री तथा कल्लू बनिया उस वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं जो या तो शक्ति सम्पन्न है या धन सम्पन्न। ये कभी न्याय और दण्ड की परिधि में नहीं आते। वणिक-वृत्ति का प्रतीक कल्लू बनिया अपनी धन-शक्ति से कभी कानून की गिरफ्त में नहीं आया। हर युग में वह बच निकलता है। फर्यादी आम आदमी का प्रतिनिधि है। बकरी उसकी जीविकोपार्जन का साधन है जिसके सहारे वह जिन्दा है। कल्लू बनिए की दीवार उसके स्वेच्छाचार और अत्याचार का प्रतीक है। यह दीवार किसी पर भी गिरकर उसे अपंग बना सकती है। इस अत्याचार के बावजूद कल्लू बनिया युक्ति या कौशल से बच निकलने की क्षमता रखता है।

प्रहसन होने के कारण 'अंधेर नगरी' का राजा विदूषकी तत्त्वों से भरपूर है। वह पीनक में रहता है पान खाता और शराब पीता है ठीक तरह से बकरी नहीं बोल पाता, कभी, लरकी, बरकी, कुबरी बोलता है। उसके सम्बोधनों में हास्य है—क्यों वे खैर सुपाडी चनेवाले, भिश्ती: गंगा जमुना की किशती, क्यों न अखपौण्डे गडेरिया। उसका यह अटपटा व्यवहार फूहड़ हास्य उत्पन्न करता है। अपने आचरण से वह विदूषक लगता है, उसमें राजा के लिए अपेक्षित न क्षमता है, न विवेक, परन्तु अपने पद की शक्ति और अधिकार के कारण वह राजा है। उसके हाथ में न्याय का दण्ड है और वह उसे किसी पर भी चला सकता है। स्पष्ट है, ऐसा राजा हास्य से कहीं अधिक उपहास का प्रतीक है। राजा के ये विदूषकी लक्षण नाटक को चाहे रंजकता प्रदान करते हैं परन्तु बहुत गहरे यह भी ध्वनित करते हैं कि शासन और न्याय की प्रणाली अन्ततः हास्यास्पद ही होती है और उसका संचालक फूहड़ और मूर्ख-सा होता है। ऐसे वातावरण में आम आदमी को अपनी जीविका के छिन जाने पर भी न्याय नहीं मिल पाता।

अंधेर नगरीके तन्त्र को जानने और समझने के लिए भारतेन्दु ने बाजार के दृश्य की कल्पना की है ताकि किसी भी व्यवस्था में चल रही निहित शक्तियों का पता लग सके। इसमें दस व्यापारी हैं—कबाबवाला घासीराम, चनेवाला, नरंगीवाली, हलदाई, कुंजडिन, मुगल, पाचक (चूरन) वाला, मछली वाली, जातवाला और बनिया। भारतेन्दु ने सभी वर्ग और वर्ण के लोग लिए हैं—सामान्य तथा सम्पन्न। इन्हीं लोगों में बेचारा फर्यादी है और इन्हीं में शक्तिशाली कल्लू बनिया। ये व्यापारी घूम-घूमकर अपना-अपना माल बेच रहे हैं। इनकी बोलियों में तुक और लय से हास्य उत्पन्न किया गया है—

रेवड़ी कड़ाका, पापड़ पड़ाका।

जैसे काजी वैसे पाजी।

भारतेन्दु का प्रयोजन व्यवस्था की असंगतियों और विकृतियों को उजागर करना, टिप्पणी करना और व्यंग्य करना है—

चना हाकिम सब जो खाते, सब पर दूना टिकस लगाते।

चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।

चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।

ले हिन्दुस्तान का मेवा, फूऔर वैर।

जातवाला (ब्राह्मण) अर्थात् वह व्यक्ति जिसका धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है, वस्तुस्थिति का इस प्रकार रेखांकन करता है-

‘टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान।

टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दे।

वेद, धर्म, कुल, मरजादा सचाई बड़ाई सब टके सेरा।’

निष्कर्षतः भारतेन्दु दो तथ्यों की ओर हमारा ध्यान ले जाना चाहते हैं—(क) सारी व्यवस्था का केन्द्र व्यापार है। (ख) इस व्यवस्था में हर चीज बिकाऊ है यहाँ तक धर्म, समाज और नैतिक आदर्श—सब टके—सेरा।

वस्तुतः प्रत्येक समाज के कुछ सर्वमान्य नियम और मर्यादाएँ होती हैं। जो दोषी या अपराधी है, उसके लिए उपयुक्त दण्ड विधान होना चाहिए और व्यक्ति के स्वत्व की रक्षा होनी चाहिए। जहाँ निर्दोष और निरीह व्यक्ति अगर दण्ड के भागी बनते हैं, उस व्यवस्था का आधार न्यायोचित नहीं है। गोवर्धनदास को दण्ड देकर अंधेर नगरी की न्याय प्रणाली के प्रमाण मिले। न्याय की रक्षा और सत्य की प्रतिष्ठा अन्योन्याश्रित हैं। न्याय, विवेक और लोक कल्याण से ही सत्य की प्रतिष्ठा हो सकती है। जहाँ कपास और कपूर, कोकिल-बायस, पण्डित-मूरख, इन्द्रायन-दाडिम में कोई अन्तर नहीं रखा जाता, वहाँ महन्त के शब्दों में—

बसिए ऐसे देस नहि, कनक वृष्टि जो होय,

रहिए तो दुख पाइए, प्रान दीजिए रोय।

केवल कष्ट-क्लेश ही सहने पड़ेंगे। गुण, मात्रा, प्रकार और स्वरूप को लेकर जो प्राकृतिक अन्तर है, उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। जो सतही और बाहरी तौर पर दिखाई देता है, वह सत्य नहीं है। न्याय के छद्म रूप को हटाने पर ही असलीयत का पता लगेगा। चौपट राजा में न्याय नहीं, न्याय का भ्रम है जिसका फल गोवर्धनदास को भुगतना पड़ा। न्याय और सत्यपूरक हैं और उनकी प्राप्ति के लिए तात्त्विक दृष्टि चाहिए।

किसी व्यवस्था के दो आधार स्तम्भ हैं राजतन्त्र और धर्मतन्त्र। किसी भी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था हो—राजशाही या लोकशाही, सत्ता और अधिकार सिमटकर कुछ लोगों के हाथ में रह जाते हैं और वे अनिवार्य रूप से शोषणकी प्रक्रिया के अंग बन जाते हैं। सामान्यतः धर्म राजतन्त्र का पोषक और समर्थक रहा है परन्तु यह भी सही है कि सभी सुधारवादी आन्दोलन धर्म से ही शुरू हुए। महन्त सूझ-बूझ और धैर्य से गोवर्धनदास की रक्षा तो करता ही परन्तु चौपट राजा की अराजकता के अन्त का भी विधान करता है। व्यवस्था को बदलने की क्षमता और शक्ति उसी में है। सुविधाभोगी गोवर्धनदास राजशाही का अंश बन गया। महन्त त्याग, संयम और विवेक की मूर्ति है, इसीलिए उसमें बदलाव लाने की क्षमता और शक्ति है। आधुनिक सन्दर्भों में कहा जा सकता है कि जिन व्यक्तियों में स्वार्थ और सुविधा छोड़ने की शक्ति नहीं है, जो अनिलिप्त, वीतरागी, और साहसी नहीं हैं, वे किसी समाज को बदल नहीं सकते। धर्म चाहे व्यक्ति को भाग्यवादी बना दे या चुपचाप अन्याय सहने की आदत डाल दे परन्तु अगर व्यवस्था में बदलाव या क्रान्ति अपेक्षित है तो वह धर्म को सामयिक और आधुनिक व्यवस्था तथा शक्ति से होगी। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, महर्षि दयानन्द धर्म में व्याप्त मिथ्याडम्बर, पाखण्ड तथा कुसंस्कारों को धर्म के माध्यम से ही

बदलने में आगे आए। महन्त के अन्दर यही अलौकिक शक्ति है जिसके प्रभाव से यह एक भ्रष्ट और शोषक व्यवस्था को बदलने में सफल रहा। इस धरातल पर यह प्रहसन एक ऐसा अनुभव प्रदान करना है जो सामयिक एवं अर्थवान् है। अपनी प्रासंगिकता के कारण ही यह एक सदाबहार नाटक बन जाता है जिसमें भारतेन्दु ने दो वर्गों की असलीयत को बताते हुए उनमें होनेवाले अनिवार्य द्वन्द्व और परिवर्तन की आकांक्षा को रूपायित किया है। जहाँ शासक वर्ग में सत्ता और सुविधा की निरन्तर लोलुपता होने के कारण शोषण और अत्याचार की सहज मनोवृत्ति रहती है वहाँ समाज के बहुमुखी विकास के लिए सतर्क रहकर इस स्थिति का सामना ही नहीं, टकराव और बदलाव लाने के लिए तत्परता चाहिए।

महन्त अंधेर नगरी में नारायणदास को पूर्व दिशा में तथा गोवर्धनदास को पश्चिम दिशा में भिक्षाटन के लिए भेजता है। ये दिशाएँ सांकेतिक हैं और विशिष्ट जीवन-दृष्टि को इंगित करती हैं। पश्चिम दिशा में जाने वाला गोवर्धनदास भौतिकसुख-सुविधाओं में फिसल जाता है। पूर्वी दिशा में जाने वाला नारायणदास नगर के तन्त्र को समझते हुए लाभ-वृत्ति में नहीं पड़ता तथा त्याग और संयम का परिचय देते हुए खाली हाथ लौट आता है। भारतेन्दु युग में पूर्वी और पश्चिमी संस्कृतियों और जीवन मूल्यों में संघर्ष आ चुका था। गोवर्धनदास का पतन पश्चिमी आदर्शों का पतन है। नाटककार का विश्वास है कि पूर्व के आध्यात्मिक मूल्यों द्वारा ही समाज में परिवर्तन और सुधार लाया जा सकता है।

गोवर्धनदास सुख-भोगी साधु अवश्य है जो अंधेर नगरी के प्रलोभनों में आ जाता है परन्तु वह पर्याप्त संवेदनशील भी है। इस नगरी में कुछ अरसा रहने के बाद (पाँचवाँ दृश्य) वह यहाँ की निरंकुशता और विवेक शून्यता से परिचित हो चुका है। उसे मालूम है कि यह 'देस बहुत बुरा है' परन्तु उसे तो रोज मिठाई चाभना, मजे में आनन्द से राम भजन करना, इतना अच्छा लगता है कि वह आत्मलीन और सुविधावादी हो रहा था। फाँसी का तख्ता देखते ही उसे अनुभव हुआ कि अब वह एक ऐसे फर्यादी की तरह है जिसको न्याय की आशा करना व्यर्थ है। इसके द्वारा भारतेन्दु एक ऐसे व्यक्ति के अनुभव को बताना चाहते हैं जो अंधेरे की सुविधाओं को भोगता जाता है परन्तु जब अंधेरे के कष्ट चुभने लगते हैं तो सहायता के लिए तिलमिलाता है, चीख-पुकार करता है। यह सुख की ललक और सुख की पीड़ा अंधेर नगरी का सन्नास है जो आज भी अर्थवत्ता रखती है।

अंधेर नगरी के नीतिपरक स्वरूप का पता समर्पण, श्लोक तथा सम्पूर्ण विधान से लग जाता है जिसके अनुसार कर्मफल इसका कथ्य बनता है। दूसरे धरातल पर आंका जाए तो यह हिन्दी का पहला व्यवस्था विरोधी नाटक है जिसमें लेखक किसी भी तन्त्र से जुड़ी शोषण-वृत्ति के प्रति सावधान करता हुआ उसे बदलने और पलटने के लिए प्रेरित करता है।

नाट्य शिल्प

लोककथा की शैली में इस प्रहसन के वस्तु-विधान की छः दृश्यों में बुनावट की गई है। पहले दृश्य में अपने दोनों शिष्यों नारायणदास और गोवर्धनदास के साथ महन्त अंधेर नगरी के बाहर पड़ाव डालते हैं। दूसरा दृश्य बाजार का है जो अंधेर नगरी की वस्तु स्थिति को प्रतिबिम्ब करता है। इसमें श्रमजीवी और परोपजीवी दोनों वर्गों और अनेक वर्गों के लोग हैं जहाँ कुल मिलाकर देश की तस्वीर उभरती है। यही गोवर्धनदास को इस विचित्र परन्तु मोहक नगरी की मूल विशेषताहर चीज टके सेर-का पता लगता है। तीसरा दृश्य, महन्त

अपने शिष्य को सावधान कर तत्काल इस नगरी को छोड़ने का निर्णय करता है। चौथा दृश्य राज्यसभा का है। एक फर्यादी की बकरी कल्लू बनिए की दीवार के नीचे दब गई, वह राजा से न्याय की पुकार करता है परन्तु दण्ड का भागी बना कोतवाल। पाँचवें दृश्य में मुटिया रहे गोवर्धनदास को प्यादे इसलिए पकड़कर ले जाते हैं क्योंकि कोतवाल दुर्बल है और फन्दा गोवर्धनदास के लिए उपयुक्त है। छठा दृश्य, महन्त के बुद्धि कौशल से गोवर्धनदास बच जाता है और राजा तख्ते पर चढ़ता है इस प्रहसन का दूसरा और चौथा दृश्य महत्त्वपूर्ण है। इस नगरी की अन्ध-व्यवस्था की जानकारी इन्हीं दो दृश्यों से मिलती है। द्वन्द्व की स्थिति पाँचवें दृश्य से उत्पन्न होती है जब कोतवाल के स्थान पर गोवर्धनदास को फाँसी पर चढ़ाने के लिए पकड़ा गया। छठे दृश्य में चरम उत्कर्ष है जहाँ नीति और शिक्षा से समाहार किया गया है। इस प्रकार अंधेर नगरी का स्थापत्य और दृश्य विधान तीन चरणों प्रारम्भ, यत्न और चरम उत्कर्ष कार्य में बाँधा गया है। नाटकीयता का निर्वाह आद्योपान्त है। गोवर्धनदास के अंधेर नगरी में एक फर्यादी की न्याय-पुकार पर कल्लू बनिए के स्थान पर कोतवाल को अपराधी घोषित करना मृत्यु-दण्ड के लिए गोवर्धनदास को पकड़ ले जाना, महन्त की सूझ-बूझ से न गोवर्धनदास, न मन्त्री न कोतवाल बल्कि स्वयं राजा कोसूली पर चढ़ाने के साथ चरम बिन्दु पर नाटकीयता समाप्त होती है। प्रारम्भ से ही नाट्य स्थितियों का ऐसा संयोजन किया गया है कि कौतुक और संघर्ष बना रहता है। ऐसी नाट्य स्थितियों की कल्पना की गई है जो हास्य और व्यंग्य उत्पन्न कर सकें। बाजार (दूसरा दृश्य) में हास्य और व्यंग्य का कुशल निर्वाह है। राजा (पक्ष दृश्य) का हास्य फूहड़ और भौण्डा है। वह बकरी ठीक से नहीं बोल पाता। उसके सम्बोधनों में व्यंग्य का पुट भी है। कथावृत्त के अनुरूप सभी पात्र रूढ़ तथा टाइप (स्टाक कैरेक्टर) हैं। प्रहसन का केन्द्र शराब में डूबा रहता है, वह कुछ मूर्ख तथा फूहड़ लगता है। फर्यादी और कल्लू बनिया आदि टाइप पात्र हैं। महन्त और शिष्य भी रूढ़ पात्र हैं।

भारतेन्दु ने 'अंधेर नगरी' को प्रहसन माना है उनके अनुसार प्रहसन की निम्न परिभाषा है- 'हास्य रस का मुख्य खेला। नायक राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति सेइसमें एक ही अंक होना चाहिए किन्तु अब अनेक दृश्य रूप दिए बिना नहीं लिखे जाते। उदाहरण-हास्यार्णव, वैदिकी-हिंसा, अंधेर नगरी (*भारतेन्दु ग्रन्थावली* नाटक, पृ० 752) इसका अंगी रस 'हास्य' होना चाहिए। अंधेर नगरी में हास्य शब्द हैं-शचमुच, सुपनखा, क्रिया है-राजा का आचरण विदूषक जैसा है तथा परिस्थिति है-बकरी दबने का दंड न कल्लू बनिए को, न कारीगर को, न चूने वाले को, न भिश्ती को, न कस्साई को, न गडेरिए को, बल्कि प्रशासन के अंग कोतवाल को। भाण की तरह प्रहसन भी एक अंक वाला होना चाहिए और उसमें मुख तथा निर्वर्ण सन्धियों की स्थापना होनी चाहिए। अंधेर नगरी का लघु आकार-प्रकार एक अंक की परिधि से बड़ा नहीं है। हालाँकि भारतेन्दु ने दृश्य के लिए अंक शब्द का प्रयोग किया है। इसके पहले तीन दृश्यों में मुख सन्धि है। अर्थात् प्रारम्भ में बीज उत्पन्न होने की स्थिति महन्त के जाने और गोवर्धनदास के रहने तक है। राजसभा से लेकर राजा के सूली पर चढ़ने तक की स्थिति निर्वर्ण अर्थात् फल निष्पत्ति की है। इसमें सन्ध्यंग भी देखे जा सकते हैं। प्रहसन दो प्रकार के होते हैं-शुद्ध और संकीर्ण, अंधेर-नगरी शुद्ध की कोटि में आता है। इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से इसे प्रहसन स्वीकारा जा सकता है।

भारतेन्दु के अन्य नाटकों की तरह इस नाटक की अन्यतम उपलब्धि है-भाषा-संवाद योजना। मूल संवेदना के अनुरूप अंधेर नगरी का गठन तीन पक्षों के समन्वय से हुआ है। तीनों की भाषा और प्रस्तुति का

मुहावरा अलग-अलग है। धर्म का पक्ष (जिसमें महन्त, और उसके दो शिष्य नारायणदास तथा गोवर्धनदास शामिल हैं) महन्त साधु और गुरु है, इसलिए उसके लहजे में ओज और अधिकार का स्पर्श है—बच्चा? का सम्बोधन इसका प्रमाण है। ‘देख, मेरी बात मान नहीं पीछे पछताएगा—इतने कहे जाता हूँ कि कभी संकट पड़े तो हमारा स्मरण करना।’ तो, तीसरे तथा छठे दृश्य में दोहों का सटीक प्रयोग उनकी गरिमा को प्रतिष्ठित करता है—

लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान

लोभ कभी नहीं कीजिए, यामें नरक निदान।

गोवर्धन साधु अवश्य है परन्तु अंधेर नगरी को देखकर लोभी हो चुका है। बाजार में हर चीज टके सेर पाकर उसके कौतुक को ‘सचमुच’ शब्द से प्रतिबिम्बित किया गया है—वाह वाह! बड़ा आनन्द है। यहाँ हर चीज ‘टके सेर’। गोवर्धन धीरे-धीरे मुटिया अवश्य रहा है परन्तु अंधेर नगरी की वस्तुस्थिति और अनुभव का दायरा बढ़ चुका है, इसलिए वह पाँचवें दृश्य के आरम्भ में असलीयत का पर्दाफाश करता है। अन्तर्मन की प्रतिक्रिया होने से चाहे उसे एकालाप कहा जा सकता है परन्तु दूसरे धरातल पर इन टिप्पणियों के माध्यम से नाटककार वस्तुस्थिति को सूचित कर रहा है। चौपाइयाँ गाता हुआ वह नगरी के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालता है—

नीच ऊँच सब एकहि ऐसे। जैसे भडुए पंडित जैसे।

गो द्विज श्रुति आदर नाहिं होई। मानहूँ नृपति विधर्मी कोई।

अनुभवी और गम्भीर होने के कारण उसकी भाषा-शैली प्रौढ़ हो गई है। उसमें तत्सम और तद्भव का अनोखा मिश्रण है—ऊँची, नीच, पंडित, कुल, प्रगट, अन्तर, छलधारी, द्विज, नृपति, विधर्मी और कुल मरजाद, लोग-लुगाई, न्याय बिदेसा, पदवी, अमले, प्यादे। इस दृश्य के अन्त में गोवर्धनदास एक फर्यादी के रूप में न्याय और दया के लिए पुकारता हुआ गुरु का स्मरण कर रहा है—‘दुहाई परमेश्वर की, अरे मैं नाहक मारा जाता हूँ। गुरु जी कहाँ हो। आओ, मेरे प्राण बचाओ, अरे मैं बेअपराध मारा जाता हूँ गुरु जी—छठे दृश्य में पीड़ा, यातना और उत्तेजना की वृद्धि के साथ भाषा का स्वरूप बदल गया—‘हाय बाप रे—अरे मुझे छोड़ दो। हाय। हाय।’ इस प्रकार सारे नाटक में धर्म-पक्ष के पात्रों की पहचान भाषा के अलग लहजे-मुहावरे से की जा सकती है।

राजा रूढ़ और टाइप पात्र अवश्य है परन्तु भारतेन्दु ने उसकी परिकल्पना में ऐसे कई तत्त्व जोड़े हैं जो उसकी विवेकशून्यता को व्यक्त करे और इस तरह न्याय प्रणाली की व्यर्थता और अंधेर नगरी के वास्तविक स्वरूप को उजागर करें। उसके ऊलूल-जलूल व्यवहार तथा मूर्खता से कामिक तत्त्वों को उभारा गया है। ‘पान खाइये महाराज’ को वह ‘सुपनखा आई ए महाराज’ समझ रहा है। बकरी शब्द को लरकी, बरकी, कुबरी कहता है। पीनक में होने के कारण उसके संबोधन उच्चारण और वाक्य-रचना में एक तरह का अटपटापन है जो हास्य नहीं उपहास की स्थितियाँ उत्पन्न करता है ‘क्यों बे कोतवाल! तैने सवारी ऐसी धूम से क्यों निकाली कि गडरिये घबड़ा कर बड़ी भेड़ बेचा जिससे बकरी गिर कर कल्लू बनिया दब गया।’ चौपट राजा की पहचान है उसकी चौपट अर्थात् जहाँ शब्द सही नहीं है वहाँ क्रिया क्या सही होगी?

संबोधनों में लय और व्यंग्य का स्पर्श-‘क्यों बे खैर सुपाड़ी चूनेवाले, क्यों बे भिश्ती’। ‘गंगा जमुना की किश्ती’, ‘क्यों बे ऊखपोडै के गडेरिया’। शासक का तेवर भी है-यह क्या गोलमाल है? नकल-भडैंत शैली में लिखे इस दृश्य में राजा कीभाषा का भी वही तेवर है-बेतुका और फूहड़। शब्द की रेखाओं में उसका सही चित्रांकन करने में भारतेन्दु सफल रहे हैं।

नाटक का सबसे महत्त्वपूर्ण बाजार का दृश्य है जिससे हम ‘अंधेर नगरी’ में व्यापार के नाम पर चल रहे शोषण और स्वार्थपरता के व्यापार को जान-समझ लें। हर व्यापारी अपने माल की बिक्री के लिए प्रचार कर रहा है-

रेवड़ी कड़ाका।

पापड़ पड़ाका।

हिन्दोस्तान का आदमी लक लक,

हमारे यहाँ का आदमी बुंबक बुंबक।

चूरन ऐसा हट्टा कट्टा,

कीना दाँत सभी का खट्टा।

यहाँ तुक और लय से नये शब्दों को गढ़ा गया और एक कौतुक उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। नहीं यह बाजार न होकर पूरी व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है, वहाँ पर टिप्पणियों के माध्यम से व्यंग्य-प्रहार किए गए हैं-

चूरन सभी महाजन खाते, जिससे जमा हजम कर जाते।

चूरन अमले सब जो खाबै, दूनी रिश्वत तुरत पचावे।

आर्थिक शोषण के बाद भारतेन्दु की दृष्टि काममूलक नैतिक पक्ष की ओर जाती है- लाख टका का बाला जोबन, गाहकसब ललचाया। धर्म और समाज के शक्ति-केन्द्र ब्राह्मण पर तीखे व्यंग्य-बाण छोड़े हैं-टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायें और धोबी को ब्राह्मण कर दें। टके के वास्ते जैसी कहा वैसी व्यवस्था दें। घासीराम चने वाला, नरंगीवाली, हलवाईकुंजड़िन, मुगल, पाचक (चूरन) वाला, मछली वाली, बनिया सबकी भाषा का शब्द-संयोजन अलग-अलग है जो उनके व्यापार और चरित्र के अनुरूप है। सारे दृश्य में टका शब्द लगभग 40 बार प्रयुक्त हुआ है जो एक कोण से उसकी अन्तर्व्याप्त शक्ति को उजागर करता है। इस नाटक में शब्दों के चुनाव में भारतेन्दु अनुभव और यथार्थ के निकट रहे हैं। कुछ शब्दविशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं जिनसे नाटककार का मन्तव्य स्पष्ट हुआ है-बेअपराध, वेफायदा, न्याव, बच्चा, टका, चौपट्ट,फाँसी, मतलब, कसूर। इसलिए उसमें नाटकीयता है और प्रभविष्णु शक्ति है। वह मूल कथ्य के अनुरूप हास्य और व्यंग्य उत्पन्न करने में समर्थ है।

रंग परिकल्पना

अंधेर नगरी भारतेन्दु का सर्वाधिक लोकप्रिय नाटक रहा है। लगभग सौ वर्ष पूर्व लिखे इस नाटक की शाश्वतप्रासंगिकता है क्योंकि प्रत्येक व्यवस्था अपने आप में अंधेर नगरी के लक्षण समेटे होती है। प्रबुद्ध

निर्देशक प्रायः इस नाटक के प्रति आकृष्ट होते रहे हैं और इसमें समकालीन सन्दर्भद्वंद्वने में सफल रहे हैं। भारतेन्दु के अपने जीवन काल में यह नाटक कई बार खेला गया और आज भी इसके प्रति झुकाव में कमी नहीं आई।

अंधेर नगरी का रंगविधान इस प्रकार है कि भारतेन्दु ने उसमें कई रंगतत्त्वों का मिश्रण किया है। लोकधर्मी चेतनाके अनुरूप सारे नाटक में लचीलापन प्राप्त है जो नौटंकी, स्वांग, इन्द्र सभा और पारसी थिएटर से अनुप्राणित है। बाजार(दूसरा दृश्य) में कुजड़िन, मछलीवाली, नारंगीवाली के चटकीले पहरावे, खुले हाव-भाव तथा गतियों से वातावरण कोउन्मुक्त तथा प्रभावशाली बनाया जा सकता है। संवाद पद्यबद्ध हैं जिन्हें लोकधुनों में बाँधा जा सकता है। गायन के साथहल्का-सा नृत्य, गतियाँ और समूहन तथा इनके अनुरूप मुद्राएँ तथा स्वर कहीं-कहीं परिहासमुलक स्थितियाँ उत्पन्न करसकते हैं। चौथा दृश्य तो है ही स्वांगशैली में। राजा की हास्यास्पद भूमिका, उसकी प्रायः प्रणाली के अनुरूप अपराधियोंका आना जाना, राजा की नकल शैली में प्रत्युत्तर सभी इसे भड़ेत का माहौल प्रदान करते हैं। जाहिर है कि इस प्रकार काप्रस्तुतीकरण नौटंकी शैली, इन्द्र सभा और पारसी पद्धति में होगा जिसमें हास-परिहास की ओर अधिक ध्यान दियाजाएगा।

समसामयिक प्रसंगों में यथार्थवादी पद्धति का आश्रय लिया गया है। वस्तुतः इस प्रहसन के मूल में व्यवस्था, शासन-तंत्र और सत्ताप्रणाली पर कटु प्रहार है। पहले दृश्य में महन्त, दूसरे में घासीराम चनेवाला, हलवाई, पाचक वाला-चूरन-वाला, जातवाला तीसरे में महन्त गोवर्धनदास, पाँचवें में गोवर्धन प्यादे और छठे दृश्य में यथार्थवादी शैली से प्रस्तुति कोआधुनिक बनाने की कोशिश की जा सकती है। असल में नाटकीयता को केन्द्र में रखते हुए भारतेन्दु ने लोकरंग शैली औरयथार्थ शैली का मिश्रण किया है कि रंगमंचीय संभावनाएँ बढ़ गई हैं।

भारतेन्दु ने स्वयं इस प्रहसन की रंगपरिकल्पना का आधार परदा माना है। दृश्यबन्ध को लेकर निम्न रंग निर्देशउपयोगी हैं। प्रथम दृश्यः बाह्य प्रान्त, दूसरा दृश्य-बाजार, तीसरा दृश्य-जंगल, चौथा दृश्य राज सभा, पाँचवाँ दृश्य-आरण्य,छठा दृश्य-श्मशान। इस प्रहसन का सारा कार्य-व्यापार विशेष रूप से तैयार किए गए एक परदे के आगे किया जा सकता है। इसपरदे में मुख्य रूप से राज सभा का चित्र अंकित किया जाए। पृष्ठभूमि में प्रकृति की सुन्दरता प्रदर्शित करते हुए फूल, पड़ तथापहाड़ दिखाए जाएँ और दूसरी ओर महल के साथ लगता बाजार हो जिसमें तरह-तरह की सजी दुकानें हों। छठा दृश्य श्मशानका है जिसके लिए अगला परदा बनाना पड़ेगा या इसी परदे के आगे राजा के मुँह पर काला कपड़ा डाल कर वधस्थल परले जाया जा सकता है। इस प्रकार भारतेन्दु की रंगदृष्टि के अनुरूप यह प्रहसन एक परदे के सामने खेला जा सकता है।

अंधेर नगरी के रूपबंध और दृश्यविधान का आधार है मूल्यों का संघर्ष खाजा (बहुमूल्य) और भाजी (अल्पमूल्य) मेंकोई भेद नहीं है क्योंकि हर चीज टके सेर है। ऐसी मूल्यहीन नगरी में मूल्यों को टकराहट स्वाभाविक है। जब कोई तोलकांटा नहीं तो न्याय और विवेक की अपेक्षा व्यर्थ है। दूसरे शब्दों में भारतेन्दु इस नाटक में संघर्ष को उत्तरोत्तर सघन औरचरम बिन्दु तक ले जाने में सफल रहे हैं। यह सब नाटक की रंगमंचीय सम्भावनाओं को उजागर करते हैं और उसे एकसदाबहार का दर्जा प्रदान करते हैं। सौ वर्ष की अवधी में यह नाटक अनगिनत बार खेला गया। हिन्दी रंगमंच के विकासके साथ-साथ इसके कई प्रस्तुतीकरण हुए जिनमें निम्न उल्लेखनीय हैं। इलाहाबाद के विख्यात रंगकर्मी और निर्देशक श्रीसत्यव्रत सिन्हा

ने इसे दो बार खेला, पहले 1965 ई. में तथा दूसरे रंगमंच शतवार्षिकी (1968 ई.) के अवसर पर। पहली प्रस्तुति के सम्बन्ध में उनके अपने शब्दों में—‘इस बार अंधेर नगरी को नये संदर्भ में स्थापित करने की चेष्टा की गयी थी। वेशभूषा प्रायः आधुनिक रखी गयी, राजा-दृश्य में अभियुक्तों के लिए मुखौटों का प्रयोग किया गया, बाजार-दृश्य को भरसक आधुनिक का प्रयत्न किया गया— राजा की चाल बदल गयी, मंत्री को पैट कोट पहनाया गया, सब्जीवाली स्लैक्समें आयी तो भी फरियादी और कतिपय अन्य पात्र परम्परागत ही रहे। प्रस्तुति सफल रही लेकिन अन्ततः परम्परागत हीमानी गयी दूसरे (1968 ई.) प्रस्तुतीकरण में कई परिवर्तन किए गए पर उसे अधिकाधिक समसामयिक बनाया गया’ ‘पुरानी हो गई भाषा पर नितान्त नई हरकत को आरोपित किया जाए तो वर्तमान की अर्थहीनता और खोखलापन-प्रायःसब कुछ उजागर हो सकता है। बाजार-दृश्य, राजा-दृश्य और फाँसी-दृश्य चरित्रों सहित तीनों की रूपरेखा स्पष्ट होने लगी। बाबा अर्थात् आज के शुभ वेशधारी विदेशों से नाता लगाए धन-सम्पन्न योगी, चेला नारायणदास-गोवर्धनदास, अर्थात् हमारी वह नई पीढ़ी जिस पर हिप्पी-बीटनिक संस्कृति अनायास हावी हो रही है, राजा अर्थात्सत्ता के जितने भीन्यस्त स्वार्थों को प्रश्रय दिया जा सकता है, उनका प्रतिनिधि, मंत्री अर्थात् उन सब विदेशी ताकतों का प्रतिनिधि जिनके इशारे पर सत्ता नाचती है। फरियादी अर्थात् वह साधारण जन जो सदियों से न्याय माँग रहा है किन्तु शासकीयखानापूरी के अलावा साधारण जन के लिए कुछ नहीं हुआ और कल्लू बनिया, कारीगर कोतवाल आदि-अर्थात् स्वार्थों का जमघट जिन्हें राजा और उनके शासन की चिंता नहीं। नाटक के शीर्षक ‘अंधेर नगरी चौपट राजा’ को आधुनिक स्वर में गाकर टेपबद्ध किया गया..... बाजार दृश्य को ट्विस्ट तथा शेक नृत्यशैली में निश्चल स्थितियाँ (फ्रीज) की अवधारणा की फाँसी दृश्य में मैंने भूखी-नंगी जनता की भी अवधारणा की मैंने नाटक की शुरुआत प्रेक्षकों के मध्य से जुलूसनिकाल कर मंच पर पहुँचने के द्वारा की। निर्देशक इस नाटक को समसामयिक आयाम देने में अवश्य सफल हुए पर कुलमिलाकर प्रस्तुति गहरा अनुभव प्रदान कर न सकी। प्रयाग के ही अवधेशचन्द्र ने इस नाटक को न्यायाधीशों की उपस्थिति में उच्च न्यायालय के मैदान में जात्रा शैली में प्रस्तुत कर नया प्रयोग किया।

पिछले वर्ष राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निर्देशक तथा प्रसिद्ध निर्देशक ब०व० कारन्त ने आधुनिक वेशभूषा और उपकरणों के आरोपण के बिना, आलेख को सामयिक प्रासंगिकता प्रदान देने का सफल प्रयास किया। उनके मत में—‘अंधेर नगरी नाटक पूरे देश को प्रतिबिंबित करता है। इसमें राजा है, प्रजा है, अफसर है, सेवक है, बाबा है, चेले हैं, समाज का कामगार वर्ग भी है—कसाई कारीगर, गडेरिया। इसका बाजार पूरा हिन्दुस्तान है हिन्दी साहित्य का नवजागरण भक्तों एवंसंतों के भजनों (पदों) से प्रारम्भ हुआ था, वही वर्तमान साहित्य में नारों के माध्यम से अभिव्यक्त हो रहा है। इस दृष्टिसे नारों और भजनों के बीच फैली हुई यह अंधेर नगरी बहुत ही अर्थवान् हो जाती है।’ कारन्त ने सारे प्रस्तुतीकरण को शैलीबद्ध रखा। संगीत और ध्वनियों की अनुगूँज में गतियों और समूहन के संयोजन में कारन्त ने मौलिकता का परिचय दिया। भजन मंडलियों की धुनों से शुरू होने वाली इस प्रस्तुति के समापन में महंत स्वयं राज मुकुट पहन लेता है। कारन्त ने धर्म को एक शक्ति के रूप में उभारा है जो अन्ततः सत्ता का अंग बन जाती है। प्रत्येक व्यवस्था ऐसी अंधेर नगरी है जिसमें कल्लू बनिया बच निकलता है। इसलिए नाटक इस सामूहिक स्वर की तीव्र अनुगूँज से समाप्त होता है ‘कल्लू बनिए कोलाओ....।’ कारन्त ने भारतीय परिवेश का निर्वाह कर उस बिंदु (आर्थिक शक्ति) पर प्रहार किया जो बच निकलता है।

सत्यव्रत सिन्हा और कारन्त ने अपनी-अपनी प्रस्तुति से इस नाटक का नए आयाम प्रदान किए।

सौ वर्ष पुराना यह नाटक 'अंधेर नगरी' अगर आज भी ताजा लगता है तो इसे भारतेन्दु की विशिष्ट उपलब्धि मानना चाहिए। इसके आलेख में संभावनाएँ निहित हैं। साहित्यिक दृष्टि से गम्भीर और प्रौढ़ न होते हुए भी यह लघु नाटकचुक जाने की स्थिति में नहीं है। यह एक ऐसा बेजोड़ नाटक है जो अपने आलेख के सांकेतिक-प्रकीकात्मक स्वरूप के कारण चिरजीवी रहा है। सम्भवतः आलोचकों को इसकी सीमाएँ ही दिखाई दें परन्तु निर्देशकों के लिए इसका नाटकीय क्षितिज सदा खुला और चुनौतीपूर्ण लगेगा।

सहायक पाठ्य-सामग्री

1. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच - सं. नेमिचन्द्र जैन
2. भारतेन्दु ग्रन्थावली (पहला खण्ड) में नाटक अथवा दृश्य काव्य नामक निबन्ध - प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
3. भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन - डॉ. गोपीनाथ तिवारी
4. हिन्दी नाट्य-साहित्य और रंगमंच की मीमांसा - कुंवर चन्द्रप्रकाश मिश्र

2. 'बिबिया' (महादेवी वर्मा)

डॉ. हरीश अरोड़ा
प्रवक्ता, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य),
नेहरू नगर, नई दिल्ली

लेखक-परिचय

महादेवी वर्मा सुप्रसिद्ध कवयित्री होने के साथ-साथ उत्कृष्ट कोटि की गद्य लेखिका भी हैं। छायावाद में प्रसाद, पंत और निराला के साथ इस युग का महत्त्वपूर्ण स्तम्भ होने के नाते इन्होंने अपनी एक अलग पहचान बनाई। कविता के साथ-साथ गद्य की निबन्ध, आलोचना, संस्मरण और रेखाचित्र जैसी विधाओं में इनका उल्लेखनीय योगदान है।

महादेवी वर्मा का जन्म 26 मार्च, 1907 को उत्तर प्रदेश के फरुखाबाद जिले के एक सम्पन्न एवं कला-प्रेमी परिवार में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इनकी माता श्रीमती हेमरानी की देखरेख में हुई। लेकिन बाद में इन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी.ए. तथा संस्कृत में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। इनकी प्रतिभा का ही प्रतिफल रहा कि बाद में इसी प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रथम प्राचार्या के रूप में इनकी नियुक्ति हुई और अपनी योग्यता के कारण इसी विद्यापीठ की कुलपति के पद का दायित्व भी निभाया। बाद में कई वर्षों तक 'चाँद' पत्रिका का सम्पादन भी किया।

महादेवी वर्मा ने अपना पूरा जीवन साहित्य और कला के प्रति समर्पित कर दिया था। साहित्यिक जीवन में आने से पहले से ही इनका भारतीय दर्शन-शास्त्र एवं उपनिषदों के प्रति गहरा लगाव रहा इसी कारण इनकी रचनाओं में अध्यात्म-तत्त्व तथा रहस्यवाद महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों के रूप में उभरकर आये हैं। छायावाद में इनका-सा रहस्यवाद किसी अन्य कवि से कहीं अधिक उत्तम है। इनकी साहित्य साधना पर इन्हें अनेक मान-सम्मान तथा पुरस्कार मिले। मुख्य रूप से 'नीरजा' पर सेकसरिया पुरस्कार, 'यामा' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक तथा इसी कृति पर 1983 में ज्ञानपीठ पुरस्कार तथा 1956 में पद्म भूषण और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा भारत-भारती सम्मान तथा विधानसभा की सदस्यता बनाना आदि सम्मान इनकी प्रतिष्ठा के परिचायक हैं। 80 वर्ष की आयु में छायावाद की सशक्त कड़ी महादेवी वर्मा का 11 सितम्बर, 1987 को देहान्त के साथ एक स्वर्णिम साहित्यिक युग का भी अंत हो गया।

इनका रचना-संसार इस प्रकार है —

काव्य—नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, यामा (पहली चारों कृतियों का संग्रह), दीपशिखा, सन्धिनी, परिक्रमा।

संस्मरण एवं रेखाचित्र—अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ, श्रृंखला की कड़ियाँ, पथ के साथी, क्षणदा।

आलोचना—साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, दृष्टिबोध, संभाषण, भारतीय संस्कृति के स्वर, संकल्पिता आदि।

अनुवाद—सत्पवर्णा।

साहित्यिक विशेषताएँ

महादेवी वर्मा गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार की रचनाओं में उत्कृष्ट साहित्य-सर्जना करती रहीं। काव्य-सर्जना के क्षणों में भी अपनी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं के रूप में जिस तरह का गद्य इन्होंने प्रस्तुत किया वह अपने-आप में अप्रतिम है। रेखाचित्रों एवं संस्मरणों की संयुक्त विधाओं से युक्त इनकी कृतियों में इनका जो **आत्म-संस्मरणात्मक** रूप दिखाई देता है वह गद्य साहित्य में श्रेष्ठतम है। कवयित्री होने के नाते और छायावाद युग के चलते इनकी रचनाओं में **भाव की प्रबलता** तो है लेकिन अनुभूति के साथ-साथ चिन्तन का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए इन्होंने जो गद्य रचनायें लिखीं उनमें जीवन के संघर्ष और समाज के प्रति उनकी जागरूक दृष्टि अत्यन्त गम्भीर बनी रही।

महादेवी वर्मा की गद्य रचनाओं में छायावाद की रहस्यवादी प्रवृत्ति और कल्पना का प्रभाव कहीं भी दिखाई नहीं देता। भावों और संवेदनाओं की गहराई से युक्त इनकी गद्य रचनाओं में **मार्मिकता और करुणा की गहनता** अधिक प्रखर है। **कवित्व की मधुरता** ने इनके वैचारिक चिन्तन को दुरूहता से बचा लिया। कहीं-कहीं तो इनकी रचनाओं में कथा चित्रात्मकता के गुण से इतनी सज जाती है कि लगता है कि जैसे पात्र साक्षात् बोल पड़ते हैं। संस्कृत की **तत्सम् पदावली** से जहाँ इनके विचारों को प्रौढ़ता मिलती है वहीं **तद्भव पदावली** से इनकी करुणा का स्वर अधिक मार्मिक बन पड़ता है। इनके गद्य में सबसे महत्त्वपूर्ण पहचान यह है कि उनमें इनकी **वैयक्तिकता का प्रभाव** अधिक प्रबल रूप से पड़ता है।

महादेवी वर्मा की गद्यशैली से उनकी मौलिक प्रतिभा का सहज ज्ञान होता है। 'यामा' और 'दीपशिखा' जैसे काव्य संग्रहों की भूमिकायें निस्संदेह हिन्दी गद्य के श्रेष्ठतम रूप हैं। **अनुभूति, कल्पना और चिन्तन का जैसा संश्लिष्ट प्रभाव** महादेवी वर्मा की गद्य रचनाओं में दिखायी देता है वैसा प्रभाव हिन्दी के गिने-चुने रचनाकारों की रचनाओं में ही दिखाई देता है। इसका विशेष कारण महादेवी वर्मा की **अद्वितीय गद्य-शैली** है। इनकी गद्य-शैली को मुख्य रूप से तीन रूपों में देखा जा सकता है—

1. कलात्मक गद्य-रूप
2. चिन्तन-युक्त विवेचनात्मक गद्य-रूप
3. ओज-प्रधान विचारात्मक गद्य-रूप

महादेवी वर्मा के **कलात्मक गद्य-रूप** के अन्तर्गत इनकी गद्य रचनाओं में चित्रण की प्रधानता होती है। ऐसी रचनाओं में महादेवी वर्मा ने अपने पात्रों की मनःस्थितियों का अन्तरंग और बाह्य निरूपण किया है। इसके अन्तर्गत लेखिका ने व्यक्ति मन की भावनाओं को कलात्मक रूप प्रदान करते हुए उन्हें साकार किया है। मन की विभिन्न प्रतिक्रियाओं और भावावेगों की इस कलात्मक अभिव्यक्ति में महादेवी वर्मा को सफलता मिली है।

महादेवी वर्मा का चिन्तन-युक्त विवेचनात्मक गद्य-रूप सामान्यतः उनकी काव्य रचनाओं की भूमिकाओं में दिखाई देता है। यहाँ कवयित्री महादेवी और गद्य लेखिका महादेवी के बीच एक सामंजस्य स्थापित है। लेखिका अपनी कविताओं की दार्शनिकता और रहस्य पर इन कृतियों की भूमिकाओं में विचार करती है। इस वैचारिकता में महादेवी वर्मा की चिन्तन दृष्टि अत्यन्त गहरी रही है।

मुख्य रूप से महादेवी वर्मा का ओज-प्रधान विचारात्मक गद्य-रूप उनके संस्मरणों और रेखाचित्रों में दिखाई देता है। पुरुषप्रधान समाज में नारी की दयनीय स्थिति और उस पर पुरुष समाज के बढ़ते अत्याचारों की मार्मिक अभिव्यक्ति महादेवी वर्मा के संस्मरणों और रेखाचित्रों में अभिव्यक्त हुई है। इन गद्य रचनाओं में व्यंग्य के कारण महादेवी वर्मा का गद्य ओज-प्रधान बन पड़ा है। सामाजिक विषय होने के कारण इन संस्मरणों और रेखाचित्रों में महादेवी वर्मा की पैनी दृष्टि इन्हें उत्कृष्ट बना देती है।

महादेवी वर्मा के गद्य की एक अन्यतम विशेषता यह है कि इनका गद्य मानवीय अनुभूति की मार्मिकता को शब्दों के माध्यम से इस प्रकार से अभिव्यक्त करता है कि शब्द साक्षात् चित्र का रूप धारण कर लेते हैं। महादेवी वर्मा ने अपनी कवित्वशक्ति में विद्यमान कोमलता और मधुरता से अपने गद्य को शुष्क होने से बचा लिया है। इनके संस्मरणात्मक-रेखाचित्रों में आत्मीय सम्बन्धों की सम्पृक्तता का अद्वितीय स्वरूप ही इनके गद्य को श्रेष्ठतम बनाता है। इसीलिए महादेवी वर्मा के गद्य में उनका निजी व्यक्तित्व उनके गद्य-साहित्य की प्राण शक्ति है। यदि विजयेन्द्र स्नातक जी के शब्दों में कहें तो - “मौलिकता उनके निबन्धों की विशेषता है, वैयक्तिकता उनकी पहचान है, अभिव्यंजना की पटुता ही उनका सौष्ठव है।”

बिबिया : संस्मरण अथवा रेखाचित्र

महादेवी वर्मा के संस्मरणात्मक-रेखाचित्रों के संग्रह ‘स्मृति की रेखाएँ’ में संकलित ‘बिबिया’ रेखाचित्र ‘ओज प्रधान विचारात्मक गद्य-रूप’ में लिखा गया है। वर्तमान में साहित्य-संसार के विद्वानों ने संस्मरण और रेखाचित्र को दो भिन्न विधाओं के रूप में स्वीकार किया है। लेकिन तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो इन दोनों के तत्त्व एक-दूसरे की सीमाओं का न केवल अतिक्रमण करते हैं वरन् कई बार रचना के विषय में यह तय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि वह ‘संस्मरण’ है अथवा ‘रेखाचित्र’। इसलिए बिबिया पर विचार करने से पूर्व इन दोनों विधाओं की संक्षिप्त जानकारी देना आवश्यक है।

संस्मरण - संस्मरण में स्मृतियों के सहारे जीवन को विशेष प्रभावित करने वाली घटनाओं, वस्तुओं अथवा व्यक्तियों को पुनःस्मरण कर लिपिबद्ध किया जाता है। इसमें वैयक्तिक सम्पर्कों का अत्यधिक योग रहता है। संस्मरण में सम्पूर्ण जीवन का विस्तार न होकर उसका कोई चित्र या सम्पर्क पूर्ण उदात्तता और सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त किया जाता है। चूँकि संस्मरण व्यक्तिगत अनुभवों से सम्पृक्त होता है अतः इसमें सत्य का निर्व्याज आग्रह रहता है। किन्तु लेखक के मन पर पड़े प्रभाव और प्रेरणा के कारण वह घटना या चित्र अधिक संवेदनशील और मनोरंजक बन जाता है। संस्मरण में समसामयिक जीवन तथा परिवेश का चित्रण उसे अधिक उपयोगी बना देता है। संस्मरण के मूल में व्यक्तिगत सम्पर्क और अनुभूति का होना आवश्यक है।

रेखाचित्र - यह शब्द चित्रकला से लिया गया है, इसका अर्थ है कि लेखन में किसी वस्तु, स्थान या व्यक्ति की आकृति या प्रकृति का सजीव चित्रण कर दिया जाये। बहुत ज्यादा विश्लेषण न करते हुए लेखक

अपने परिचय, सम्पर्क और अनुभूति के सहारे एक सजीव आकार खड़ा कर देता है जिससे पाठक उसे पढ़ते ही उससे एक परिचय प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार थोड़े से शब्दों में ही वस्तु या स्थान का भी आकार गढ़ लिया जाता है। किसी व्यक्ति के रेखाचित्र में उसकी आकृति, भावभंगिमा, चेष्टाओं, संवादों का विवरण बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रकट किया जाता है। संस्मरणात्मक शैली, चित्र-विधायी भाषा, छोटे-छोटे पौने वाक्य और संवेदना उभारने वाली शैली आदि रेखाचित्र के लिए अनिवार्य हैं।

स्वयं महादेवी वर्मा का इस सम्बन्ध में कहना है कि - “रेखाचित्र एक बार देखे हए व्यक्ति का भी हो सकता है, जिसमें व्यक्तित्व की क्षणिक झलक मात्र मिलती है। इसके अतिरिक्त इसमें लेखक तटस्थ भी रह सकता है। हमने किसी को क्रोध की मुद्रा में देखा और अन्य मुद्रा में देखने का अवसर नहीं मिला, ऐसी स्थिति में हम तटस्थ भाव से उसकी क्रोधित मुद्रा का ही रेखाचित्र दे सकेंगे और तटस्थ भी रह सकेंगे; परन्तु संस्मरण हमारी स्थायी स्मृति से सम्बन्ध रखने के कारण संस्मरण के पात्र से हमारे गहरे परिचय की अपेक्षा रखता है। जिसमें हमारी अनुभूति के क्षणों का योगदान भी रहता है। इसी कारण स्मृति में ऐसे क्षणों का प्रत्यावर्तन भी सहज हो जाता है और हमारा आत्मकथ्य भी आ जाता है।” संस्मरण और रेखाचित्र विधाओं की इस जानकारी के उपरान्त ‘बिबिया’ का यदि विश्लेषण किया जाए तो यह संस्मरण और रेखाचित्र दोनों ही विधाओं की संयुक्तता को समेटे हुए है। इसलिए दोनों विधाओं की संयुक्त तात्त्विकता की दृष्टि से ही विश्लेषित किया जाना अपेक्षित है।

बिबिया : सार

महादेवी वर्मा अपने यहाँ काम करने वालों से प्रेम और स्नेह का व्यवहार रखती थीं। इसी कारण उनके सभी सेवक लम्बे समय तक उनके यहाँ काम करते थे। उनके शहर की धोबिन उन्हें ‘जिज्जी’ (दीदी) और उसका लड़का दमड़ी ‘मौसीजी’ कहकर पुकारते थे। वैसे तो इस समाज में छोटे काम करने वाले लोग अपने मालिकों को इस तरह के सम्बोधन कहें तो उन्हें धृष्टता कहा जाता है लेकिन लेखिका को ऐसा कभी नहीं लगा। इसे वह अपने संस्कार का कारण मानती थी।

लेखिका के यहाँ काम करने वालों में धोबी, नाइन, ग्वालिन आदि सभी थे। सभी के साथ उसका आत्मीय व्यवहार था। इसीलिए धोबी हठ करके प्रतिदिन लेखिका के कपड़ों को धोने के लिए ले जाता। नाइन रोज तेल-उबटन से उसकी स्नानक्रिया के विधान पूरे करती और ग्वालिन स्वयं अपने हाथों से उसे मक्खन खिलाने में घंटों बिता देती। रम्मों मालिन ने ही उसे फूलों को सजाने की शिक्षा दी थी। एक परिवार की नातिन या पोती होकर भी लेखिका सारे गाँव की थी। लेखिका के परिवार और उसके गाँव के बीच का यह स्नेह-सम्बन्ध कई पीढ़ियों का निर्वाह कर चुका था।

यह इसी स्नेह-सम्बन्ध का परिणाम है कि एक लम्बे समय के बाद भी लेखिका के पास एक ही सेवक, एक ही ग्वाला, एक ही धोबी और एक ही ताँगेवाला रहा है। दमड़ी की धोबिन माँ भी लेखिका के विद्यार्थी काल से ही उसके कपड़े धो रही थी। यह धोबिन का दुर्भाग्य ही था कि उसके कई बच्चे जन्म के बाद से ही जीवित नहीं रह पाते थे। इस कारण उसने दमड़ी को जन्म के बाद एक दमड़ी में अपनी पड़ोसिन को बेच दिया था और छठी के दिन उसे पाँच में खरीद लिया था। यह विधाता की ही कृपा थी कि धोबिन का यह बच्चा बच गया। दमड़ी में बेचने-खरीदने के कारण ही उसका नाम ‘दमड़ीलाल’ रख दिया गया।

धोबिन और उसका बेटा दमड़ी वर्षों से इस परिवार में सेवा का काम कर रहे थे। इसलिए इस परिवार के साथ उनका लगाव भी अधिक हो गया। अक्सर दमड़ी भक्तिन से चाय और चबैना तक माँग लिया करता था। भक्तिन भी उसकी इस ढिठाई पर गुस्सा होकर उसे उतरी कलाई वाले मुरादाबादी गिलास में ही चाय देती थी। धुलाई के लिए कम कपड़े होने पर अक्सर धोबिन और दमड़ी लेखिका के साफ कपड़ों को भी धोने के लिए ले जाते। लेखिका को यह बात चुभती थी लेकिन न जाने वह इसका विरोध नहीं कर पाती थी। इसी विषय में सोचते-सोचते लेखिका के मन में बिबिया और उसकी माई की याद आ गई।

बिबिया की माँ के शरीर पर लगे चोटों के निशान और उसके चेहरे पर उभरी विवशता से लेखिका को सहज ही अनुभव हो गया था कि उसका जीवन अत्यन्त दयनीय रहा था। शराबी और झगड़ालू पति के अत्याचारों के बावजूद भी वह इस अभावग्रस्त जीवन को जी रही थी। उसकी बेटी बिबिया जब-तब लेखिका के घर चली आया करती। उसकी माँ लेखिका को 'दिदिया' कहती थी और बिबिया 'मौसीजी'। बिदिया अपनी जाति के अन्य लोगों के समान साँवली न होकर गेहुँ रंग की थी। उसका स्वभाव हँसमुख था। आँखें चंचल थी और शरीर सुडौल व गठीला। उसे देखकर उसे धोबिन समझना कठिन था। वह अत्यन्त ही परिश्रमी थी। वह दादी के हाथ से झाड़ू खींचकर सारे घर को साफ करती, भाभी के हाथ से लोई छीनकर रोटी बनाने बैठ जाती, भाई के हाथ से इस्त्री छुड़ाकर स्वयं कपड़े इस्त्री करने लगती। उसमें दोष सिर्फ इतना था कि वह अभिमानी थी। उसे अच्छे कपड़े का बहुत शौक था। पाँच वर्ष की उम्र में ही उसका विवाह कर दिया गया था। लेकिन गौने से पहले ही उसके पति की मृत्यु हो गई। उसका बड़ा भाई कन्हाई जो जमना-पार देहात में रहता था, उसने अपनी बहन बिबिया के लिए इस पार शहर में उसकी शादी के लिए एक धोबी ढूँढ लिया। उसका नाम रमई था। कन्हाई ने बिबिया की शादी धूमधाम से कर दी।

नई ससुराल पहुँचने के बाद बिबिया कई महीने तक दिखाई नहीं दी। अचानक कुछ महीने के बाद एक दिन बिबिया मैले-कुचैले कपड़े पहने लेखिका के सामने आ खड़ी हुई। उसके चेहरे पर झाइयाँ पड़ गई थी, शरीर दुर्बल जान पड़ता था। किन्तु उसका चेहरा और आँखें पूरी तरह से भावहीन थीं। उसके घरवाले ने उसे घर से निकाल दिया था। लेखिका को लगा कि उसकी चरित्रहीनता के कारण ही उसके पति ने उसे घर से निकाला होगा। लेकिन उसकी दादी से उसे पता चला कि शादी की पहली ही रात रमई शराब पीकर घर आया। बिबिया उसके लिए खाना बनाकर उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। रमई ने आते ही बिबिया को घृणास्पद बातें कहीं। एक तो वैसे ही बिबिया तेज स्वभाव की थी, उस पर शादी की पहली ही रात पति से मिले अपमान के कारण बिबिया अपना आपा खो बैठी और उसने अपने पति को चुल्लू भर पानी में डूब मरने को कहा। इस पर रमई ने स्वयं को अपमानित महसूस किया और तुरन्त बिबिया से कहा कि एक को तो तूने खा लिया और अब सती-सीता बनने के लिए दूसरे के घर आई है।

क्रोध में बिबिया ने रमई पर चिमटा फेंक कर मारा। अपने को बचाने की कोशिश में रमई शराब के नशे में ही आँधे मुँह गिर गया। बिबिया अन्दर की कोठरी में चली गई और अंदर से ही दरवाजे को बन्द कर दिया। सुबह जब उसने दरवाजा खोला तो रमई तब तक जा चुका था। फिर तो ऐसा रोज होने लगा। रमई को शराब के साथ-साथ जुए का भी शौक था। उसके सभी साथी मोची, जुलाहा, तेली आदि जुए पर दाँव लगाया करते। दाँव पर लगाने वाली वस्तुओं में कपड़ा, जूता, रुपया पैसा, बर्तन आदि सब कुछ होता था।

कोई-कोई तो अपनी पत्नी के गहने तक दौंव पर लगा देता। एक दिन रमई के जुए के साथी मियाँ करीम ने रमई से कहा कि तुम तो अच्छी छोकरी हथिया लाए हो, उसी को दौंव पर क्यों नहीं लगा रखते।

बिबिया को यह बात पता चलते देर न लगी। उस स्वाभिमानिनी नारी के लिए यह समाचार आग के समान था। उसी दिन करीम उसे अपने द्वार पर दिख गया। उसने सब्जी काटने वाले चाकू को उसे दिखाकर कहा कि अगर रमई ने ऐसी हरकत की तो वह उन दोनों के पेट में इस चाकू को घोंप देगी। करीम मियाँ घबरा गए। दूसरे दिन जुए के साथियों के सामने रमई से कहा कि शरीफ आदमी के घर में ऐसी खतरनाक औरत मौत को पालने के समान है। रमई को इस बात का क्षोभ हुआ कि उसकी पत्नी की गणना सतियों में नहीं हो सकती, उस पर चाकू दिखाने वाली बात से वह और डर गया और उसने बिबिया से कहा कि वह उसे घर में नहीं रख सकता। उसके सभी दोस्तों ने इस बात में उसका साथ दिया।

बिबिया घर लौट आई और हमेशा की तरह रहने लगी। भाभी के व्यंग्य उसे गहरे तक चुभते थे लेकिन दादी के आँचल से वह अपने आँसू पोंछ लिया करती थी। अब वह पहले से अधिक काम करने लगी। सबसे पहले उठती और सबके बाद सोती। सजना सँवरना उसने छोड़ दिया। कन्हाई ने एक बार फिर उसका घर बसाने का प्रयत्न किया। पाँच बच्चों के बाप एक विधुर अधेड़ झनकू नाम के व्यक्ति को वर के रूप में देखकर बिबिया ने शोर मचा दिया। लेकिन उसकी किसी ने न सुनी और उसका विवाह कर दिया।

एक साल तक उसके विषय में कोई जानकारी नहीं मिली। अचानक एक दिन वह फिर मायके में लौट आई। इस बार उसके कलंक की कालिमा अधिक गहरी हो गई थी। एक अंधेरी कोठरी में वह मुँह लपेटे चुपचाप पड़ी रहती। उसकी दादी ने आकर लेखिका को सारी बात बताई। झनकू को किसी और स्त्री से प्यार था किसी अन्य जाति की होने के कारण उससे विवाह नहीं कर पाया था। अपने बच्चों की देखभाल के लिए ही उसने बिबिया से विवाह किया था। उसे बिबिया से प्रेम नहीं था। बिबिया भी बच्चों की देखभाल में अपना समय बिताने लगी। झनकू भी अपने बच्चों की तरफ से निश्चिन्त होकर बेपरवाह होता चला गया। वह बस घर के लिए खाने-पीने का सामान जुटाता था।

उसका बड़ा बेटा भीखन जो माँ के अभाव और पिता की उदासीनता के चलते ननसार चला गया था, उसे जब पता चला कि पिता उसके लिए सौतेली माँ ले आए हैं तो वह घर लौट आया। पिता ने उसे चेतावनी दी कि अगर वह ढंग से रहेगा तो ठीक है, वरना उसके लिए घर में कोई जगह न होगी। भीखन ने पिता की बातों को अनसुना कर दिया। इधर झनकू को अपने युवा पुत्र के आने से अपनी पत्नी की चिन्ता सताने लगी। जिसे पहले पत्नी की चिन्ता तक नहीं थी अब वह समय पर घर लौट आता और पुत्र पर कड़ी नजर रखता। भीखन भी बिबिया के आसपास ही घूमता रहता। जब बिबिया बर्तन माँजती तो वहीं पर तीतर चुगाने बैठ जाता। जब वह कपड़े सुखाती तो वहीं नंगे बदन बैठ हाथ-पैरों पर तेल मलता। एक दिन बिबिया उसकी इन हरकतों से तंग आ गई तो उसने चूल्हे से जलती हुई लकड़ी खींचकर भीखन को धमकाया कि वह उसके पिता की पत्नी है। अगर उसकी तरफ गलत सोच रखी तो उसकी पीठ की खाल भी न बचेगी। लेकिन भीखन बिबिया के इस व्यवहार से घबराने या लज्जित होने के बजाए उल्टा उसी पर क्रोध करने लगा। भीखन के इस व्यवहार से बिबिया घबरा गई। घर में लड़ाई न हो, इसलिए पति को भी कुछ नहीं बताया। धीरे-धीरे पिता को जब यह बात पता चली तो उसने अवसर मिलते ही भीखन को पीटना शुरू कर

दिया। भीखन ने भी सारा आरोप बिबिया पर लगा दिया। झनकू ने भी असलियत जाने बिना बिबिया पर हाथ उठा डाला।

बिबिया के इस अपराध के लिए पंचायत बैठी। पंचायत ने झनकू और भीखन की बातों को सच मानते हुए सारा आरोप बिबिया के सर डाल दिया। बिबिया लौटकर मायके आ गई। मायके आने पर उसकी दादी मर गई थी। भाई ने अनिच्छा से उसे घर में जगह दे दी। गाँव की बिरादरी ने उसका ही हुक्का पानी बंद कर दिया। भाई ने लज्जित होकर गाँव छोड़ दिया और ससुर के पास रहने लगा। ससुर सरपंच था, इसलिए उसके कहने पर फिर से उसका हुक्का-पानी चल पड़ा।

इन्हीं सब कष्टों के बीच उसके भतीजे ने जन्म लिया। भाभी उसे सांकेतिक भाषा में अनेक व्यंग्य करती। एक दिन इन सब बातों को सुनते-सुनते बिबिया गायब हो गई। उसके गायब होने के समाचार से सभी ने यह मान लिया कि वह चरित्रहीन ही है। किसी ने भी सच्चाई जानने की कोशिश नहीं की। एक दिन लेखिका को गाँव के एक वृद्ध व रोगी पासी से पता चला कि बिबिया ने भागने से दो दिन पहले उससे अपने कान की चांद की तरकी के बदले यह कहकर एक अद्धा खरीदा था कि उसके भतीजे के जन्म पर दावत करनी है। जब पासी ने बाकी पैसे लौटाने चाहे तो उसने कहा कि वह आवश्यकता पड़ने पर माँग लेगी। गाँव की लड़कियों ने बताया कि उन्होंने उसे मैले कपड़ों की गठरी लेकर यमुना की ओर जाते देखा था। गडरिए के लड़के ने बताया कि वह कुछ पीकर यमुना के गंदे पानी से कुल्ला कर रही थी। तब लेखिका के मन में चिन्ता हो उठी। उसने इन सब बातों से निष्कर्ष निकाला कि हो न हो बिबिया ने झूठे कलंक के कारण आत्महत्या की है। उसने संसार से निराश होकर अपनी पराजय को स्वीकार करते हुए ही ऐसा कदम उठाया होगा क्योंकि आत्महत्या पराजय को स्वीकार करना ही है। लेखिका के अनुसार 'बिबिया तो विद्रोह की कभी राख न होने वाली ज्वाला थी। संसार ने उसे अकारण अपमानित किया और वह उसे युद्ध की चुनौती न देकर भाग खड़ी हुई, यह कल्पना-मात्र उसके आत्मघाती संकल्प को, बरसने से पहले आँधी में फँसे हुए बादल के समान कहीं-न-कहीं पहुँचा सकती थी। पर संघर्ष के लिए उसके अभी अस्त्र टूट चुके थे। मूर्च्छितावस्था में पहाड़-सा अडिग साहसी भी कायरता की उपाधि बिना पाए हुए ही संघर्ष से हट सकता है।'

बिबिया : प्रतिपाद्य

इस पुरुष प्रधान समाज में नारी की स्वतंत्रता का प्रश्न सदियों से चला आ रहा है। पुरुष अपने अहंकार के कारण स्वयं को पराजित होते हुए नहीं देख सकता इसीलिए वह नारी पर अत्याचार कर उन्हें अपने आधीन कर अपनी शक्ति का परिचय देना चाहता है। बिबिया जैसी अभिमानी और मेहनती लड़की जिसके लिए अपनो की सेवा ही उसका धर्म है, वह भी इस पुरुष सत्तात्मक समाज की खोखली अहंवृत्ति के कारण आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो उठती है। नारी की विवशता यह है कि हर मोड़ पर पुरुष ही उसके जीवन की दिशा तय करता है। पिता हो, भाई हो या पति—कोई भी उसकी विवशता और पीड़ा को समझने का प्रयास नहीं करता। इसीलिए उसकी इच्छा के बिना उसका विवाह अधेड़ उम्र के व्यक्ति के साथ कर दिया जाता है। उसके चरित्र की सत्यता को जानने की इच्छा किसी में नहीं है, बस समाज उस पर अपना निर्णय थोप देता है। बिबिया भी जहाँ भाग्य के हाथों छली गई वहीं पुरुष समाज के भाग्य से कहीं अधिक

उसके जीवन को छलने का षड्यंत्र किया। जिसके परिणामस्वरूप उसे अपने चरित्र पर लगे लांछनों को धोने के लिए यमुना नदी में अपने को समर्पित करना पड़ा।

लेखिका इस संस्मरणात्मक रेखाचित्र के द्वारा पुरुष-सत्तात्मक समाज की रूढ़ परम्पराओं पर प्रहार करती है। समाज के इस कटु यथार्थ का साक्षात् करते हुए वह सामाजिक रूढ़ियों की खोखली और वीभत्स सच्चाई को नग्न रूप में प्रस्तुत करती हैं। नारी ने सदियों से अपने को परिवार और समाज के प्रति समर्पित किया किन्तु परिवार और समाज ने उसकी इस महानता को निकृष्ट समझकर उसे आज भी प्रताड़ना का शिकार बना रखा है। बिबिया के माध्यम से ही सही, लेकिन महादेवी वर्मा ने समस्त उपेक्षित नारी जाति की यथार्थ अभिव्यक्ति को इस रेखाचित्र के द्वारा चित्रित किया है।

बिबिया : भाषा-शैली

बिबिया रेखाचित्र की भाषा **तत्सम प्रधान** है। लेखिका ने इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों को अधिक स्थान दिया है। कवयित्री होने और वह भी छायावाद की कवयित्री होने के कारण इनका यह रेखाचित्र काव्यात्मक बन पड़ा है। एक ओर तो इनकी तत्सम बहुल भाषा का प्रयोग लगातार प्रवाहित होता रहता है वहीं बीच-बीच में देशज भाषा का प्रयोग इसकी प्रासंगिकता को और बढ़ा देता है। 'अस मिठात है तुम्हारे हाथन की चीज कि अब का बताई! टबकी हम तुम्हार धोतिया बगुला के पंख अस उज्जर कर लाउबा' तथा 'एक तो भच्छ लिहिन अब दूसर के घर आई है, सत्ती छीता बनै खातिर-धन भाग-परनाम पाँलोगी।'—जैसे वाक्यों ने ग्राम्य परिवेश के यथार्थ परिवेश की सर्जना की है। ग्रामीण परिवेश में 'सन्न रह जाना', 'आव देखना न ताव', 'हुक्का पानी बंद होना', 'पलीते में आग लगाना' आदि जैसे **मुहावरों का यथास्थान प्रयोग** इस रेखाचित्र को अधिक प्रभावशाली बना देता है।

महादेवी वर्मा की भाषा की एक विशेषता यह है कि वे सामाजिक यथार्थ पर अपने पैसे व्यंग्य प्रहारों के लिए लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्ति का सहारा लेने में पारंगत हैं। विशेषकर व्यंजनात्मक शैली ने तात्कालिक ही नहीं बल्कि वर्तमान समाज में जड़-परम्पराओं की विसंगतता पर जो प्रहार किया है वह अतुलनीय है। अपनी गम्भीर शैली में भी महादेवी वर्मा ने इस रेखाचित्र को सार्थक शब्द चयन से अलंकृत किया है। ऐसी चित्रोपम भाषा के कारण ही बिबिया 'रेखाचित्र' विधा के निकट है। महादेवी की स्मृतियों में समाज के इन नारी पात्रों के प्रति करुणा का जो भाव है उन्हें अपने शब्द-चित्रों द्वारा यथार्थ रूप देने के कारण महादेवी के अधिकांश रेखाचित्र केवल रेखाचित्र न रहकर संस्मरणात्मक रेखाचित्र बन जाते हैं।

'बिबिया' रेखाचित्र से सम्बन्धित प्रश्न

(क) अनुच्छेद-विश्लेषण

निम्नलिखित अनुच्छेद के आधार पर दिए गए प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

अनुच्छेद : दमड़ी की माँ तब से मेरे कपड़े धोती आ रही है, जब मैं विद्यार्थिनी थी। उसके कई बच्चे मर चुके थे, इसी से अपने दुर्ग्रह को धोखा देने के लिए उसने लड़के को जन्म लेते ही सूप में रखकर एक पड़ोसिन के हाथ एक दमड़ी में बेच दिया। छठी के दिन पाँच दमड़ी में खरीदा गया और इस क्रय-विक्रय को चिरस्मरणीय बनाने के लिए उसकी माँ ने

पुत्र का नाम दमड़ीलाल रख दिया। अब इसे चाहे ब्रह्मा की भ्रान्ति कहिए, चाहे दमड़ी की शक्ति, पर यह सत्य है कि वह मृत्यु की घाटी पार कर आया। दमड़ी अब बड़ा हो गया है- ब्याह गौना भी हो चुका है, पर वह लड़कपन से बाज नहीं आता। मेरे आँगन में तनकर बैठता है और चौके में काम करती हुई भक्तिन को पुकारकर कहता है- 'भगतिन अम्मा, हमहूँ चाय पीये जानित है- मौसीजी के खातिर बनाई होय तो तनिक सी हमहूँ का मिल जाय।'

(1) दमड़ी की माँ ने दमड़ीलाल को अपनी पड़ोसिन को एक दमड़ी में किस लिए बेच दिया था?

उत्तर: दमड़ी की माँ के कई बच्चे मर चुके थे जिसके लिए वह अपने बुरे भाग्य को दोषी मानती थी और इसी बुरे भाग्य को धोखा देने के लिए परम्परागत रूढ़ि के अनुसार पुत्र जन्म के साथ ही उसे सूप में रखकर एक पड़ोसिन को बेच दिया।

(2) दमड़ी का नाम दमड़ीलाल कैसे पड़ा?

उत्तर: दमड़ी की माँ ने बुरे भाग्य से बचने के लिए अपने पुत्र को सूप में रखकर एक पड़ोसिन को बेच दिया और छठी के दिन फिर उसे पाँच दमड़ी में खरीद लिया। इस बेचने और खरीदने को हमेशा के लिए याद रखने के लिए ही उसने अपने बच्चे का नाम दमड़ीलाल रख दिया।

(ख) आशय स्पष्ट करें (लगभग 50-100 शब्दों तक)

(1) शराबी होश में आने पर मनुष्य बन जाता है, पर जुआरी कभी होश में आता ही नहीं, अतः उसके सम्बन्ध में मनुष्य बनने का प्रश्न उठता ही नहीं।

आशय: शराब पीकर व्यक्ति को किसी भी प्रकार का होश नहीं रहता और वह शराब के नशे में न जाने क्या कह और कर जाता है लेकिन जब उसे होश आता है तब उसका नशा पूरी तरह से उतर चुका होता है और वह सामान्य मनुष्य की तरह होता है। इसलिए उसे अपने किए पर अक्सर पश्चाताप भी होता है। लेकिन जुआ खेलने वाला व्यक्ति विजय और पराजय के मद में होश में रहकर भी होश में नहीं होता। जुआ खेलने के बाद यदि वह जीत जाता है तो उसकी विजय का नशा उस पर छा जाता है और वह और अधिक खेलने का प्रयास करता है लेकिन यदि वह हार जाता है तो उसकी पराजय का गम उस पर छा जाता है जिसके कारण वह फिर से अपनी पराजय को विजय में बदलने के लिए खेलता है। उसे समझाने पर भी वह समझता नहीं है। इसीलिए वह जुआरी ही बना रह जाता है। उसकी विजय या पराजय उसे मनुष्य नहीं बनने देती।

(2) चरित्रहीन व्यक्ति दूसरों पर जितना संदेह करता है, उतना सच्चरित्र नहीं।

आशय: संसार में सामान्यतः देखा जाता है कि जो व्यक्ति स्वयं अच्छे चरित्र का नहीं होता वह दूसरों के चरित्र को अच्छा नहीं मानता और उन पर संदेह करता है। जिसका स्वयं का

मन ही मैला हो उसे तो सभी में अपनी ही छवि दिखाई देगी। लेकिन जिस व्यक्ति का चरित्र अच्छा होता है उसका मन साफ होता है इसलिए वह दूसरों के चरित्र पर आसानी से संदेह नहीं करता या उन्हें गलत नहीं ठहराता।

(ग) लघूत्तरीय प्रश्न (लगभग 50 - 100 शब्दों तक)

प्रश्न 1. दमड़ी का नाम दमड़ी कैसे पड़ा?

उत्तर : धोबिन लेखिका के यहाँ विद्यार्थी काल से ही उसके कपड़े धो रही थी। यह धोबिन का दुर्भाग्य ही था कि उसके कई बच्चे जन्म के बाद से ही जीवित नहीं रह पाते थे। इस कारण उसने दमड़ी को जन्म के बाद एक दमड़ी में अपनी पड़ोसिन को बेच दिया था और छठी के दिन उसे पाँच में खरीद लिया था। यह विधाता की ही कृपा थी कि धोबिन का यह बच्चा बच गया। दमड़ी में बेचने-खरीदने के कारण ही उसका नाम 'दमड़ीलाल' रख दिया।

प्रश्न 2. बिबिया को अपने पति पर चिमटा क्यों फेंकना पड़ा?

उत्तर: शादी की पहली ही रात बिबिया का पति रमई जब शराब पीकर घर आया और उसने आते ही बिबिया को घृणास्पद बातें कहीं। तब बिबिया पति से मिले अपमान के कारण अपना आपा खो बैठी और उसने अपने पति को चुल्लू भर पानी में डूब मरने को कहा। इस पर रमई ने स्वयं को अपमानित महसूस किया और तुरन्त बिबिया से कहा कि एक को तो तूने खा लिया और अब सती-सीता बनने के लिए दूसरे के घर आई है। इस बात को सुनकर क्रोध में बिबिया ने रमई पर चिमटा फेंक कर मारा।

(घ) पंक्तियों के आधार पर संदर्भित प्रश्न

प्रश्न 1. शराब के अतिरिक्त उसे जुए का शौक था, जो शराब की लत से भी बुरा है।

(क) ये पंक्तियाँ किसके बारे में कही गई हैं?

उत्तर : ये पंक्तियाँ बिबिया के पति रमई के बारे में कही गई हैं।

(ख) बिबिया के जीवन से इनका सम्बन्ध बताइए।

उत्तर : इस पंक्ति का सम्बन्ध बिबिया से इसलिए है कि झनकू को उसके मित्र करीम मियाँ ने जुए की लत के चलते यह कहा था कि तुम तो अच्छी छोकरी हथिया लाए हो, उसी को दाँव पर क्यों नहीं लगा रखते। यह बात जानने के बाद बिबिया ने करीम को सब्जी काटने वाला चाकू दिखाकर कहा कि अगर रमई ने ऐसी हरकत की तो वह उन दोनों के पेट में इस चाकू को घोंप देगी।

प्रश्न 2. अब तक जिस पत्नी के लिए उसने रत्ती-भर चिन्ता का कष्ट नहीं उठाया, उसी की पहरेदारी का पहाड़ सा भार वह सुख से ढोने लगा।

(क) ये पंक्तियाँ कब कही गई हैं और क्यों?

उत्तर : झनकू का बड़ा युवा बेटा भीखन जो अपनी ननसाल चला गया था, उसे जब पता चला कि पिता उसके लिए सौतेली माँ ले आए हैं तो वह घर लौट आया। झनकू को अपने युवा पुत्र के आने से अपनी पत्नी की चिन्ता सताने लगी। जिसे पहले पत्नी की चिन्ता तक नहीं थी अब वह समय पर घर लौट आता और पुत्र पर कड़ी नजर रखता। उसका स्वयं का चरित्र अच्छा नहीं था इसलिए उसे लगता था कि कहीं बिबिया उसके युवा बेटे के प्रति आकर्षित न हो जाए इसीलिए वह उसकी पहरेदारी करने लगा।

(ख) इन पंक्तियों का झनकू के व्यक्तित्व से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर: झनकू का व्यक्तित्व एक चरित्रहीन पुरुष का चरित्र है। वह स्वयं अपने से नीची जाति की लडकी से प्रेम करता था किन्तु सजातीय न होने के कारण उससे विवाह नहीं कर पा रहा था। इसीलिए अपने बच्चों की देखभाल के लिए उसने सजातीय बिबिया से विवाह किया किन्तु अपने युवा पुत्र के आने के कारण उसे भय होने लगा कि कहीं बिबिया उसके पुत्र के प्रति आकर्षित न हो जाए इसलिए वह उसकी पहरेदारी करने लगा। झनकू चूँकि स्वयं चरित्रहीन प्रवृत्ति का था इसलिए उसे सभी अपने ही समान चरित्रहीन लगते थे। इसीलिए अपनी युवा पत्नी के प्रति उसका शक उसे उसकी पहरेदारी के लिए मजबूर करता है।

(ङ) भाषा और व्याकरण सम्बन्धी प्रश्न

प्रश्न 1. निम्नलिखित शब्दों के पर्यायवाची लिखें।

उत्तर : दोष-गलती

निश्चित-तय किया हुआ

क्रय-खरीदना

स्मरण-स्मृति, किसी बात की याद

विषम-असमान, भयंकर

प्रश्न 2. निम्नलिखित शब्दों के विलोम लिखें।

उत्तर : दोष-गुण

विषम-सम

प्रशंसा-निंदा

मृत्यु-जीवन

प्रश्न 3. निम्नलिखित शब्दों में से उपसर्ग-प्रत्यय लगाकर नए शब्द बनायें।

उत्तर : नगर + इक (प्रत्यय) = नागरिक

अ (उपसर्ग) + क्षम्य = अक्षम्य

सौकुमार्य + ता (प्रत्यय) = सुकुमारता

अभ्यास के लिए प्रश्न

(क) आशय स्पष्ट करें

1. अभिमानी व्यक्ति अवज्ञा के साथ मिले हुए अधिक स्नेह का तिरस्कार करके वीतरागता के साथ आदर-भाव को स्वीकार कर लेता है।
2. वहाँ कोई छोटा से छोटा काम करने वाला भी इतना अभाग्य नहीं होता कि बड़े काम करने वालों से ऐसा पारिवारिक सम्बन्धन न पा सके।
3. झनकू को पति का कर्तव्य सिखाने के लिए कभी एक पंच-देवता भी आविर्भूत नहीं हुए, पर बिबिया को कर्तव्यच्युत होने का दंड देने के लिए पंचायत बैठी।
4. संसार से बिबिया के अन्तर्धान होने का जो कारण खोज लिया, वह संसार के अनुरूप ही है, पर मैं उसके निष्कर्ष मानने के लिए बाध्य नहीं।

(ख) लघुत्तरीय प्रश्न

1. अभिमानी व्यक्ति अवज्ञा के साथ मिले हुए अधिक स्नेह का तिरस्कार करके वीतरागता के साथ आदर-भाव को स्वीकार कर लेता है।
2. बिबिया का स्वभाव कैसा था?
3. बिबिया का कितनी बार और किन-किन लोगों के साथ विवाह हुआ?
4. मायके में बिबिया के प्रति लोगों का व्यवहार कैसा था?
5. अचानक बिबिया के गायब हो जाने से क्या अपवाद फैला?

(ग) पंक्तियों के आधार पर संदर्भित प्रश्न

1. विमाता के इस अभूतपूर्व व्यवहार से पुत्र लज्जित न होकर क्रुद्ध हो उठा। इस प्रकार के पुरुषों को अपनी नारी सम्मोहिनी विद्या का बड़ा गर्व रहता है। किसी स्त्री पर उस विद्या का प्रभाव न देखकर उनके दम्भ को ऐसा आघात पहुँचता है कि वे कठोर प्रतिशोध लेने में भी नहीं हिचकते।
(अ) भीखन को अपने व्यवहार पर लज्जित क्यों होना चाहिए था?
(ब) भीखन ने बिबिया के व्यवहार का प्रतिशोध कैसे लिया?
(स) भीखन के दुष्टतापूर्ण व्यवहार का बिबिया ने क्या उत्तर दिया?

(घ) भाषा-व्याकरण सम्बन्धी प्रश्न

1. पर्याय बतायें।

विषाद, आलस्य, प्रयत्न।

2. विलोम बतायें।

गत, अनेक, प्रश्न, निश्चित

3. उपसर्ग/प्रत्यय छांटिए।

अनास्था, अपव्यय, विमाता, सुकुमारता, अपमान।